श्रीमद्देवनन्द्यपरनाम-पूज्यपादाचार्य-विरचित

समाधितंत्र और इष्टोपदेश

टीकाद्वय-संयुक्त

[आ० प्रभाचन्द्र और पं० आशाधर की संस्कृत टीका तथा
हिन्दी टीका से अलंकृत]

सम्पादक :
जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

अनुवादक :
परमानन्द शास्त्री

प्रकाशक :
वीर-सेवा-मन्दिर सोसाइटी
२१, दरियागंज, दिल्ली।

तृतीय संस्करण
१००० प्रति

वीर सं २४९२, वि० सं० २०२२
अक्टूबर १९६५

मूल्य ४)

प्रकाशक—
वीर-सेवा-मन्दिर सोसाइटी
२१, दरियागंज, दिल्ली-६

[तृतीय संस्करण]

मुद्रक—
रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस
दरियागंज, दिल्ली।

प्रकाशकीय

लगभग पच्चीस वर्ष हुए 'समाधितंत्र' को वीरसेवा-मन्दिर-ग्रन्थमाला के प्रथम ग्रन्थरूप में संस्कृत और हिन्दी टीका के साथ प्रकाशित किया गया था। यह ग्रन्थ सबको रुचिकर तथा प्रिय रहा, और इसके उस संस्करणकी सब कापियां अर्सा हुआ समाप्त हो चुकी हैं। बहुत समयसे इस ग्रन्थकी माँग चल रही थी और यह भी इच्छा व्यक्त की जा रही थी कि इसके साथमें पूज्यपादाचार्यका दूसरा ग्रन्थ 'इष्टोपदेश' भी रहना चाहिये, जो इसके समकक्ष ही महत्वपूर्ण है। तदनुसार पं० परमानन्दजी शास्त्रीने उसकी भी हिन्दी टीका प्रस्तुत की और पं० आशाधरजीकी एक संस्कृत टीकाकी भी साथमें योजना की गई। इस तरह एक ही माननीय आचार्य के दो अध्यात्म ग्रन्थोंका संस्कृत-हिन्दी टीकाओंके साथ यह अच्छा संग्रह हो गया। इस बार ग्रन्थके आकारमें कुछ परिवर्तन किया गया है और उसे अधिक लोकरुचिके अनुसार कुछ छोटा किया गया है। साथ ही मूल के साथ संस्कृत-टीका विभाग अलग और हिन्दी-टीका-विभागको अलग कर दिया है, यह द्वितीय संस्करण भी समाप्त हो गया। ग्राहकों की अत्यधिक मांग के कारण अशुद्धियों का परिमार्जन कर यह तीसरा संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है। इष्टोपदेश की संस्कृत टीका का संशोधन पं० **दीपचन्दजी** पाण्डया केकड़ी ने किया है। इसके लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं। पं० परमानन्द शास्त्री ने इस संस्करण को शुद्ध और सुन्दर बनाने का पूरा प्रयत्न किया है। इसके लिये वे भी धन्यवाद के पात्र हैं। आशा है यह संस्करण पाठकोंको विशेष रुचिकर होगा और सभी सज्जन इससे यथेष्ट लाभ उठाएंगे।

दरियागंज, दिल्ली
आश्विन् शुक्ला १४, सं० २०२२

प्रेमचन्द जैन
सं० मंत्री वीर सेवामन्दिर

पूज्यपाद-स्मरण

कवीनां तीर्थकृद्देवः कितरां तत्र वर्ण्यते ।
विदुषां वाङ्मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोपमम् ॥

अचिन्त्य-महिमा देवः सोऽभिवन्द्यो हितैषिणः ।
शब्दाश्च येन सिद्ध्यन्ति साधुत्वं प्रतिलम्भितः ॥

पूज्यपादः सदा पूज्यपादः पूज्यैः पुनातु माम् ।
व्याकरणार्णवो येन तीर्णो विस्तीर्णः सद्गुणः ॥

अपाकुर्वन्तिय यद्वाचः काय-वाक् चित्त संभवम् ।
कलङ्कमङ्गिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते ॥

प्रस्तावना

श्रीपूज्यपाद और उनकी रचनाएँ

जैनसमाजमें 'पूज्यपाद' नाम के एक सुप्रसिद्ध आचार्य विक्रमकी छठी (ईसा की पाँचवीं) शताब्दीमें हो गये हैं, जिनका पहला अथवा दीक्षानाम 'देवनन्दी' था और जो बाद को 'जिनेन्द्रबुद्धि' नामसे भी लोकमें प्रसिद्धिको प्राप्त हुए हैं। आपके इन नामों का परिचय अनेक शिलालेखों तथा ग्रन्थों आदि परसे भले प्रकार उपलब्ध होता है। नीचेके कुछ अवतरण इसके लिए पर्याप्त हैं :—

यो देवनन्दिप्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः।
श्रीपूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम्॥

—श्रवणबेल्गोल शि० नं० ४० (६४)

प्रागभ्यधायि गुरुणा किल देवनन्दी,
बुद्ध्या पुनर्विपुलया स जिनेन्द्रबुद्धिः।
श्रीपूज्यपाद इति चैव बुधैः प्रचख्ये,
यत्पूजितः पदयुगे वनदेवताभिः॥

—श्र० शि० नं० १०५ (२५४)

श्रवणबेल्गोलके इन दोनों शिला-वाक्यों परसे, जिनका लेखनकाल क्रमशः शक सं० १०८५ व १३२० है यह साफ जाना जाता है कि आचार्यमहोदयका प्राथमिक नाम 'देवनन्दी' था, जिसे उनके गुरुने रक्खा था और इसलिए वह उनका दीक्षनाम है, 'जिनेद्रबुद्धि' नाम बुद्धिकी प्रकर्षकता एवं विपुलताके कारण उन्हें बादको प्राप्त हुआ था; और जबसे उनके चरण-युगल देवताओंसे पूजे गये थे तबसे वे बुधजनों द्वारा 'पूज्यपाद' नामसे विभूषित हुए हैं।

श्रीपूज्यपादोद्धृतधर्मराज्यस्ततः सुराधीश्वरपूज्यपादः ।
यदीयवैदुष्यगुणानिदानीं वदन्ति शास्त्राणि तदुद्धृतानि ।।
धृतविश्वबुद्धिरयमत्र योगिभिः कृतकृत्यभावमनुबिभ्रदुच्चकैः ।
जिनवद्बभूव यदनङ्गचापहृत्स जिनेन्द्रबुद्धिरिति साधुवर्णितः ।।
—श्र० शि० नं० १०८ (२५८)

शक सम्वत् १३५५ में उत्कीर्ण हुए इन शिलावाक्यों से स्पष्ट है कि श्री पूज्यपाद ने धर्मराज्यका उद्धार किया था—लोकमें धर्मकी पुनः प्रतिष्ठा की थी—इसीसे आप देवताओंके अधिपति-द्वारा पूजे गये और 'पूज्यपाद' कहलाए—आपके विद्याविशिष्ट गुणों को आज भी आपके द्वारा उद्धार पाये हुए—रचे हुए—शास्त्र बतला रहे हैं—उनका खुला गान कर रहे हैं। आप जिनेन्द्रकी तरह विश्वबुद्धि के धारक—समस्त शास्त्र-विषयोंके पारंगत—थे और कामदेवको जीतनेवाले थे, इसीसे आपमें ऊँचे दर्जेके कृतकृत्य-भावको धारण करनेवाले योगियोंने आपको ठीक ही जिनेन्द्रबुद्धि' कहा है।' इसी शिलालेखमें पूज्यपाद-विषयक एक वाक्य और भी पाया जाता है, जो इस प्रकार है :—

श्रीपूज्यपादमुनिरप्रतिमौषधर्द्धिर्जीयाद्विदेहजिनदर्शनपूतगात्रः ।
यत्पादधौतजलसंस्पर्शप्रभावात् कालायसं किल तदा कनकीचकार ।।

इसमें पूज्यपाद मुनिका जयघोष करते हुए उन्हें अद्वितीय औषध-ऋद्धिके धारक बतलाया है। साथ ही, यह भी प्रकट किया है कि विदेहक्षेत्र-स्थित जिनेन्द्र-भगवान्के दर्शनसे उनका गात्र पवित्र हो गया था और उनके चरण-धोए जलके स्पर्शसे एक समय लोहा भी सोना बन गया था।

इस तरह आपके इन पवित्र नामोंके साथ कितना ही इतिहास लगा हुआ है और वह सब आपकी महती कीर्ति, अपार विद्वत्ता एवं सातिशय प्रतिष्ठाका द्योतक है। इसमें सन्देह नहीं कि श्रीपूज्यपाद स्वामी एक बहुत ही प्रतिभाशाली आचार्य माननीय विद्वान्, युगप्रधान और अच्छे योगीन्द्र हुए हैं। आपके उपलब्ध ग्रन्थ निश्चय ही आपकी असाधारण योग्यता के जीते-जागते प्रमाण हैं। भट्टाकलंकदेव और श्रीविद्यानन्द—जैसे बड़े-बड़े प्रतिष्ठित आचार्यों ने अपने राजवार्तिकादि ग्रन्थों में आपके वाक्यों का—सर्वार्थसिद्धि आदि के पदों का—खुला

अनुसरण करते हुए बड़ी श्रद्धाके साथ उन्हें स्थान ही नहीं दिया बल्कि अपने ग्रन्थों का अंग तक बनाया है।

जैनेन्द्र-व्याकरण

शब्द-शास्त्रमें आप बहुत ही निष्णात थे। आपका 'जैनेन्द्र' व्याकरण लोकमें अच्छी ख्याति एवं प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका है—निपुण वैयाकरणोंकी दृष्टिमें सूत्रों के लाघवादि के कारण उसका बड़ा ही महत्त्व है और इसीसे भारतके आठ प्रमुख शाब्दिकोंमें आपकी भी गणना है*। कितने ही विद्वानोंने किसी आचार्यादिकी प्रशंसामें उसके व्याकरण शास्त्रकी निपुणताको आपकी उपमा दी है; जैसा कि श्रवणबेल्गोलके निम्न दो शिलावाक्यों से प्रकट है :—

'सर्वव्याकरणे विपश्चिदधिपः श्रीपूज्यपादः स्वयम्।'

—शि० नं० ४७, ५०

जैनेन्द्रपूज्यपादः।'

—शि० नं० ५५

पहला वाक्य मेघचन्द्र त्रैविद्यदेवकी और दूसरा जिनचन्द्राचार्यकी प्रशंसामें कहा गया है। पहलेमें, मेघचन्द्रको व्याकरण-विषयमें स्वयं 'पूज्यपाद' बतलाते हुए पूज्यपाद को 'अखिल-व्याकरण-पण्डितशिरोमणी' सूचित किया है और दूसरे में जिनचन्द्र के 'जैनेन्द्र' व्याकरण-विषयक ज्ञानको स्वयं पूज्यपादका ज्ञान बतलाया है, और इस तरह 'जैनेन्द्र' व्याकरणके अभ्यासमें उसकी दक्षताको घोषित किया है।

पूज्यपादके इस व्याकरणशास्त्रकी प्रशंसामें अथवा इस व्याकरणको लेकर पूज्यपादकी प्रशंसामें विद्वानों के ढेरके ढेर वाक्य पाये जाते हैं। नमूनेके तौर पर यहाँ उनमेंसे दो-चार वाक्य उद्धृत किये जाते हैं :—

कवीनां तीर्थकृद्देवः किंतरां तत्र वर्ण्यते।
विदुषां वाङ्मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम्॥

—आदिपुराणे, जिनसेनः।

---

* इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नपिशलीशाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ च शाब्दिकाः॥ —धातुपाठः।

पूज्यपादः सदा पूज्यपादः पूज्यैः पुनातु माम् ।
व्याकरणार्णवो येन तीर्णो विस्तीर्णसद्गुणः ।।

—पाण्डवपुराणे, शुभचन्द्रः ।

शब्दाब्धीन्दुं पूज्यपादं च वन्दे ।

—नियमसारटीकायां, पद्मप्रभः ।

प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम् ।
द्विसन्धानकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम् ।।

—नाममालायां, धनञ्जयः ।

नमः श्रीपूज्यपादाय लक्षणं यदुपक्रमम् ।
यदेवात्र तदन्यत्र यन्नात्रास्ति न तत्क्वचित् ।।

—जैनेन्द्रप्रक्रियायां, गुणनन्दी ।

अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक्चित्तसंभवम् ।
कलंकमंगिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते ।।

—ज्ञानार्णवे, शुभचन्द्रः ।

इनमेंसे प्रथम वाक्य में पूज्यपादका 'देव' नामसे उल्लेख किया गया है, जो कि आपके 'देवनन्दी' नामका संक्षिप्त रूप है। इसमें श्रीजिनसेनाचार्य लिखते हैं 'जिनका वाङ्मय—शब्दशास्त्ररूपी व्याकरणतीर्थ—विद्वज्जनोंके वचनमलको नष्ट करनेवाला है वे देवनन्दी कवियोंके तीर्थङ्कर हैं, उनके विषयमें और अधिक क्या कहा जाय? दूसरे वाक्यमें, शुभचन्द्र भट्टारकने, पूज्यपादको पूज्योंके द्वारा भी पूज्यपाद तथा विस्तृत सद्गुणोंके धारक प्रकट करते हुये उन्हें व्याकरण समुद्रको तिरजानेवाले लिखा है और साथ ही यह प्रार्थना की है कि वे मुझे पवित्र करें। तीसरेमें मलधारी पद्मप्रभदेवने पूज्यपादको 'शब्दसागर का चन्द्रमा' बतलाते हुए उनकी बन्दना की है। चौथेमें, पूज्यपाद के लक्षण (व्याकरण) शास्त्रको अपूर्व रत्न बतलाया गया है। पाँचवेमें पूज्यपादको नमस्कार करते हुए उनके लक्षण-शास्त्र (जैनेन्द्र) के विषयमें यह घोषणा की गई है कि जो बात इस व्याकरणमें है वह तो दूसरे व्याकरणोंमें पाई जाती है परन्तु जो इसमें नहीं है वह अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होती, और इस तरह आपके 'जैनेन्द्र' व्याकरणको सर्वाङ्ग-

पूर्ण बतलाया गया है। अब रहा छठा वाक्य, उसमें श्रीशुभचन्द्राचार्यने लिखा है कि 'जिनके वचन प्राणियोंके काय, वाक्य और मन-सम्बन्धी दोषोंको दूर कर देते हैं उन देवनन्दी को नमस्कार है।' इसमें पूज्यपादके अनेक ग्रन्थोंका उल्लेख संनिहित है—वाग्दोषोंको दूर करने वाला तो आपका वही प्रसिद्ध 'जैनेन्द्र व्याकरण है, जिसे जिनसेनने भी 'विदुषां वाङ्मलध्वंसि' लिखा है, और जिसके कई संस्करण अपनी जुदी-जुदी वृत्तियों सहित प्रकाशित हो चुके हैं। चित्तदोषोंको दूर करने वाला आपका मुख्य ग्रन्थ 'समाधितन्त्र' है, जिसे 'समाधिशतक' भी कहते हैं, और जिसका कुछ विशेष परिचय इस प्रस्तावनामें आगे दिया जायगा। रहा कायदोषको दूर करनेवाला ग्रन्थ, वह कोई वैद्यकशास्त्र होना चाहिए, जो इस समय अनुपलब्ध है❀।

वैद्यक शास्त्र :

विक्रमकी १५वीं शताब्दीके विद्वान् कवि मंगराजने कन्नड़ी भाषामें 'खगेन्द्र-मणिदर्पण' नामका एक चिकित्साग्रन्थ लिखा है और उसमें पूज्यपादके वैद्यक-ग्रन्थका भी आधाररूपसे उल्लेख किया है, जिससे मंगराजके समय तक उस वैद्यकग्रन्थके अस्तित्वका पता चलता है; परन्तु सुहृद्वर पं० नाथूरामजी प्रेमी उसे किसी दूसरे ही पूज्यपादका ग्रन्थ बतलाते हैं और इस नतीजे तक पहुँचे हैं कि 'जैनेन्द्र' के कर्ता पूज्यपादने वैद्यकका कोई शास्त्र बनाया ही नहीं—यों ही उनके नाम मँढा है; जैसा कि उनके 'जैनेन्द्रव्याकरण और आचार्य 'देवनन्दी' नामक लेखके निम्न वाक्यसे प्रकट होता है :—

'इस (खगेन्द्रमणिदर्पण) में वह (मंगराज) अपने आपको पूज्यपादका

❀ पूज्यपादकी कृतिरूपसे 'वैद्यसार' नामक जो ग्रन्थ 'जैन-सिद्धान्तभास्कर' (त्रैमासिक) में प्रकाशित हुआ है वह इन श्री पूज्यपादाचार्यकी रचना नहीं है। हो सकता है कि यह मंगलाचरणादिविहीन ग्रन्थ पूज्यपाद के किसी ग्रन्थ परसे ही कुछ सार लेकर लिखा गया हो; परन्तु स्वयं पूज्यपादकृत नहीं है। और यह बात ग्रन्थके साहित्य, रचनाशैली और जगह-जगह नुसखोंके अन्त में 'पूज्यपादेन भाषितः-निर्मितः' जैसे शब्दोंके प्रयोगसे भी जानी जाती है।'

शिष्य बतलाता है और यह भी लिखता है कि यह ग्रन्थ पूज्यपादके वैद्यक-ग्रंथसे संगृहीत है। इससे मालूम होता है कि पूज्यपाद नामके एक विद्वान् विक्रमकी तेरहवीं (१४वीं ?) शताब्दीमें भी हो गये हैं और लोग भ्रमवश उन्हींके वैद्यकग्रन्थको जैनेन्द्रके कर्ताका ही बनाया हुआ समझ कर उल्लेख कर दिया करते हैं+।'

इस निर्णयमें प्रेमीजीका मुख्य हेतु 'मंगराजका अपनेको पूज्यपादका शिष्य बतलाना है', जो ठीक नहीं है। क्योंकि प्रथम तो ग्रन्थ पदसे यह स्पष्ट नहीं कि मंगराजने उसमें अपनेको किसी दूसरे पूज्यपादका शिष्य बतलाया है—वह तो पूज्यपादके विदेहगमनकी घटना तकका उल्लेख करता है, जिसका सम्बन्ध किसी दूसरे पूज्यपादके साथ नहीं बतलाया जाता है; साथही, अपने इष्ट पूज्यपाद मुनीन्द्रको जिनेन्द्रोक्त सम्पूर्ण सिद्धान्तसागरका पारगामी बतलाता है और अपने को उनके चरणकमलके गन्धगुणों से आनन्दित-चित्त प्रकट करता है; जैसा कि उसके निम्न अन्तिम वाक्योंसे प्रकट है :—

"इदु सकल-प्रादिम-जिनेन्द्रोक्त-सिद्धान्तपयः पयोधिपारगर्अं।पूज्यपाद-मुनीन्द्रचारु—चरणारविंदगन्ध—गुणनंदितमानस— श्रीमदखिलकलागमोत्तुङ्गमंग-बिभुरचितमप्प खगेन्द्रमणिदर्पणदोलु षोडशाधिकारं समाप्तम् ॥"

—(आरा—जैन सि० भ० प्रति)

इससे मंगराजका पूज्यपादके साथ साक्षात् गुरुशिष्यका कोई सम्बन्ध व्यक्त नहीं होता और न यही मालूम होता है कि मंगराजके समयमें कोई दूसरे 'पूज्य-पाद' हुए हैं—यह तो अलंकृत भाषामें एक भक्तका शिष्य—परम्पराके रूपमें उल्लेख जान पड़ता है। शिष्यपरम्पराके रूपमें ऐसे बहुतसे उल्लेख देखनेमें आते हैं। उदाहरणके तौर पर 'नीतिसार' के निम्न प्रशस्तिवाक्यको लीजिए, जिसमें इन्द्रनन्दीने हजार वर्षसे भी अधिक पहलेके आचार्य कुन्दकुन्दस्वामीका अपनेको (विनेय) सूचित किया है :—

+ देखो, 'जैनसाहित्यसंशोधक' भाग १, अङ्क २ पृष्ठ ८३ और 'जैनहितैषी' भाग १५, अङ्क १—२, पृष्ठ ५७।

"—स श्रीमानिन्द्रनन्दी जगति विजयतां भूरिभावानुभावी ।
दैवज्ञः कुन्दकुन्दप्रभुपदविनयः स्वागमाचारचंचुः ॥"

ऐसे वाक्योंमें पदों अथवा चरणोंकी भक्ति आदिका अर्थ शरीरके अङ्गरूपी पैरोंकी पूजादिका नहीं, किन्तु उनके पदोंकी—वाक्योंकी—सेवा—उपासनादिका होता है, जिससे ज्ञानविशेष की प्राप्ति होती है।

दूसरे, यदि यह मान लिया जाय कि मंगराजके साक्षात् गुरु दूसरे पूज्यपाद थे और उन्होंने वैद्यकका कोई ग्रन्थ भी बनाया है, तो भी उससे यह लाज़िमी नतीजा नहीं निकाला जा सकता कि उन्हींके उस वैद्यकग्रंथके भ्रममें पड़कर लोग 'जैनेन्द्र' के कर्ता पूज्यपादको वैद्यकशास्त्रका कर्ता कहने लगे हैं। क्योंकि ऐसी हालतमें वह भ्रम मंगराजके उत्तरवर्ती लेखकोंमें ही होना सम्भव था—पूर्ववर्तीमें नहीं। परन्तु पूर्ववर्ती लेखकोंने भी पूज्यपादके वैद्यकग्रन्थका उल्लेख तथा संकेत किया है। संकेतके लिए तो शुभचन्द्राचार्यका उपर्युक्त श्लोकही पर्याप्त है, जिसके विषयमें प्रेमीजीने भी अपने उक्त लेख में यह स्वीकार किया है कि "श्लोकके 'काय' शब्दसे भी यह बात ध्वनित होती है कि पूज्यपादस्वामीका कोई चिकित्सा-ग्रन्थ मंगराज के साक्षात् गुरुकी कृति नहीं हो सकती; क्योंकि उसके संकेतकर्ता शुभचन्द्राचार्य मंगराजके गुरुसे कई शताब्दी पहले हुए हैं। रही पूर्ववर्ती उल्लेख-की बात, उसके लिए उग्रादित्य आचार्यके 'कल्याणकारक' वैद्यग्रन्थका उदाहरण पर्याप्त है, जिसमें पूज्यपादके वैद्यक-ग्रन्थका "पूज्यपादेन भाषित:" जैसे शब्दोंके द्वारा बहुत कुछ उल्लेख किया गया है और एक स्थान पर तो अपने ग्रन्थाधारको व्यक्त करते हुए "शालाक्यं पूज्यपादप्रकटितमधिकं" इस वाक्यके द्वारा पूज्यपादके एक चिकित्सा ग्रन्थका स्पष्ट नाम भी दिया गया है और वह है 'शालाक्य' ग्रंथ, जो कि कर्ण, नेत्र, नासिका, मुख और शिरोरोगकी चिकित्सासे सम्बन्ध रखता है। अतः प्रेमीजीने जो कल्पना की है वह निर्दोष मालूम नहीं होती।

यहां पर मैं इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि चित्रकवि सोमने एक 'कल्याणकारक' वैद्यकग्रन्थ कन्नड़ी भाषा में लिखा है, जो कि मद्य-मांस-मधुके व्यवहारसे वर्जित है और जिसमें अनेक स्थानोंपर गद्य-पद्यरूपसे संस्कृत वाक्यभी उद्धृत किये गये हैं। यह ग्रन्थ पूज्यपादमुनि के 'कल्याणकारकवाहडसिद्धान्तक'

नामक ग्रन्थके आधारपर रचा गया है; जैसाकि उसमें "पूज्यपादमुनिगलु पेल्द कल्याणकारकबाहडसिद्धान्तकदिष्ट" विशेषणसे प्रकट है। इससे पूज्यपादके एक दूसरे वैद्यकग्रन्थका नाम उपलब्ध होता है। मालूम नहीं चित्रकवि सोम कब हुए हैं उनका यह ग्रन्थ आराके जैनसिद्धान्त-भवन में मौजूद है।

इसके सिवाय, सिमोगा ज़िलान्तर्गत 'नगर' ताल्लुकके ४६वें शिलालेखमें, जो कि पद्मावती-मन्दिरके एक पत्थर पर खुदा हुआ है, पूज्यपाद-विषयक जो हक़ीकत दी है वह कुछ कम महत्वकी नहीं है और इसलिए उसे भी यहाँ पर उद्धृत कर देना उचित जान पड़ता है। उसमें जैनेन्द्रकर्ता पूज्यपाद द्वारा 'वैद्यक-शास्त्र' के रचे जानेका बहुत ही स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यथा :—

"न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं सकलबुधनुतं पाणिनीयस्य भूयो—
न्यासं शब्दावतारं मनुजततिहितं वैद्यशास्त्रं च कृत्वा।
यस्तत्त्वार्थस्य टीकां व्यरचयदिह तां भात्यसौ पूज्यपादः-
स्वामी भूपालवंद्यः स्व-पर-हितवचः पूर्णदृग्बोधवृत्तः॥"

शब्दावतार और सर्वार्थसिद्धि :

'नगर' ताल्लुकके उक्त शिलावाक्यमें पूज्यपादके चार ग्रन्थोंका क्रमनिर्देश-पूर्वक उल्लेख किया गया है, जिनमेंसे पहला ग्रन्थ है 'जैनेन्द्र' नामक न्यास (व्याकरण), जिसे सम्पूर्ण बुधजनों से स्तुत लिखा है; दूसरा पाणिनीय व्याकरणके ऊपर लिखा हुआ 'शब्दावतार' नामका न्यास है; तीसरा मानव-समाजके लिए हितरूप 'वैद्यशास्त्र' और चौथा है तत्त्वार्थसूत्रकी टीका 'सर्वार्थसिद्धि'। यह टीका पहले तीन ग्रन्थोंके निर्माणके बाद लिखी गई है ऐसी स्पष्ट सूचना भी इस शिलालेखमें की गई है। साथही, पूज्यपादस्वामीके विषयमें लिखा है कि वे राजासे* वंदनीय थे, स्वपरहितकारी वचनों (ग्रन्थों) के प्रणेता थे और दर्शन-ज्ञान-चारित्रसे परिपूर्ण थे।

इस अवतरणसे पूज्यपादके 'शब्दावतार' नामक एक और अनुपलब्ध ग्रंथका पता चलता है, जो पाणिनीय-व्याकरणका न्यास है और 'जैनेन्द्र' व्याकरणके बाद

* यह गंगराजा 'दुर्विनीत' जान पड़ता है, जिसके पूज्यपाद शिक्षागुरु थे।

लिखा गया है। विक्रमकी १२वीं शताब्दीके विद्वान् कवि वृत्तविलासने भी अपने 'धर्मपरीक्षे' नामक कन्नडी ग्रन्थमें, जो कि अमितगतिकी 'धर्मपरीक्षा' को लेकर लिखा गया है, पाणिनीय-व्याकरणपर, पूज्यपादके एक टीका ग्रन्थका उल्लेख किया है, जो उक्त 'शब्दावतार' नामक न्यास ही जान पड़ता है। साथ ही पूज्य-पादके द्वारा भूरक्षणार्थ (लोकोपकारके लिए) यंत्र-मंत्रादि-विषयक शास्त्रोंके रचे जानेको भी सूचित किया है जिसके 'आदि' शब्दसे वैद्यशास्त्रका भी सहज ही में ग्रहण हो सकता है—और पूज्यपादको 'विश्वविद्याभरण' जैसे महत्त्वपूर्ण विशेषणोंके साथ स्मरण किया है। यथा—

"भरदिं जैनेन्द्रं भासुरं एनल् ओरेदं पाणिणीयक्के टीकुं ब-
रेदं तत्त्वार्थमं टिप्पणदिम् आरपिदं यंत्रमंत्रादिशास्त्रोक्तकरनं।
भूरक्षणार्थं विरचिसि जसमुं तालिददं विश्वविद्याभरणं,
भव्यालियाराधितपदकमलं पूज्यपादं व्रतीन्द्रम् ॥"

पाणिनीयकी काशिका वृत्ति पर 'जिनेन्द्रबुद्धि' का एक न्यास है। पं० नाथू-रामजी प्रेमीने अपने उक्त लेखमें प्रकट किया है कि 'इस न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धिके नामके साथ 'बोधसत्वदेशीयाचार्य' नामकी बौद्ध पदवी लगी हुई है, इससे यह ग्रन्थ बौद्धभिक्षुका बनाया हुआ है। आश्चर्य नहीं जो वृत्तविलास कविको पूज्यपाद के 'जिनेन्दबुद्धि' इस नाम-सम्यक्‌के कारण भ्रम हुआ हो और इसीसे उसने उसे पूज्यपादका समझकर उल्लेख कर दिया हो।' परन्तु ऊपरके शिलालेखमें न्यासका स्पष्ट नाम 'शब्दावतार' दिया है और उसे काशिकावृत्तिका नहीं बल्कि पाणिनीय का न्यास बतलाया है, ऐसी हालतमें जब तक यह सिद्ध न हो कि काशिका पर लिखे हुए न्यासका नाम 'शब्दावतार है और उसके कर्ताके नामके साथ यदि उक्त बौद्ध-विशेषण लगा हुआ है तो वह किसीकी बादकी कृति नहीं है+ तब तक

+ देहलीके नये मन्दिरमें 'काशिका-न्यास' की जो हस्तलिखित प्रति है उसमें उसके कर्ता 'जिनेन्द्रबुद्धि' के नामके साथ 'बोधिसत्वदेशीयाचार्य' नामकी कोई उपाधि लगी हुई नहीं है—ग्रन्थकी संधियोंमें 'इत्याचार्यस्थविरजिनेन्द्रबुद्ध-युपरचितायां न्यास (तथा 'काशिकाविवरणन्यास') 'पंचिकायां' इत्यादि रूपसे उल्लेख पाया जाता है।

धर्मपरीक्षाके कर्ता वृत्तविलासको भ्रमका होना नहीं कहा जा सकता; क्योंकि पूज्यपादस्वामी गंगराजा दुर्विनीतके शिक्षागुरु (Preceptor) थे, जिसका राज्यकाल ई० सन् ४८२ से ५२२ तक पाया जाता है और उन्हें हेब्बुर आदिके अनेक शिलालेखों (ताम्रपत्रादिकों) में 'शब्दावतार' के कर्तारूपसे दुर्विनीत राजाका गुरु उल्लेखित किया है[‡]।

इष्टोपदेश आदि दूसरे ग्रन्थ :

इन सब ग्रन्थोके अतिरिक्त पूज्यपादने और कितने तथा किन-किन ग्रन्थोंकी रचना की है इसका अनुमान लगाना कठिन है—'इष्टोपदेश' और 'सिद्धभक्ति'[†] जैसे प्रकरण-ग्रन्थ तो शिलालेखों आदिमें स्थान पाये बिना ही अपने अस्तित्व एवं महत्त्वको स्वतः ख्यापित कर रहे हैं। 'इष्टोपदेश' ५१ पद्योंका एक छोटासा यथानाम तथागुण से युक्त सुन्दर आध्यात्मिक ग्रन्थ है जो पहले पं० आशाधर जी की संस्कृतटीकाके साथ माणिकचन्द्र-ग्रन्थमालामें प्रकाशित हुआ है और अब हिन्दी टीकाके साथ भी यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है।

'सिद्धभक्ति' ६ पद्योंका एक बड़ा ही महत्वपूर्ण 'गम्भीरार्थक' प्रकरण है इसमें सूत्ररूपसे सिद्धिका, सिद्धिके मार्गका, सिद्धिको प्राप्त होने वाले आत्माका, आत्मविषयक जैनसिद्धान्तका' सिद्धिके क्रमका, सिद्धिको प्राप्त हुए सिद्धान्तोंका

[‡] देखो कुर्गइन्स्क्रिप्शन्स' भू० ३; 'मैसूर एण्ड कुर्ग' जिल्द १, पृ० ३७३ 'कर्णाटकभाषाभूषणम्' भू० पृ० १२; हिस्टरी आफ़ कनडीज लिटरेचर' पृ० २५ और कर्णाटककविरचिते'।

[†] सिद्धभक्ति के साथ श्रुतभक्ति, चरित्रभक्ति, योगिभक्ति, आचार्यभक्ति निर्वाणभक्ति तथा नन्दीश्वरभक्ति नामके संस्कृत प्रकरण भी पूज्यपादके प्रसिद्ध हैं। क्रियाकलापके टीकाकार प्रभाचन्द्रने अपनी सिद्धभक्ति-टीकामें "संस्कृताः सर्वभक्तयः पूज्यपादस्वामीकृतः प्राकृतास्तु कुन्दकुन्दाचार्यकृताः" इस वाक्यके द्वारा उन्हें पूज्यपाद कृत बतलाया है। ये सब भक्तिपाठ "दशभक्ति" आदिमें मुद्रित होकर प्रकाशित हो चुके हैं।

और सिद्धोंके सुखादिका अच्छा स्वरूप बतलाया गया है। 'सिद्धिसोपान'[१] में यह अपने विकासके साथ प्रकाशित हुआ है।

हाँ, लुप्तप्राय ग्रन्थोंमें छन्द और काव्यशास्त्र-विषयक आपके दो ग्रन्थोंका पता और भी श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० ४० के निम्नवाक्यसे चलता है :—

'जैनेन्द्रं निजशब्दभागमतुलं सर्वार्थसिद्धिः परा,
सिद्धान्ते निपुणत्वमुद्धकवितां जैनाभिषेकः स्वकः।
छन्दः सूक्ष्मधियं समाधिशतकं स्वास्थ्यं यदीयं विदा-
माख्यातीह स पूज्यपादमुनिपः पूज्यो मुनीनां गणैः ॥४॥

इस वाक्यमें, ऊँचे दर्जेकी कुछ रचनाओंका उल्लेख करते हुए, बड़े ही अच्छे ढंगसे यह प्रतिपादित किया है कि 'जिनका जैनेन्द्र' शब्दशास्त्रमें अपने अतुलित भागको, सर्वार्थसिद्धि' (तत्त्वार्थटीका) सिद्धान्तमें परमनिपुणताको, 'जैनाभिषेक' ऊँचे दर्जेकी कविताको, 'छन्दशास्त्र' बुद्धिकी सूक्ष्मता (रचनाचातुर्य) को और 'समाधिशतक' जिनकी स्वात्मस्थिति (स्थितिप्रज्ञता) को संसारमें विद्वानों पर प्रकट करता है वे 'पूज्यपाद' मुनीन्द्र मुनियोंके गणोंसे पूजनीय हैं।

'एकान्तखण्डन' ग्रन्थमें लक्ष्मीधरने, श्रीपूज्यपादस्वामीका 'षडदर्शनरहस्य-संवेदन-सम्पादित-निस्सीमपाण्डित्य-मण्डिताः' विशेषणके साथ स्मरण करते हुए, उनके विषयमें एक खास प्रसिद्धिका उल्लेख किया है—अर्थात् यह प्रकट किया है कि उन्होंने नित्यादि सर्वथा एकान्त पक्षकी सिद्धिमें प्रयुक्त हुए साधनोंको दूषित करनेके लिए उन्हें 'विरुद्ध' हेत्वाभास बतलाया है' जबकि सिद्धसेनाचार्यने 'असिद्ध' हेत्वाभास प्रतिपादन करनेमें ही सन्तोष धारण किया है और स्वामी समन्तभद्रने 'असिद्ध-विरुद्ध' दोनों ही रूपसे उन्हें दूषित किया है। साथ ही, इसकी पुष्टिमें निम्न वाक्य 'तदुक्तं' रूपसे दिया है :—

असिद्धं सिद्धसेनस्य विरुद्धं देवनन्दिनः।
द्वयं समन्तभद्रस्य सर्वथैकान्तसाधनमिति ॥

---

१. प्रस्तावना-लेखक-द्वारा लिखी हुई यह ४७ पृष्ठकी 'सिद्धिसोपान' पुस्तक अब अप्राप्य है।

एकांत-साधनको दूषित करनेमें तीन विद्वानोंकी प्रसिद्धिका यह श्लोक सिद्धि-विनिश्चय-टीका और न्याय-विनिश्चय-विवरणमें निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

असिद्धः सिद्धसेनस्य विरुद्धो देवनन्दिनः ।
द्वेधा समंतभद्रस्य हेतुरेकांतसाधने ॥

न्यायविनिश्चय-विवरणमें वादिराजने इसे 'तदुक्तं' पदके साथ दिया है और सिद्धिविनिश्चय-टीकामें अनन्तवीर्यने इस श्लोकको एक बार पांचवें प्रस्तावमें 'यद्वक्ष्यत्यसिद्धः सिद्धसेनस्य' इत्यादि रूपसे उद्धृत किया है, फिर छठे प्रस्तावमें इसे पुनः पूरा दिया है और वहां पर इसके पदोंकी व्याख्या भी की है। इससे यह श्लोक अकलंकदेव जैसे प्राचीन—विक्रमी सातवीं शताब्दीके—महान् आचार्यों तकने पूज्यपादकी ऐसी प्रसिद्धिका उल्लेख किया है तब यह बिल्कुल स्पष्ट है कि पूज्यपाद एक बहुत बड़े तार्किक विद्वान् ही नहीं थे बल्कि उन्होंने स्वतंत्ररूपसे किसी न्याय-शास्त्रकी रचना भी की है, जिसमें नित्यादि-एकान्तवादोंको दूषित ठहराया गया है और जो इस समय अनुपलब्ध है अथवा जिसे हम अपने प्रमाद एवं अनोखी श्रुतभक्ति के वश खो चुके हैं !!

सारसंग्रह :

श्री 'धवल' सिद्धान्तके एक उल्लेखसे यह भी पता चलता है कि पूज्यपादने 'सारसंग्रह' नामका भी कोई ग्रन्थ रचा है, जो नय-प्रमाण-जैसे कथनोंको भी लिए हुए है। आश्चर्य नहीं जो उनके इसी ग्रंथमें न्याय-शास्त्रका विशद विवेचन हो और उसके द्वारा नित्यादि-एकान्तवादियोंको दूषित ठहराया गया हो। नयके लक्षणको लिए हुए उल्लेख इस प्रकार है :—

'तथा सारसंग्रहेऽप्युक्तं पूज्यपादैरनन्तपर्यात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतमपर्यायाधिगमे कर्त्तव्ये जात्यहेत्वपेक्षो निरवद्यप्रयोगो नय इति ।'

—'वेदना' खण्ड ४

ऊपरके सब अवतरणों एवं उपलब्ध ग्रंथोंपरसे पूज्यपादस्वामीकी चतुर्मुखी प्रतिभाका स्पष्ट पता चलता है और इस विषयमें कोई संदेह नहीं रहता कि आपने उस समयके प्रायः सभी महत्त्वके विषयोंमें ग्रंथोंकी रचना की है। आप असाधा-

रण विद्वत्ताके धनी थे, सेवा-परायणोंमें अग्रगण्य थे, महान् दार्शनिक थे, अद्वितीय वैयाकरण थे, अपूर्व वैद्य थे, धुरंधर कवि थे, बहुत बड़े तपस्वी थे, सातिशय योगी थे और पूज्य महात्मा थे। इसीसे कर्णाटकके प्राय: सभी कवियोंने—ईसाकी ८वीं, ९वीं, १०वीं शताब्दियोंके विद्वानोंने-अपने-अपने ग्रंथोंमें बड़ी श्रद्धा-भक्तिके साथ आपका स्मरण किया है और आपकी मुक्तकंठसे प्रशंसा की है।

जीवन-घटनाएं

आपके जीवनकी अनेक घटनाएँ हैं–जैसेकि १ विदेहगमन, २ घोरतपश्चर्यादिके कारण आँखों की ज्योतिका नष्ट हो जाना तथा 'शान्त्यष्टक' +के एकनिष्ठा एवं एकाग्रतापूर्वक पाठसे उसकी पुन: सम्प्राप्ति, ३ देवताओंसे चरणोंका पूजा जाना ४ औषधि ऋद्धि की उपलब्धि ५ और पादस्पृष्ट जलके प्रभावसे लोहेका सुवर्णमें परिणत हो जाना (अथवा उस लोहेसे सुवर्णका विशेष लाभ प्राप्त होना) इन पर विशेष विचार करने तथा ऐतिहासिक प्रकाश डालनेका इस समय अवसर नहीं है। ये सब विशेष ऊहापोहके लिये यथेष्ट समय और सामग्रीकी अपेक्षा रखती हैं। परन्तु इनमें असंभवता कुछ भी नहीं है—महायोगियोंके लिए ये सब कुछ शक्य हैं। जब तक कोई स्पष्ट बाधक प्रमाण उपस्थित न हो तब तक—'सर्वत्र बाधकाभावादस्तुव्यवस्थित.' की नीतिके अनुसार इन्हें माना जासकता है।

पितृकुल और गुरुकुल

पितृकुल और गुरुकुलके विचारोंको भी इस समय छोड़ा जाता है। हाँ, इतना जरूर कहदेना होगा कि आप मूल संघान्तर्गत नन्दिसंघके प्रधान आचार्य थे, स्वामी समन्तभद्रके बाद हुए हैं—श्रवणबेल्गोलके शिलालेखों (नं० ४०, १०८) में समन्तभद्रके उल्लेखानन्तर "ततः" पद देकर आपका उल्लेख किया गया है और

+यह शान्त्यष्टक "न स्नेहाच्छरणं प्रयान्ति भगवन्" इत्यादि पद्यसे प्रारम्भ होता है और 'दशभक्ति' आदिके साथ प्रकाशित भी हो चुका है। इसके अन्तिम आठवें पद्यमें "मम भावितकस्य च विभो दृष्टि प्रसन्नां कुरु" ऐसा द्व्यर्थक वाक्य भी पाया जाता है, जो दृष्टि-प्रसन्नताकी प्रार्थना को लिये हुए है।

स्वयं पूज्यपादने भी अपने 'जैनेन्द्र' में "चतुष्टयं समन्तभद्रस्य" इस सूत्र (५-४-१६८) के द्वारा समन्तभद्रके मतका उल्लेख किया है। इससे आपका समन्तभद्र के बाद होना सुनिश्चत है। आपके एक शिष्य वज्रनन्दीने विक्रम सं० ५२६ में द्राविड़संघकी स्थापना की थी, जिसका उल्लेख देवसेनके 'दर्शनसार' ग्रन्थमें पाया जाता है+। आप कर्णाटक देशके निवासी थे। कन्नड भाषामें लिखे हुए 'पूज्यपादचरिते' तथा 'राजावलीकथे' नामक ग्रंथोंमें आपके पिताका नाम माधव भट्ट' तथा माताका 'श्रीदेवी' दिया है और आपको ब्राह्मणकुलोद्भव लिखा है। इसके सिवाय प्रसिद्ध व्याकरणकार 'पाणिनि' ऋषिको आपका मातुल (मामा) भी बतलाया है, जो समयादिककी दृष्टि से विश्वास किये जाने योग्य नहीं है।

समाधितन्त्र-परिचय

अब मैं पूज्यपादके ग्रन्थोंमेंसे 'समाधितंत्र' ग्रन्थका कुछ विशेष परिचय अपने पाठकोंको देना चाहता हूँ। यह ग्रन्थ आध्यात्मिक है और जहाँ तक मैंने अनुभव किया है ग्रन्थकार-महोदयके अन्तिम जीवनकी कृति है—उस समयके करीबकी रचना है जबकि आचार्यमहोदयकी प्रवृत्ति बाह्य-विषयोंसे हटकर बहुत ज्यादा अन्तर्मुखी हो गई थी और आप स्थितप्रज्ञ-जैसी स्थितिको पहुँच गये थे। यद्यपि जैनसमाजमें अध्यात्म-विषयके कितने ही ग्रंथ उपलब्ध हैं और प्राकृतभाषाके 'समयसार' जैसे महान् एवं गूढ ग्रन्थ भी मौजूद हैं परन्तु यह छोटा-सा संस्कृत ग्रन्थ अपनी खास विशेषता रखता है। इसमें थोड़ेही शब्दों द्वारा सूत्ररूपसे अपने विषयका अच्छा प्रतिपादन किया गया है; प्रतिपादन शैली बड़ी ही सरल, सुन्दर एवं हृदयग्राहिणी है; भाषा-सौष्ठव देखते ही बनता है और पद्य-रचना प्रसादादि गुणोंसे विशिष्ट है। इसीसे पढ़ना प्रारम्भ करके छोड़ने को मन नहीं होता—ऐसा

+जैसा कि दर्शनसारकी निम्न दो गाथाओंसे प्रकट होता है:—

सिरिपुज्जपादसीसो दाविडसंघस्स कारगो दुट्ठो।
णामेण वज्जणंदी पाहुडवेदी महासत्तो ॥२४॥
पंचसये छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
दक्खिणमहुराजादो दाविडसंघो महामोहो ॥२८॥

मालूम होता है कि समस्त अध्यात्मवाणीका दोहन करके अथवा शास्त्र-समुद्रका मन्थन करके जो नवनीताऽमृत (मक्खन) निकाला गया है वह सब इसमें भरा हुआ है और अपनी सुगन्धसे पाठक-हृदयको-मोहित कर रहा है। इस ग्रंथके पढ़ने से चित्त बड़ा ही प्रफुल्लित होता है, पद-पद पर अपनी भूलका बोध होता चला जाता है। अज्ञानादि मल छँटता रहता है और दुःख-शोकादि आत्माको सन्तप्त करनेमें समर्थ नहीं होते।

इस ग्रन्थमें शुद्धात्माके वर्णनकी मुख्यता है और वह वर्णन पूज्यपादने आगम, युक्ति तथा अपने अन्तःकरणकी एकाग्रता-द्वारा सम्पन्न स्वानुभव के बल-पर भले प्रकार जांच पड़ताल के बाद किया है; जैसा कि ग्रंथके निम्न प्रतिज्ञा-वाक्यसे प्रकट है :—

श्रुतेन लिङ्गेन यथात्मशक्ति समाहितान्तः करणेन सम्यक् ।
समीक्ष्य कैवल्यसुखस्पृहाणां विविक्तमात्मानमथाभिधास्ये ॥ ॥

ग्रंथका तुलनात्मक अध्ययन करनेसे भी यह मालूम होता है। कि इसमें श्री कुन्दकुन्द–जैसे प्राचीन आचार्योंके आगम-वाक्योंका बहुत कुछ अनुसरण किया गया है। कुन्दकुन्दका :—

'एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा'१ ॥३॥

यह वाक्य तो इस ग्रंथका प्राण जान पड़ता है। ग्रंथके कितने ही पद्य कुन्द-कुन्दके 'मोक्ष प्राभृत' की गाथाओंको सामने रखकर रचे गये हैं—ऐसी कुछ गाथाएँ पद्य नं० ४, ५, ७, १०, ११, १२, १८, ७८, १०२ के नीचे फुटनोटोंमें उद्धृत भी करदी गई हैं, उन परसे इस विषय की सत्यता का हर एक पाठक

१. यह गाथा नियमसारमें नं० १०२ पर और मोक्षप्राभृतमें नं० ५९ पर पाई जाती है। इसमें यह बतलाया है कि—'मेरा आत्मा एक है—खालिस है, उसमें किसी दूसरे का मिश्रण नहीं—शास्वत है—, कभी नष्ट होनेवाला नहीं—और ज्ञानदर्शन-लक्षणवाला (ज्ञाता-द्रष्टा) है; शेष संयोग-लक्षणवाले समस्त पदार्थ मेरे आत्मासे बाह्य हैं—वे मेरे नहीं हैं और न मैं उनका हूँ।

सहज ही में अनुभवकर सकता है। यहां पर उसमेंसे दो गाथाएँ और एक गाथा नियमसारकी भी इस ग्रंथके पद्यों सहित नमूनेके तौर पर उद्धृत की जाती है :—

जं मया दिस्सदे रूवं तण्ण जाणादि सव्वहा।
जाणगं दिस्सदे णं तं तम्हा जंपेमि केण हं ॥२७॥

—मोक्षप्राभृत

यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम् ॥१८॥

—समाधितंत्र

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे ॥३१॥

—मोक्षप्राभृत

व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन्सुषुप्तश्चात्मगोचरे ॥७८॥

—समाधितंत्र

णियभावं ण वि मुच्चइ परभावं णेव गेण्हए केइं।
जाणादि पस्सदि सव्वं सोहं इदि चिंतए णाणी ॥७७॥

नियमसार

यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुञ्चति।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥२०॥

—समाधितंत्र

इससे उक्त पद्य नं० ३ में प्रयुक्त हुआ 'श्रुतेन' पद बहुत ही सार्थक जान पड़ता है। 'लिङ्गेन' तथा समाहितान्तः करणेन' पद भी ऐसेही सार्थक हैं। यदि श्रीकुन्दकुन्दके समयसारकी गाथा नं० ४३७ से ४४४ तकके कथनकी इस ग्रंथके पद्य नं० ८७-८८ के साथ तुलना की जाय तो पूज्यपादकी विशेषताके साथ उनके युक्तिपुरस्सर तथा स्वानुभवपूर्वक कथनका कितना ही सुन्दर आभास मिल सकता है। वस्तुतः इस ग्रंथमें ऐसी कोई भी बात कही गई मालूम नहीं होती जो

युक्ति, आगम तथा स्वानुभवके विरुद्ध हो और इसलिये यह ग्रन्थ बहुत ही प्रामाणिक है। इसीसे उत्तरवर्ती आचार्योंने इसे खूब अपनाया है—परमात्म-प्रकाश और ज्ञानार्णव—जैसे ग्रन्थोंमें इसका खुला अनुसरण किया गया है, जिसके कुछ नमूने ग्रन्थके फुटनोटोंमें दिखाये गये हैं।

चूँकि ग्रन्थमें शुद्धात्माके कथनकी प्रधानता है और शुद्धात्माको समझानेके लिये अशुद्धात्माको जाननेकी भी ज़रूरत होती है, इसीसे ग्रन्थमें आत्माके बहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्मा ऐसे तीन भेद करके उनका स्वरूप समझाया है। साथ ही, परमात्माको उपादेय (आराध्य) अन्तरात्माको उपायरूप आराधक और बहिरात्माको हेय (त्याज्य) ठहराया है। इन तीनों आत्म-भेदों का स्वरूप समझाने के ग्रन्थमें जो कलापूर्ण तरीक़ा अख़्तियार किया गया है वह बड़ा ही सुन्दर एवं स्तुत्य है और उसके लिये ग्रन्थको देखते ही बनता है। यहाँ पर मैं अपने पाठकोंको सिर्फ उन पदोंका ही परिचय करा देना चाहता हूँ जो बहिरात्मादिका नामोल्लेख अथवा निर्देश करनेके लिये ग्रन्थमें प्रयुक्त किये गये हैं और जिनसे विभिन्न आत्माओंके स्वरूप पर अच्छा प्रकाश पड़ता है और वह नयविवक्षाके साथ अर्थपर दृष्टि रखते हुए उनका पाठ करनेसे सहज ही में अवगत हो जाता है। इन पदोंमें से कुछ पद ऐसे भी है जिनका मूलप्रयोग द्विती-यादि विभक्तियों तथा बहुवचनादिके रूपमें हुआ है परन्तु अर्थावबोधकी सुविधा एवं एकरूपताकी द्रष्टिसे उन्हें यहाँ प्रथमाके एकवचनमें ही रख दिया गया है। अस्तु; बहिरात्मादि-निर्देशक वे पद्य क्रमशः निम्न प्रकार हैं। उनके स्थान-सूचक-पद्याङ्क भी साथ में दिये जाते :—

(१) बहिरात्म-निर्देशक पद—

बहिः ४; बहिरात्मा ५, ७, २७; शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिः ५; आत्म-ज्ञानपराङ्मुखः ७; अविद्वान् ८; मूढः १०, ४४, ४७; अविदितात्मा ११; देहे स्वबुद्धिः १३; मूढात्मा २६,५६,५८,६०; उत्पन्नात्ममतिर्देहे ४२; परत्राहम्मतिः ४३; देहात्मदृष्टिः ४६, ६४; अविद्यामयरूपः ५३; वाक्-शरीरयोः भ्रान्तः ५४; बालः ५५; पिहितज्योतिः ६०; अबुद्धिः ६१,६६; शरीरकंचुकेन संवृतज्ञानविग्रहः ६८; अनात्मदर्शी ७३' ९३; दृढात्माबुद्धिर्देहादौ

७३; आत्मगोचरे सुषुप्तः ७८; मोही ९०; अनन्तरज्ञः ९१, अक्षीणदोषःसर्वावस्थाऽऽत्मदर्शी ९३; जड़ः १०४।

(२) अन्तरात्म-निर्देशक पद—

अन्तः ४, १४, ६०; आन्तरः ५; चित्तदोषाऽऽत्मविभ्रान्तिः ५; स्वात्मन्येवात्मधीः १३; बहिरव्यापृतेन्द्रियः १४; देहादौ विनिवृत्तात्मविभ्रमः २२: अन्तरामा २७, ३०; तत्त्वज्ञानी ४२; स्वस्मिन्नहम्मतिः ४३; बुधः ४३, ६३-६६; आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताल्हादनिर्वृतः ३४; अवबुद्धः ४४; आत्मवित् ४७; स्वात्मन्येवात्मदृष्टिः ४९, नियतेन्द्रियः ५१; आरब्धयोगःभावितात्मा ५२; वाक्शरीरयोरभ्रान्तः ५४; आत्मतत्त्वे व्यवस्थितः ५७; प्रबुद्धात्मा ६०; बहिर्व्यावृत्तकौतुकः ६०; दृष्टात्मा ७३, ९२; आत्मन्येवात्मधीः ७७; व्यवहारे सुषुप्तः ७८; दृष्टात्मतत्त्वः—स्वभ्यस्तात्मधीः ८०; मोक्षार्थी ८३, योगी ८६, १००; दृष्टभेदः ९२; आत्मदर्शी ९३; ज्ञातात्मा ९४; मुनिः १०२; विद्वान् १०४; परात्मनिष्ठः १०५।

(३) परमात्म-निर्देशक पद—

अक्षयानन्तबोधः १, सिद्धात्मा १; अनीहिता-तीर्थकृत् २; शिवः-धाता सुगतः-विष्णुः २; जिनः २, ६; विविक्तात्मा ३, ७३; परः ४, ८६, ९७; ४, ३१ ९८; परमात्मा ५, ६, १७, २७, ३०; अतिनिर्मलः ५; निर्मलः-केवलः-शुद्धः-विविक्तः-प्रभुः-परमेष्ठी-परात्मा-ईश्वरः ६; अव्ययः ६, ३३; अनन्तानन्तधीशक्तिः-अचलस्थितिः ९, स्वसंवेद्यः ९, २०, २४; निर्विकल्पकः १९; अतीन्द्रियःअनिर्देश्यः २२; बोधात्मा २५, ३२; सर्वसंकल्पवर्जितः २७; परमानन्दनिर्वृतः ३२; स्वस्थात्मा ३९; उत्तमः कायः ४०; निष्ठितात्मा ४७; सानंदज्योतिरुत्तमः ५१; विद्यामयरूपः ५३; केवलज्ञप्तिविग्रहः ७०; अच्युतः ७९; परमं पदमात्मनः ८४, ८९, १०४; परं पदं ८५; परात्मज्ञानसम्पन्नः ८६; अवाचां गोचरं पदं ९९।

यह त्रिधात्मक–पदावली त्रिधात्माके स्वरूपको व्यक्त करनेके लिये कितनी सुन्दर एवं भावपूर्ण है उसे बतलानेकी जरूरत नहीं—सहृदय पाठक सहज में उसका अनुभव कर सकते हैं। हाँ, इतना जरूर कहना होगा कि एक छोटेसे

ग्रन्थमें एक ही आत्मविषयको स्पष्ट करनेके लिये इतने अधिक विभिन्न शब्दोंका ऐसे अच्छे ढंगसे प्रयोग किया जाना, निःसंदेह, साहित्यकी दृष्टिसे भी कुछ कम महत्त्वकी चीज नहीं है। इससे ग्रन्थकार महोदयके रचना-चातुर्यके अथवा शब्द-प्रयोग-कौशल्यका भी कितना ही पता चल जाता है।

समाधितंत्रमें और क्या कुछ विशेष वर्णन है उस सबका संक्षिप्त परिचय ग्रन्थके साथमें दी हुई विषयानुक्रमणिकाको देखनेसे सहजमें ही मालूम हो सकता है। वहीं पर कोष्ठकमें मूल श्लोकोंके नम्बर भी दे दिये हैं। यहाँ पर उसकी पुनरावृत्ति करके प्रस्तावनाके कलेवरको बढ़ानेकी जरूरत मालूम नहीं होती और न ग्रन्थविषयका दूसरे तत्सम ग्रन्थोंके साथ तुलनाका अपनेको यथेष्ठ अवकाश ही प्राप्त है, अतः जो तुलना ऊपर की जा चुकी है उसी पर सन्तोष रखते हुए शेषको छोड़ा जाता है।

ग्रन्थनाम और पद्यसंख्या :

यह ग्रन्थ १०५ पद्योंका है, जिनमेंसे दूसरा पद्य 'वंशस्थ' वृत्तमें, तीसरा 'उपेन्द्रावज्रा' में, अन्तिम पद्य 'वसंततिलका' छन्दमें और शेष सब 'अनुष्टूप' छन्दमें है। अन्तिम पद्यमें ग्रन्थका उपसंहार करते हुए, ग्रन्थका नाम 'समाधि-तंत्र' दिया है और उसे उस ज्योतिमय कैवल्य सुखकी प्राप्तिका उपायभूत-मार्ग बतलाया है जिसके अभिलाषियोंको लक्ष्य करके ही यह ग्रन्थ लिखा गया है और जिसकी सूचना प्रतिज्ञावाक्य (पद्य नं० ३) में प्रयुक्त हुए 'कैवल्य-सुखस्पृहाणाम्' पदके द्वारा की गई है। साथ ही, ग्रंथ-प्रतिपादित उपायका संक्षिप्त-रूपमें दिग्दर्शन कराते हुए ग्रन्थके अध्ययन एवं अनुकूल वर्तनका फल भी प्रकट किया गया है। वह अन्तिम सूत्र-वाक्य इस प्रकार है :—

मुक्त्वा परत्र परबुद्धिमहं धियं च संसारदुःखजननीं जननाद्विमुक्तः
ज्योतिर्मयं सुखमुपैति परात्मनिष्ठस्तन्मार्गमेतदधिगम्य समाधितंत्रम् ॥१०॥

प्रायः १०० श्लोकोंका होनेके कारण टीकाकार प्रभाचन्द्रने इस ग्रन्थको अपनी टीकामें 'समाधिशतक' नाम दिया है और तबसे यह 'समाधिशतक' नामसे भी अधिकतर उल्लेखित किया जाता है अथवा लोकपरिचयमें आ रहा है।

मेरे इस कथनको 'जैनसिद्धांत भास्कर'—'श्री पूज्यपाद और उनका

समाधितंत्र१' शीर्षकके नीचे—देखकर डाक्टर परशुराम लक्ष्मण (बी० एल०) वैद्य, एम० ए० प्रोफेसर वाडियाकालिज पूनाने, हालमें प्रकाशित 'समाधिशतक' के मराठी संस्करणकी अपनी प्रस्तावनामें, उस पर कुछ आपत्ति की है। आपकी रायमें ग्रंथका असली नाम 'समाधिशतक' और उसकी पद्यसंख्या १०० या ज्यादासे ज्यादा १०१ है। आप पद्य नं० २, ३, १०३, १०४, को तो 'निश्चत-रूपसे (खात्रीने) प्रक्षिप्त' बतलाते हैं और १०५ को 'बहुधा प्रक्षिप्त' समझने का अभिप्राय है उसकी प्रक्षिप्ततामें संदेहका होना—अर्थात् वह प्रक्षिप्त नहीं भी हो सकता है। जब पद्य नं० १०५ का प्रक्षिप्त होना संदिग्ध हैं तब ग्रंथका नाम 'समाधिशतक' होना भी संदिग्ध हो जाता है; क्योंकि उक्त पद्यपरसे ग्रंथका नाम 'समाधितंत्रही पाया जाता है, इसे डा० साहबने स्वयं स्वीकार किया है। अस्तु।

जिन्हें निश्चितरूपसे प्रक्षिप्त बतलाया गया है उनमेसे पद्य नं० २, ३ की प्रक्षिप्ताके निश्चयका कारण है उनका छन्दभेद; ये दोनों पद्य ग्रन्थके साधारण वृत्त अनुष्टुप् छन्दमें न लिखे जाकर क्रमशः 'वंशस्थ' तथा 'उपेन्द्रवज्रा' छन्दोंमें लिखे गये हैं२। डाक्टर साहबका खयाल है कि अनुष्टुप् छंदमें आपने ग्रंथको प्रारम्भ करने वाला और आगे प्राय. सारा ग्रंथ उसी छंदमें लिखने वाला कोई ग्रंथकार बीचमें और खासकर प्रारम्भिक पद्यके बाद ही दूसरा छंदकी योजना करके 'प्रक्रमभंग' नहीं करेगा। परन्तु ऐसा कोई नियम अथवा रूल नहीं है जिससे ग्रंथकार की इच्छापर इस प्रकारका कोई नियत्रण लगाया जासके। अनेक ग्रंथ इसके अपवाद-स्वरूप भी देखनेमें आते हैं। उदाहरणके लिये महान्ग्रंथकार भट्टा-कलंकदेवके 'लघीयस्त्रय' और 'न्यायविनिश्चय' जैसे कुछ ग्रथोंको प्रमाणमे पेश किया जा सकता है जिनका पहला पद्य अनुष्टुप् छदमें है और जो प्रायः अनुष्टुप् छंदमें ही लिखे गये हैं परन्तु उनमें से प्रत्येकका दूसरा पद्य 'शार्दूलविक्रीडित' छंदमें

---

१ यह लेख 'जैनसिद्धांतभास्कर' के पाँचवें भागकी प्रथम किरणमें प्रकाशित हुआ है।

२ डाक्टर साहबने द्वितीय पद्यको 'उपेन्द्रवज्रा' में और तृतीयको 'वंशस्थ' वृत्तमें लिखा है, यह लिखना आपका छंदशास्त्रकी दृष्टिसे ग़लत है और किसी भूलका परिणाम जान पड़ता है।

है और कण्टकशुद्धिको लिए हुए ग्रन्थका खास अंगस्वरूप है। 'सिद्धिविनिश्चय' ग्रन्थमें भी इसी पद्धतिका अनुसरण पाया जाता है। ऐसी हालतमें छन्दभेदके कारण उक्त दोनों पद्योंको प्रक्षिप्त नहीं कहा जा सकता।

ग्रन्थके प्रथम पद्यमें निष्कलात्मरूप सिद्धपरमात्माको और दूसरे पद्यमें सकलात्मरूप अर्हत्परमात्माको नमस्काररूप मंगलाचरण किया गया है परमात्माके ये ही दो मुख्य अवस्थाभेद हैं, जिन्हें इष्ट समझकर स्मरण करते हुए यहां थोड़ासा व्यक्त भी किया गया है। इन दोनों पद्योंमें ग्रन्थ-रचना-सम्बन्धी कोई प्रतिज्ञा वाक्य नहीं है—ग्रन्थके अभिधेय—सम्बन्ध-प्रयोजनादिको व्यक्त करता हुआ वह प्रतिज्ञा-वाक्य पद्य नं० ३ में दिया है; जैसाकि ऊपर उसके उल्लेखसे स्पष्ट है। और इस लिए शुरूके ये तीनों पद्य परस्परमें बहुत ही सुसम्बद्ध हैं—उनमेंसे दो के प्रक्षिप्त होनेकी कल्पना करना, उन्हें टीकाकार प्रभाचन्द्रके पद्य बतलाना और उसकी व्यवस्थित टीकाको किसीका टिप्पण कहकर यों ही ग्रन्थमें घुसड़ जाने की बात करना बिल्कुल ही निराधार जान पड़ता है। डा० साहब प्रथम पद्यमें प्रयुक्त हुए 'अक्षयानन्तबोधाय तस्मै सिद्धात्मने नमः' (उस अक्षय—अनन्तबोध-स्वरूप परमात्माको नमस्कार) इस वाक्यकी मौजूदगीमें, तीसरे पद्यमें निर्दिष्ट हुआ ग्रन्थके प्रयोजनको अप्रस्तुत—स्थलका (बेमौकेका) बतलाते हुए उसे अनावश्यक तथा पुनरुक्त तक प्रकट करते है; जबकि अप्रस्तुत—स्थलता और पुनरुक्ततताकी वहां कोई गंध भी मालूम नहीं होती; परन्तु टीकाके मंगलाचरण—पद्यमें प्रयुक्त हुए 'वक्ष्ये समाधिशतकं' (मैं समाधिशतककी व्याख्या करता हूँ) इस प्रतिज्ञावाक्यकी मौजूदगीमें, तीसरे पद्यको टीकाकारका बतलाकर उसमें प्रयुक्त हुए प्रतिज्ञावाक्यको प्रस्तुत—स्थलका, आवश्यक और अपुनरुक्त समझते हैं, तथा दूसरे पद्यको भी टीकाकारका बतलाकर प्रतिज्ञाके अनन्तर पुनः मंगलाचरणको उपयुक्त समझते हैं, यह सब अजीब-सी ही बात जान पड़ती है? मालूम होता है आपने इन प्रभाचन्द्रके किसी दूसरे टीकाग्रन्थके साथ इस टीकाकी तुलना नहीं की, यदि रत्नकरण्डश्रावकाचारकी टीकाके साथ ही इस टीका की तुलना की होती तो आपको टीकाकारके मंगलाचरणादि—विषयक टाइपका—लेखनशैलीका—कितना ही पता चल गया होता और यह मालूम हो गया होता

कि यह टीकाकार अपनी ऐसी टीकाके प्रारम्भमें मंगलाचरण तथा प्रतिज्ञाका एक ही पद्य देते हैं, और इसी तरह टीकाके अन्तमें उपसंहार आदिका भी प्रायः एक ही पद्य रखते हैं, और अब आपको मूलग्रन्थके उक्त दोनों पद्यों (नं० २, ३,) को बलात् टीकाकारका बतलानेकी नौबत ही न आती।

हां, एक बात यहां और भी प्रकट करदेने की है और वह यह कि डा० साहब जब यह लिखते हैं कि 'पूज्यपादानीं हा विषय आगम, युक्ति, आणि अंतःकरणाकी एकाग्रता करून प्यायोगें स्वानुभवसंपन्न होऊन त्याचा आधारें स्पष्ट आणि सुलभरीतीनें प्रतिपादला आहे' तब इस बातको भुलादेते हैं कि यह आगम, युक्ति और अन्तःकरणकी एकाग्रता–द्वारा सम्पन्न स्वानुभवके आधारपर ग्रन्थ रचनेकी बात पूज्यपादने ग्रंथके तीसरे पद्यमें ही तो प्रकट की है—वहींसे तो वह उपलब्ध होती है--'फिर उस पद्यको मूलग्रन्थका माननेसे क्यों इनकार किया जाता है? और यदि यह बात उनकी खुदकी जांच-पड़ताल तथा अनुसंधानसे सम्बन्ध रखती हुई होती तो वे आगे चलकर कुछ तत्सम ग्रन्थोंकी सामान्य तुलनाका उल्लेख करते हुए, यह न लिखते कि 'उपनिषद् ग्रन्थके कथनको यदि छोड़ दिया जाय तो परमात्मस्वरूपका तीन पद रूप वर्णन पूज्पादने ही प्रथम किया है ऐसे कहने में कोई हरकत नहीं,। क्योंकि पूज्यपादसे पहलेके प्रसिद्ध आचार्य कुन्दकुन्दके मोक्षप्राभृत (मोक्खपाहुड) ग्रन्थमें त्रिधात्माका बहुत स्पष्टरूपसे वर्णन पाया जाता है। और पूज्पादने उसे प्रायः उसी ग्रन्थपरसे लिया है; जैसाकि नमूनेके तौरपर ग्रंथोंके निम्न दो पद्योंकी तुलनासे प्रकट है और जिससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि समाधितंत्रका पद्य मोक्षप्राभृतकी गाथाका प्रायः अनुवाद है:—

तिपयारो सो अप्पा परमंतरबाहिरो हु देहीणं।
तत्थ परो झाइज्जइ अंतोवाएण चयदि बहिरप्पा ॥मोक्षप्रा०

बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद्बहिस्त्यजेत् ॥—समाधितंत्रम्

मालूम होता है मैंने अपने उक्त लेखमें ग्रंथाधारकी जिस बातका उल्लेख करके प्रमाणमें ग्रंथके पद्य नं० ३ को उद्धृत किया था और जो ऊपर इस प्रस्तावनामें भी पद्य नं० ३ के साथ ज्योंकी त्यों दी हुई है उसे डाक्टर साहबने

अनुवादरूपमें अपना तो लिया परन्तु उन्हें यह खयाल नहीं आया कि ऐसा करनेसे उनके उस मन्तव्यका स्वयं विरोध हो जाता है जिसके अनुसार पद्य नं० ३ को निश्चिन्तरूपसे प्रक्षिप्त कहा गया है। अस्तु।

अब रही पद्य नं० १०३, १०४ की बात, इनकी प्रक्षिप्तताका कारण डा० साहब ग्रन्थके विषय और पूर्वपद्योंके साथ इनके प्रतिपाद्य-विषयकी असम्बद्धता बतलाते हैं—लिखते हैं 'या दोन श्लोकाच्या प्रतिपाद्य विषयांशीं व पूर्व श्लोकांशीं काहीं च संबंध दिसत नाहीं'। साथ ही यह भी प्रकट करते हैं कि ये दोनों श्लोक कब, क्यों और कैसे इस ग्रन्थमें प्रविष्ट (प्रक्षिप्त) हुए हैं उसे बतलानेके लिये वे असमर्थ हैं। पिछली बातके अभावमें इन पद्योंकी प्रक्षिप्तताका दावा बहुत कमजोर हो जाता है; क्योंकि असम्बद्धताकी ऐसी कोई भी बात इनमें देखनेको नहीं मिलती। टीकाकार प्रभाचन्द्रने अपने प्रस्तावना-वाक्योंके द्वारा ग्रन्थके विषय तथा पूर्व पद्योंके साथ इनके सम्बन्धको भले प्रकार घोषित किया है। वे प्रस्तावनावाक्य अपने-अपने पद्य के साथ इस प्रकार हैं—

'ननु यद्यात्मा शरीरात्सर्वथा भिन्नस्तदा कथमात्मनि चलति नियमेन तच्चलेत् तिष्ठति तिष्ठेदिति वदन्तं प्रत्याह—

प्रयत्नादात्मनो वायुरिच्छाद्वेषप्रवर्तितात्।
वायोः शरीरयन्त्राणि वर्तन्ते स्वेषु कर्मसु ॥१०३॥

'तेषां शरीरयन्त्राणामात्मन्यारोपाऽनारोपौ कृत्वा जडविवेकिनौ किं कुर्वत इत्याह—'

तान्यात्मनि समारोप्य साक्षाण्यास्ते सुखं जडः।
त्यक्त्वाऽऽरोपं पुनर्विद्वान् प्राप्नोति परमं पदम् ॥१०४॥

इन प्रस्तावना-वाक्योंके साथ प्रस्तावित पद्योंके अर्थको साथमें देखकर कोई भी सावधान विद्वान यह नहीं कह सकता कि इनका ग्रन्थके विषयमें तथा पूर्व-पद्योंके साथ कोई सम्बन्ध नहीं हैं—जिस मूल विषयको ग्रन्थमें अनेक प्रकारसे पुनः पुनः स्पष्ट किया गया है उसीको इन पद्योंमें भी प्रकारान्तरसे और भी अधिक स्पष्ट किया गया है और उसमें पुनरुक्तता-जैसी भी कोई बात नहीं है। इसके सिवाय, उपसंहारपद्यके पूर्व ग्रन्थके विषयकी समाप्ति भी 'अदुःखभावितं' नामके

भावनात्मक पद्य नं० १०२ की अपेक्षा पद्य नं० १०४ के साथ ठीक जान पड़ती है, जिसके अन्तमें साध्यकी सिद्धिके उल्लेखरूप 'प्राप्नोति परमं पदम्' वाक्य पड़ा हुआ है और जो ग्रन्थके मुख्य प्रयोजन अथवा आत्माके अन्तिम ध्येयको स्पष्ट करता हुआ विषयको समाप्त करता है ।

अब मैं पद्य नं० १०५ को भी लेता हूँ, जिसे डाक्टर साहबने सन्देह-कोटिमें रक्खा है । यह पद्य संदिग्ध नहीं है; बल्कि मूलग्रन्थका अन्तिम उपसंहार-पद्य है; जैसा कि मैंने इस प्रकरणके शुरूमें प्रकट किया है । पूज्यपादके दूसरे ग्रन्थोंमें भी जिनका प्रारम्भ अनुष्टुप् छन्दके पद्यों-द्वारा होता है, ऐसे ही उपसंहार-पद्य पाये जाते हैं जिनमे ग्रन्थ–कथित विषयका संक्षेपमें उल्लेख करते हुए ग्रन्थका नामादिक भी दिया हुआ है । नमूनेके तौर पर 'इष्टोपदेश' और 'सर्वार्थसिद्धि' ग्रन्थों के दो उपसंहार–पद्योंको नीचे उद्धृत किया जाता है :—

> **इष्टोपदेशमिति सम्यगधीत्य धीमान्**
> **मानाऽपमानसमतां स्वमताद्वितन्य ।**
> **मुक्ताग्रहो विनिवसन्सजने वने वा**
> **मुक्तिश्रियं निरुपमामुपयाति भव्यः ॥**—इष्टोपदेशः ।
>
> **स्वर्गाऽपवर्गसुखमाप्तुमनोभिरार्यै—**
> **जैनेन्द्रशासनवरामृतसारभूता ।**
> **सर्वार्थसिद्धिरिति सद्भिरुपात्तनामा**
> **तत्त्वार्थवृत्तिरनिशं मनसा प्रधार्या**—सर्वार्थसिद्धिः ।

इन पद्यों परसे पाठकोंको यह जानकर आश्चर्य होगा कि ये दोनों पद्य भी उसी वसन्ततिलका' छन्दमें लिखे गये है जिसमें कि समाधितन्त्रका उक्त उपसंहारपद्य पाया जाता है । तीनों ग्रन्थोके ये तीनों पद्य एक ही टाइपके हैं और वे अपने एक ही आचार्य-द्वारा रचे जानेकी स्पष्ट घोषणा करते हैं । इसलिए समाधितन्त्रका पद्य नं० १०५ पूज्यपादकृत ही है, इसमें सन्देहको जरा भी स्थान नहीं है ।

जब पद्य नं० १०५ असन्दिग्धरूपसे पूज्यपादकृत है तब ग्रन्थका असली मूल नाम भी समाधितन्त्र ही है, क्योंकि इसी नामका उक्त पद्यमें निर्देश है, जिसे

डा० साहबने भी स्वयं स्वीकार किया है। और इसलिए 'समाधिशतक, नामकी कल्पना बाद की है—उसका अधिक प्रचार टीकाकार प्रभाचन्द्रके बाद ही हुआ है। श्रवणबेल्गोलके जिस शिलालेख नं० ४० में इस नामका उल्लेख आया है वह विक्रमकी १३वीं शताब्दीका है और टीकाकार प्रभाचन्द्र उससे पहले हो गये हैं।

इस तरह इस ग्रन्थका मूलनाम 'समाधितन्त्र' उत्तरनाम या उपनाम 'समाधिशतक' है और इसकी पद्य संख्या १०५ है—उसमें पाँच पद्योंके प्रक्षिप्त होनेकी जो कल्पना की जाती है वह निरी निर्मूल और निराधार है। ग्रन्थकी हस्तलिखित मूल प्रतियोंमें भी यही १०५ पद्यसंख्या पाई जाती है। देहली आदि के अनेक भण्डारोंमें मुझे इस मूलग्रन्थकी हस्तलिखित प्रतियोंके देखनेका अवसर मिला है—देहली सेठके कूचेके मन्दिरमें तो एक जीर्ण-शीर्ण प्रति कई सौ वर्षकी पुरानी लिखी हुई जान पड़ती है। जैनसिद्धान्त भवन आराके अध्यक्ष पं० के० भुजबलीजी शास्त्री से दर्याफ्त करने पर भी यही मालूम हुआ कि वहाँ ताड़-पत्रादि पर जितनी भी मूलप्रतियाँ हैं उन सबमें इस ग्रन्थकी पद्यसंख्या १०५ ही दी है। और इसलिए डा० साहबका यह लिखना उचित प्रतीत नहीं होता कि 'इस टीकासे रहित मूल ग्रन्थकी हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध नहीं हैं।'

ऐसा मालूम होता है कि 'शतक' नाम परसे डा० साहबको ग्रन्थमें १०० पद्योंके होनेकी कल्पना उत्पन्न हुई है और उसी परसे उन्होंने उक्त पाँच पद्योंको प्रक्षिप्त करार देनेके लिए अपनी बुद्धिका व्यापार किया है, जो ठीक नहीं जान पड़ता; क्योंकि शतक ग्रन्थके लिए ऐसा नियम नहीं है कि उसमें पूरे १०० ही पद्य हों, प्रायः १०० पद्य होने चाहिए—दो, चार दस पद्य ऊपर भी हो सकते हैं। उदाहरण के लिए भर्तृहरि-नीतिशतकमें ११०, वैराग्यशतकमें ११३, भूधर-जैन-शतकमें १०७, ध्यानशतकमें १०५, और श्रीसमन्तभद्रके जिनशतकमें ११६ पद्य पाये जाते हैं। अतः ग्रन्थका उत्तर नाम या उपनाम 'समाधिशतक' होते हुए भी उसमें १०५ पद्यों का होना कोई आपत्तिकी बात नहीं है।

समाधितंत्र के टीकाकार प्रभाचन्द्र :

इस ग्रन्थके साथमें जो संस्कृत टीका प्रकाशित हो रही है, उसके रचयिता

'प्रभाचन्द्र' हैं। अन्तिम पुष्पिकामें प्रभाचन्द्रको 'पण्डित प्रभाचन्द्र' लिखा है; परन्तु इससे उन्हें कोई गृहस्थ पण्डित न समझ लेना चाहिए। टीका-प्रशस्तिमें 'प्रभेन्दु' के लिए प्रयुक्त हुए 'प्रभुः' आदि विशेषणोंसे यह साफ जाना जाता है कि वे कोई आचार्य अथवा भट्टारक थे। अविद्वान् भट्टारकोंसे व्यावृत्त करानेके लिए बादको अच्छे पढ़े-लिखे विद्वान् भट्टारकोंके नामके साथ 'पन्डित' विशेषण लगाया जाने लगा था; जैसाकि आजकल स्थानकवासी समाजमें जो मुनि अच्छे पढ़े-लिखे विद्वान् मिलते हैं उन्हें 'पण्डितमुनि' लिखा जाने लगा है। टीकाप्रशस्ति अथवा टीकाके उपसंहार-पद्य में टीकाकार प्रभाचन्द्रका न तो कोई विशेष परिचय है और न टीकाके बनानेका समय ही दिया है। टीकाकारने कहीं पर अपने गुरुका नामोल्लेख तकभी नहीं किया है और जैनसमाजमें 'प्रभाचन्द्र' नामके बीसियों मुनि, आचार्य तथा भट्टारक हो गये हैं, जिनमें से बहुतोंका संक्षिप्त परिचय मैंने रत्नकरण्डश्रावकाचारकी अपनी उस प्रस्तावनामें दिया है जो माणिकचन्द्र-ग्रन्थालामें प्रकट होनेवाली सटीक रत्नकरण्डश्रावकाचारके साथ प्रकाशित हुई है। ऐसी हालतमें यह टीका कौनसे प्रभाचन्द्रकी बनाई हुई है और कब बनी है, इस प्रश्नका उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

जहां तक मैंने इस प्रश्नपर विचार किया है मुझे इस विषयमें कोई सन्देह मालूम नहीं होता कि यह टीका उन्ही प्रभाचन्द्राचार्यकी बनाई हुई है जो रत्नकरण्डश्रावकाचारकी टीकाके कर्ता हैं। उस टीकाके साथ जब इस टीकाका मिलान किया जाता है तब दोनोंमें बहुत बड़ा सादृश्य पाया जाता है। दोनोंकी प्रतिपादनशैली, कथन करनेका ढंग और साहित्यकी दशा एक-जैसी मालूम होती है। वह भी इस टीकाकी तरह प्रायः शब्दानुवादको ही लिए हुए है। दोनोंके आदि-अन्तमें एक एक ही पद्य है और उनकी लेखनपद्धति भी अपने-अपने प्रतिपाद्य विषयकी दृष्टिसे समान पाई जाती है। नीचे इस सादृश्यका अनुभव कराने के लिए कुछ उदाहरण नमूनेके तौर पर दिये जाते हैं :—

(१) दोनों टीकाओं के आदि मंगलाचरणके पद्य इस प्रकार हैं :—

समन्तभद्रं निखिलात्मबोधनं जिनं प्रणम्याखिलकर्मशोधनम् ।

निबन्धनं रत्नकरण्डकं परं करोमि भव्यप्रतिबोधनाकरम् ॥१॥

—रत्नकरण्डकटीका

सिद्धं जिनेन्द्रमलमप्रतिमप्रबोधं निर्वाणमार्गममलं विबुधेन्द्रवंद्यम् ।
संसारसागरसमुत्तरणप्रपोतं वक्ष्ये समाधिशतकं प्रणिपत्य वीरम् ॥१॥

—समाधितंत्रटीका

ये दोनों पद्य इष्टदेव को नमस्कारपूर्वक टीका करनेकी प्रतिज्ञाको लिए हुए हैं, दोनोंमें प्रकारान्तरसे ग्रन्थकर्ता* और मूलग्रन्थको भी स्तुतिका विषय बनाया गया है और उनके अप्रतिमप्रबोधं-निखिलात्मबोधनं तथा निर्वाणमार्गम्-अखिल-कर्मशोधनं, इत्यादि कुछ विशेषण भी, अर्थकी दृष्टि से परस्पर मिलते-जुलते हैं।

(२) मंगलाचरणके बाद दोनों टीकाओंके प्रस्तावनावाक्य इस प्रकार हैं—

श्रीसमन्तभद्रस्वामी रत्नानांरक्षणोपायभूतरत्नकरण्डकप्रख्यं सम्यग्दर्शनादि-रत्नानां पालनोपायभूतं रत्नकरण्डकाख्यं शास्त्रं कर्तुकामो निर्विघ्नतः शास्त्र-परिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह ।

—रत्नकरण्डटीका

श्रीपूज्यपादस्वामी मुमुक्षूणां मोक्षोपायं मोक्षस्वरूपं चोपदर्शयितुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वाणो येनात्मेत्याह । —समाधितंत्रटीका

(३) दोनों टीकाओंमें अपने ग्रन्थके प्रथम पद्यका सारांश इस प्रकार दिया है—

'अत्र पूर्वार्द्धेन भगवतः सर्वज्ञतोपायः, उत्तरार्द्धेन च सर्वज्ञतोक्ता ।'

—रत्नकरण्डटीका

'अत्र पूर्वार्द्धेन मोक्षोपायः, उत्तरार्धेन च मोक्षस्वरूपमुपदर्शितम् ।'

—समाधितंत्रटीका

इससे स्पष्ट है कि दोनों टीकाओंके कथनका ढंग और शब्दविन्यास एक जैसा है।

---

*पहले पद्यमें 'जिनेन्द्र' पदके द्वारा ग्रन्थकर्ताका नामोल्लेख किया गया है; क्योंकि पूज्यपादका 'जिनेन्द्र' अथवा 'जिनेन्द्रबुद्धि' भी नामान्तर है और 'विबुधे-न्द्रवंद्य' पद पूज्यपाद नामका भी द्योतक है।

(४) दोनों टीकाओंमें 'परमेष्ठी' पदकी जो व्याख्या की गई है वह एक ही जैसी है। यथा—

परमे इन्द्रादीनां वंद्ये पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी। —रत्नाकरण्डकटीका

परमे इंद्राविवंद्ये पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी स्थानशीलः। —समाधितंत्रटीका

(५) दोनों टीकाओंके अन्तिम पद्य इस प्रकार हैं—

येनाज्ञानतमो विनाश्य निखिलं भव्यात्मचेतो गतं,
सम्यग्ज्ञानमहांशुभिः प्रकटितः सागारमार्गोऽखिलः।
स श्रीरत्नकरण्डकामलरविः संसृत्सरिच्छोषको,
जीयादेष समन्तभद्रमुनिपः श्रीमत्प्रभेन्दुर्जिनः॥

—रत्नकरण्डटीका

येनात्मा बहिरन्तरुत्तमभिधा त्रेधा विवृत्योदितो,
मोक्षोऽनन्तचतुष्टयामलवपुः सद्ध्यानतः कीर्तितः।
जीयात्सोऽत्र जिनः समस्तविषयः श्रीपादपूज्योऽमलो,
भव्यानन्दकरः समाधिशतकः श्रीमत्प्रभेन्दुः प्रभुः॥

—समाधितन्त्रटीका

इन दोनों पदोंमें, अपने-अपने ग्रंथके प्रतिपाद्य विषयका सारांश देते हुए, जिस युक्तिसे जिनदेव, ग्रन्थकार (श्रीपादपूज्य, समन्तभद्रमुनि) ग्रन्थ (समाधिशतक, रत्नकरण्डक) और टीकाकार (प्रभेन्दु=प्रभाचन्द्र) को आशीर्वाद दिया गया है वह दोनोंमें बिलकुल एक ही है, दोनों की प्रतिपादन-शैली अथवा लेखन पद्धति में जरा भी भेद नहीं है, छंद भी दोनोंका एक ही है और दोनोंमें 'येन, जिनः, श्रीमान्, प्रभेन्दुः, सः, जीयात्' पदोंकी जो एकता और 'कीर्तितः, प्रकटितः' आदि पदोंके प्रयोगकी जो समानता पाई जाती है वह मूल पदों परसे प्रकट ही है, उसे और स्पष्ट करके बतलाने की कोई जरूरत नहीं है।

रत्नकरण्डश्रावकाचारकी इस टीकाका स्पष्ट उल्लेख पं० आशाधरजीने अपने अनगारधर्मामृतकी स्वोपज्ञटीकामें किया है*? जोकि वि० सं० १३००में बनकर

---

*यथाहुस्तत्र भगवन्तः श्रीमत्प्रभेन्दुदेवपादा रत्नकरण्डकटीकायां 'चतुरावर्तत्रितयं' इत्यादि सूत्रे द्विनिषद्य' इत्यस्य व्याख्याने 'देववन्दनां कुर्वता हि प्रारम्भे

समाप्त हुई, और इसलिए प्रभाचन्द्रकी रत्नकरण्ड टीका सं० १३०० से पूर्वकी रचना है इसमें विवादके लिए कोई स्थान नहीं है। रत्नकरण्ड टीकामें प्रभाचन्द्रने 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' और 'न्यायकुमुदचन्द्र' नामके ग्रन्थोंका स्पष्ट उल्लेख किया है+ जिनमें पहला ग्रन्थ भोजदेव नामके और दूसरा भोजके उत्तराधिकारी जयसिंह देवके राज्यकालकी रचना है, यह बात अब अनेक प्रमाणों एवं उल्लेख वाक्यों द्वारा स्पष्ट हो चुकी है। जयसिंह देवका राज्यकाल प्राय: वि० सं० १११० से १११६ तक पाया जाता है। ऐसी हालतमें रत्नकरण्ड टीकाकी पूर्वावधि सं० १११० तक पहुँचती है—अर्थात् सं० १११० से १३०० तक मध्यवर्ती किसी समयमें इसकी रचना हुई, इतना भी स्पष्ट है। इस विषयमें कुछ विद्वानोंका मत है कि जो प्रभाचन्द्र प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके कर्ता हैं वे ही रत्नकरण्ड टीकाके भी कर्ता हैं और उसका मुख्य आधार रत्नकरण्ड टीका का वह वाक्य है जिसमें विस्तारके लिए उक्त दोनों ग्रन्थोंको देखने का उल्लेख है। ऐसे उल्लेख यद्यपि अपने ही ग्रन्थोंके नहीं किन्तु दूसरोंके ग्रन्थोंके भी किए जाते हैं जिसके दो एक नमूने इस प्रकार हैं :—

> "तथाप्तमीमांसायां व्यासतः समर्थितत्वात् ।"
>
> "यथाचाऽभावैकान्ताविपक्षा न्यक्षेण प्रतिक्षिप्ता देवागमाप्तमीमांसायां तथेह प्रतिपत्तव्या इत्यलमिह विस्तरेण ।"
>
> —युक्त्युनुशासन टीका
>
> "इत्यादिरूपेण कृष्णादि षड्लेश्यालक्षणं गोम्मट (सार) शास्त्रादौ विस्तरेण भणितमास्ते तदत्रनोच्यते ।"
>
> —पंचास्तिकाय टीका जयसेनीया

ऐसी स्थितिमें बिना किसी प्रबल प्रमाणकी उपलब्धिके रत्नकरण्डकी टीकाके उक्त वाक्य मात्रसे, जिसे पीछे फुटनोट में दिया गया है, यह लाजमी नतीजा नहीं निकाला जा सकता कि वह टीका और उक्त दोनों ग्रंथ एकही प्रभाचंद्रकी कृतियाँ है। इसके लिए कुछ और अधिक स्पष्ट प्रमाणोंके सामने आनेकी जरूरत है।

समासौ चोपविस्य प्रणामः कर्तव्यः' इति ।

+ तदलमतिप्रसंगेन प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे प्रपंचतः प्ररूपणात् ।

हालमें समाधितन्त्र-टीकाकी मूडबिद्रीके जैनमठमें मौजूद एकताडपत्रीय प्रतिका अन्तिम पुष्पिका वाक्य प्रकाशमें आया है, जो इस प्रकार है :—

"इति' श्री जयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारा निवासिना परापरपरमेष्ठि' प्रणा-*मोपार्जितामलपुण्यनिराकृताखिलमलकलंकेन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपंडितेन समाधिशतकः टीका कृतेति।"*

इस वाक्यमें 'श्रीजयसिंह देवराज्ये' पदके साथ प्रभाचन्द्रके लिए जिन विशे-षण-पदोंका प्रयोग किया गया है वे सब वे ही हैं जो कि न्यायकुमुदचन्द्रके अन्त में दिये हुए पुष्पिका वाक्य में पाये जाते हैं। ये सब पद यदि मूल टीकाकारके पद हैं और न्यायकुमुदचन्द्रका अनुसरण करके बादको किसी दूसरेके द्वारा बढ़ाये हुए नहीं हैं तो कहना होगा कि समाधितन्त्र टीका उन्हीं प्रभाचन्द्रकी कृति है जो कि प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रके कर्ता हैं। और तदनुसार रत्न-करण्ड टीकाको भी उन्हीं प्रभाचन्द्र की कृति कहना होगा। ऐसी हालतमें इस टीकाका रचनाकाल विक्रमकी १२वीं शताब्दीका प्रथमचरण ठहरता है।

इष्टोपदेश के टीकाकार पं० आशाधर

पं० आशाधरजी जैनसमाजमें एक सुप्रसिद्ध बहुश्रुत विद्वान हो गये हैं, जिनके बनाये हुए सागारधर्मामृत जैसे ग्रन्थ और अनगारधर्मामृत जैसे ग्रन्थ स्वोपज्ञटीकाओं के साथ लोकमें खूब प्रचलित हैं। आप बघेरवाल जाति में उत्पन्न हुए थे। आपके पिताका नाम सल्लक्षण, माताका श्रीरत्नी, पत्नीका सरस्वती और पुत्रका नाम छाहड था। वे पहले मांडलगढ़ (मेवाड़) के निवासी थे, शहाबुद्दीन गौरीके हमलोंसे संत्रस्त होकर सं० १२४९ के लगभग मालवाकी राजधानी धारा में आबसे थे वे पहले सलखणपुर में रहे जो धारा के आस-पास ही कहीं स्थित था। वहां रह कर उन्होंने परमालवंशी देवपाल के राज्य में नागदेव की धर्मपत्नी के लिए, जो उक्त राज्य में चुंगी व टैक्स विभाग में काम करता था सं० १२८३ में रत्नत्रयविधि नाम की कथा संस्कृत गद्य में लिखी थी और बादको उसेभी त्यागकर जैनधर्मके प्रचारकी दृष्टिसे नलकच्छपुर (नालछा) में रहने लगे थे। यहीं रहकर आपने अपने अधिकांश ग्रंथों की

रचनाकी है। आपका जिनयज्ञकल्प (प्रतिष्ठासारोद्धार) नाम का ग्रंथ वि० सं० १२८५ में बनकर समाप्त हुआ है, जिसकी प्रशस्तिमें उन *बहुतसे ग्रन्थोंकी सूची दी गई है जो उससे पहले रचे जा चुके थे और जिनमें* १ प्रमेयरत्नाकर, २ भरतेश्वराभ्युदय काव्य, ३ धर्मामृत (दो भागोंमें अनगार सागारके भेदसे), ४ ज्ञानदीपिका, ५ अष्टाङ्गहृदयोद्योत (वैद्यक), ६ मूलाराधनादर्पण, ७ अमरकोष-टीका, ८ क्रियाकलाप, ९ काव्यालंकार-टीका, १० सहस्रनामस्तवन सटीकके नाम खास तौरसे उल्लेखनीय हैं। इसी सूची में इष्टोपदेशटीकाका भी नाम दिया है। और इससे प्रस्तुत टीका सं० १२८५ से पूर्वकी रचना है यह सुनिश्चित है। पं० आशाधरजीने सं० १२९२ में त्रिषष्ठि-स्मृतिशास्त्रकी रचना की, जिसमें श्रीजिनसेनके महापुराणके आधार पर चौबीस तीर्थंकरोंका चरित्र संक्षेपमें दिया गया है; सं० १२९६ में सागारधर्मामृतकी टीकाकी रचना समाप्त की। इस बीचमें आप नित्यमहोद्योत (जिनाभिषेक शास्त्र), राजीमती विप्रलम्भ (खन्ड काव्य) और अध्यात्म रहस्य जैसे कुछ और भी महत्वके ग्रन्थोंकी रचना कर चुके थे, जिन सबका उल्लेख अनगार-धर्मामृतकी टीका प्रशस्ति में पाया जाता है। इस टीकाके बाद आपकी किसी दूसरी कृतिका पता अभी तक नहीं चला। आपकी जो मुख्य कृतियाँ अभी तक भी अनुपलब्ध चली जाती है उनके नामहैं—१. प्रमेयरत्नाकर, २. भरतेश्वरा-भ्युदयकाव्य, ३. ज्ञानदीपिका, ४. अष्टाङ्गहृदयोद्योत, ५. अमरकोष-टीका, ६. रुद्रटकृतकाव्यालंकारटीका, ७. राजीमती विप्रलम्भ, ८. अध्यात्मरहस्य*। इन सब ग्रंथोंकी प्रयत्नपूर्वक शीघ्र खोज होनी चाहिए। इष्टोपदेशकी प्रस्तुत टीका सागरचन्द्रके शिष्य विनयचन्द्र के अनुरोधसे लिखी गई है और विषय-विवेचनकी दृष्टिसे अच्छी महत्वपूर्ण है।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा
५-५-१९३९

—जुगलकिशोर मुख्तार

---

* यह ग्रंथ वीरसेवामन्दिर से सानुवाद प्रकाशित हो चुका है।

समाधितन्त्र की विषयानुक्रमणिका

—:o:—

इष्टोपदेशकी विषयानुक्रमणिका

—:०:—

श्रीमद्देवनन्द्यपरनामपूज्यपादस्वामिविरचित--

समाधितंत्र

(मंगलाचरण)

सकल विभाव अभावकर, किया आत्म कल्यान ।
परमानन्द-सुबोधमय, नमूं सिद्ध भगवान ॥१॥

आत्म सिद्धिके मार्गका, जिसमें सुभग विधान ।
उस समाधियुत तंत्रका, करूँ सुगम व्याख्यान ॥२॥

श्रीपूज्यपाद स्वामी मोक्षके इच्छुक भव्यजीवोंको मोक्षका उपाय और मोक्षके स्वरूपको दिखलानेकी इच्छासे शास्त्रकी निर्विघ्न परिसमाप्ति आदि फलकी इच्छा करते हुए इष्ट-देवता विशेष श्रीसिद्ध परमेष्ठीको नमस्कार करते हैं ।

येनात्माऽबुद्धयतात्मैव परत्वेनैव चापरम् ।
अक्षयानन्तबोधाय तस्मै सिद्धात्मने नमः ॥१॥

अन्वयार्थ--(येन) जिसके द्वारा (आत्मा) आत्मा (आत्मा एव) आत्मा रूपसे ही (अबुद्धयत) जाना गया है (च) और (अपरं) अन्यको--कर्मजनित मनुष्यादिपर्यायरूप पुद्गलको--(परत्वेन एव) पररूपसे ही (अबुद्धयत) जाना गया है (तस्मै) उस (अक्षयानन्तबोधाय) अविनाशी अनन्तज्ञानस्वरूप (सिद्धात्मने) सिद्धात्माको (नमः) नमस्कार हो ।

भावार्थ--श्रीपूज्यपादस्वामीने श्लोकके पूर्वार्द्धमें मोक्षका उपाय और उत्तरार्द्धमें मोक्षका स्वरूप बताया है तथा सिद्ध परमात्मारूप इष्टदेवताको नमस्कार किया है । यह जीव अनादिकालसे मोह-मदिराका पान कर आत्माके निज चैतन्य स्वरूपको भूल रहा है, अचेतन विनाशीक परपदार्थोंमें आत्मबुद्धि कर रहा है, तथा चिरकालीन मिथ्यात्वरूप विपरीताभिनिवेशके सम्बन्धसे उन परपदार्थोंको अपना हितकारक समझता है और वह आत्माके उपकारी ज्ञान वैराग्यादिक पदार्थोंको, जो कर्मबंधनके छुड़ानेमें निमित्तभूत हैं, दुःखदायी समझता है । जैसे पित्तज्वर वाले रोगीको मीठा दूध कड़वा मालूम होता है, ठीक उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीवको आत्माका उपकारक मोक्षका उपाय भी विपरीत जान पड़ता है । संसारके समस्त जीव सुख चाहते हैं, और दुःखसे डरते हैं तथा उससे छूटनेका उपाय भी करते हैं, परंतु उस उपायके विपरीत होनेसे चतुर्गतिरूप संसारके दुःख से उन्मुक्त नहीं हो पाते हैं । वास्तवमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-

चारित्ररूप रत्नत्रयकी एकता ही मोक्षकी प्राप्तिका परम उपाय है। इस रत्नत्रयकी परमप्रकर्षतासे ही कर्मोंका दृढ़ बन्धन आत्मा से छूट जाता है और आत्मा अपने स्वरूपको प्राप्त कर लेता है। ग्रन्थकारने ऐसा ही आशय प्रकट किया है।

जब यह आत्मा सुगुरुके उपदेशसे या तत्त्वनिर्णयरूप संस्कारसे आत्माके स्वरूपको विपरीत बनाने वाले दर्शनमोहनीय-कर्मका उपशमादि कर सम्यक्त्व प्राप्त करता है, उस समय आत्मामेंसे विपरीताभिनिवेशके सम्बन्धसे होने वाली अचेतन-परपदार्थोंमें आत्मकल्पनारूप बुद्धि दूर हो जाती है। तभी मोक्षो-पयोगी प्रयोजनभूत जीवादि सप्ततत्त्वोंका यथार्थ श्रद्धान व परिज्ञान होता है, और परद्रव्योंसे उदासीन भावरूप चारित्र हो जाता है। इसलिये कर्मबन्धनसे छूटनेका अमोघ उपाय आत्माको आत्मरूप ही, तथा आत्मासे भिन्न कर्मजनित शरीरादि पर पदार्थोंको पर-रूप ही जानना या अनुभव करना है। पदार्थोंके यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान और आचरणसे आत्मा कर्मोंके बन्धनसे छूट जाता है, यही मोक्षकी प्राप्तिका उपाय है।

ज्ञानवरणादिक अष्ट कर्मोंसे रहित आत्माकी आत्यंतिक——अन्तमें होने वाली——अवस्थाका नाम मोक्ष है। आत्माकी यह अवस्था अत्यन्त शुद्ध और स्वाभाविक होती है–रागादिक औपाधिक भावोंसे रहित है। अथवा यों कहिये कि जीवकी यह अवस्था नित्य निरंजन निर्विकार निराकुल एवं अबाधित सुखको

लिये हुए शुद्ध चिद्रूपमय अवस्था है, जो कि सम्यक्त्वादि अनंत गुणोंका समुदाय है। इस अवस्थाको लिये हुए श्रीसिद्धपरमात्मा चरम शरीरसे किंचित् ऊन लोकके अग्रभागमें निवास करते हैं।

ग्रन्थकर्ता श्रीपूज्यपाद स्वामी ने अविनाशी अनन्तज्ञानवाले सिद्धपरमात्माको नमस्कार किया है। इससे मालूम होता है कि ग्रन्थकर्ताको शुद्धात्माके प्राप्त करनेकी उत्कट अभिलाषा थी। जो जिस गुणकी प्राप्तिका इच्छुक होता है वह उस गुणसे युक्त पुरुषको नमस्कार करता है। जैसे धनुर्विद्याके सीखनेका अभिलाषी धनुर्वेदीको नमस्कार करता है। वास्तवमें पूर्णता और कृतकृत्यताकी दृष्टिसे परमदेवपना सिद्धोंमें ही है। इसीसे उक्त श्लोकमें अक्षय-अनन्त-ज्ञानादि-स्वरूप सिद्ध परमात्माको सर्वप्रथम नमस्कार किया गया है।

अब उक्त मोक्षस्वरूप और उसकी प्राप्तिके उपायका उपदेश करने वाले सकल परमात्माकी—घातिकर्म रहित जीवन्मुक्त आत्माकी—स्तुति करते हुए आचार्य कहते हैं—

जयन्ति यस्यावदतोऽपि भारती
विभूतयस्तीर्थकृतोऽप्यनीहितुः।
शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे
जिनाय तस्मै सकलात्मने नमः ॥२॥

अन्वयार्थ--(यस्य) जिस (अनीहितुःअपि) इच्छासे भी रहित (तीर्थकृतः) तीर्थंकरकी (अवदतः अपि) न बोलते हुए भी--तालु-ओष्ठ-आदिके द्वारा शब्दोंका उच्चारण न करते हुए भी (भारतीविभूतयः) वाणीरूपी विभूतियाँ--अथवा वाणी और छत्र त्रयादिक विभूतियाँ (जयन्ति) जयको प्राप्त होती हैं (तस्मै) उस (शिवाय) [1]शिवरूप-परम कल्याण अथवा परम सौख्यमय (धात्रे) विधाता अथवा ब्रह्मरूप--सन्मार्गके उपदेश द्वारा लोकके उद्धारक (सुगताय) सुगतरूप सद्बुद्धि एवं सद्गतिको प्राप्त (विष्णवे) विष्णुरूप--केवलज्ञानके द्वारा समस्त चराचर पदार्थोंमें व्याप्त होने वाले [2](जिनाय) जिनरूप--संसारपरिभ्रमणके कारणभूत कर्मशत्रुओंको जीतने वाले [3](सकलात्मने) सकलात्माको सशरीर शुद्धात्मा अर्थात् जीवन्मुक्त अरहंत परमात्माको (नमः) नमस्कार हो ।

भावार्थ---इस श्लोकमें आचार्य महोदयने जैनधर्मके अनुसार सकल परमात्मा श्रीअरहंत भगवानका संक्षिप्त स्वरूप बतलाया है । अरहंत परमात्माका शरीर परमौदारिक है, दिव्य है, ज्ञानावरण,

---

१ शिवं परमकल्याणं निर्वाणं शान्तमक्षयं ।
प्राप्तं मुक्तिपदं येन स शिवःपरिकीर्तितः ।। —आप्तस्वरूपः

२ विश्वं हि द्रव्य पर्यायं विश्वं त्रैलोक्यगोचरम् ।
व्याप्तं ज्ञानत्विषा येन स विष्णुर्व्यापको जगत् ।।३।।

३ रागद्वेषादयो येन जिताः कर्म – महाभटाः ।
कालचक्रविनिर्मुक्तः स जिनः परिकीर्तितः ।।२१।। —आप्तस्वरूपः

दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय इन चार घातियाकर्मों विनाशसे उन्हें अनन्त चतुष्टयरूप अंतरंग विभूतियाँ प्राप्त हैं तथा समवसरणादि बाह्य विभूतियाँ भी प्राप्त हैं, परन्तु वे उन बाह्य विभूतियोंसे अलिप्त रहते हैं। मोहनीयकर्मका अभाव हो जानेसे इच्छाएं अवशिष्ट नहीं रहतीं और इसलिए समवसरणमें बिना किसी इच्छाके तालु-ओष्ठ-आदिके व्यापारसे रहित अरहंत भगवानकी भव्य जीवोंका हित करने वाली धर्मदेशना हुआ करती है। समवसरण स्तोत्रमें भी कहा है कि—

'दुःखरहित सर्वज्ञकी वह अपूर्ववाणी हमारी रक्षा करे जो सबके लिये हित रूप है, वर्णरहित (निरक्षरी) है—होटोंका हलन चलन व्यापार जिसमें नहीं होता, जो किसी प्रकारकी वांछा को लिये हुए नहीं है, न किसी दोषसे मलिन है, जिसके उच्चारणमें श्वासका रुकना नहीं होता और जिसे क्रोधादिविनिर्मुक्तों-साधुसन्तोंके साथ सकर्ण पशुओंने भी सुना है।'

इस श्लोककी टीकामें सकलपरमात्मा श्रीअरहंतके विशेषणों का खुलासा किया गया है। और उसके द्वारा यह सूचित किया गया है कि घातिया कर्मरूपी शत्रुओंको जीतने वाले, रागादि अष्टादश दोषोंसे रहित, परमवीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी अरहंत ही सच्चे शिव हैं, महादेव हैं, विधाता हैं, विष्णु हैं, सुगत हैं—अन्यमतावलम्बियोंने शिवादिका जैसा स्वरूप बताया है उससे वे वास्तविक शिव या अरहंत नहीं हो सकते हैं; क्योंकि

उस स्वरूपानुसार उनके राग, द्वेष और मोहादिक दोषोंका सद्भाव पाया जाता है ॥२॥

अब ग्रंथकार ग्रन्थके प्रतिपाद्य विषयको बतलाते हुए कहते हैं-

श्रुतेन लिंगेन यथात्मशक्ति
समाहितान्तःकरणेन सम्यक् ।
समीक्ष्य कैवल्यसुखस्पृहाणां
विविक्तमात्मानमथाभिधास्ये ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ–(अथ) परमात्माको नमस्कार करनेके अनंतर [अहं] मैं पूज्यपाद आचार्य (विविक्तं आत्मानं) कर्ममल रहित आत्माके शुद्धस्वरूपको (श्रुतेन) शास्त्रके द्वारा (लिंगेन) अनुमान व हेतुके द्वारा (समाहितान्तःकरणेन) एकाग्र मनके द्वारा (सम्यक्-समीक्ष्य) अच्छी तरह अनुभव करके (कैवल्य-सुखस्पृहाणां) कैवल्यपद-विषयक अथवा निर्मल अतीन्द्रियसुखकी इच्छा रखने वालोंके लिये (यथात्मशक्ति) अपनी शक्तिके अनुसार (अभिधास्ये) कहूंगा ।

भावार्थ–यहां पर उस शुद्धात्मस्वरूपके प्रतिपादनकी प्रतिज्ञा की गई है जिसे ग्रंथकारने शास्त्रज्ञानसे, अनुमानसे और अपने चित्तकी एकाग्रतासे भले प्रकार जाना तथा अनुभव किया है। साथ ही, यह भी बतलाया है कि यह ग्रन्थ उन भव्य पुरुषोंको लक्ष्य करके लिखा जाता है जिन्हें कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होने वाले बाधा-रहित, निर्मल, अतीन्द्रिय सुखको प्राप्त करनेकी

इच्छा है। शास्त्रसे—समयसारादि जैनागम ग्रन्थोंसे मालूम होता है कि आत्मा एक है, नित्य है, ज्ञानदर्शन-लक्षणवाला है (ज्ञाता-द्रष्टा है) और शेष संयोग-लक्षण वाले समस्त पदार्थ मेरी आत्मासे बाह्य हैं—मैं उनका नहीं हूँ और न वे मेरे हैं। अनुमानसे जाना जाता है कि शरीर और आत्मा जुदे-जुदे हैं; क्योंकि इन दोनोंका लक्षण भी भिन्न-भिन्न है। जिनका लक्षण भिन्न-भिन्न होता है वे सब भिन्न होते हैं, जैसे जल और आग। इस तरह आगम और अनुमानके सहयोगके साथ चित्तकी एकाग्रतापूर्वक आत्माका जो साक्षात् अनुभव होता है वह तीसरी चीज़ है। इन तीनोंके आधारपर ही इस ग्रन्थके रचनेकी प्रतिज्ञा की गई है ॥३॥

आत्मा कितने तरहका होता है, जिससे शुद्धात्मा ऐसा विशेष कहा जाता है, और उन आत्माके भेदोंमें किसका ग्रहण और किसका त्याग करना चाहिये? ऐसी आशंका दूर करनेके लिये आत्माके भेदोंका कथन करते हैं :—

*बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद् बहिस्त्यजेत् ॥४॥

अन्वयार्थ—(सर्वदेहिषु) सर्वप्राणियोंमें (बहिः) बहिरात्मा (अन्तः) अन्तरात्मा (च परः) और परमात्मा (इति) इस तरह

* तिपयारो सो अप्पा परमंतरबाहिरो हु देहीणं।
तत्थ परो झाइज्जइ अंतोवाएण चयहि बहिरप्पा ॥
—मोक्षप्राभृते, कुन्दकुन्दः।

(त्रिधा) तीन प्रकारका (आत्मा) आत्मा (अस्ति) है। (तत्र) आत्माके उन तीन भेदोंमेंसे (मध्योपायात्) अन्तरात्माके उपाय-द्वारा (परमं) परमात्माको (उपेयात्) अंगीकार करे—अपनावे और (बहिः) बहिरात्माको (त्यजेत्) छोड़े।

भावार्थ--आत्माकी तीन अवस्थाएँ होती हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। उनमेंसे जब तक प्रत्येक संसारी जीवकी अचेतन पुद्गल-पिंडरूप शरीरादि विनाशीक पदार्थोंमें आत्म-बुद्धि रहती है, या आत्मा जबतक मिथ्यात्व-अवस्थामें रहता है। तब तक वह 'बहिरात्मा' कहलाता है। शरीरादिमें आत्मबुद्धिका त्याग एवं मिथ्यात्वका विनाश होनेपर जब आत्मा सम्यग्दृष्टि हो जाता है तब उसे 'अन्तरात्मा' कहते हैं। उसके तीन भेद हैं—उत्तम अन्तरात्मा, मध्यम अन्तरात्मा और जघन्य अन्तरात्मा। अन्तरंग-बहिरंग-परिग्रहका त्याग करने वाले, विषय-कषायोंको जीतनेवाले और शुद्ध उपयोगमें लीन होने वाले तत्त्वज्ञानी योगीश्वर 'उत्तम अन्तरात्मा' कहलाते हैं, देशव्रतका पालन करनेवाले गृहस्थ तथा छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनि 'मध्यम अन्तरात्मा' कहे जाते हैं और तत्त्वश्रद्धाके साथ व्रतोंको न रखने वाले अविरतसम्यग्दृष्टि जीव 'जघन्य अन्तरात्मा' रूपसे निर्दिष्ट हैं।

आत्मगुणोंके घातक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय नामक चार घातियाकर्मोंका नाश करके आत्माके

अनन्त चतुष्टयरूप शक्तियोंको पूर्ण विकसित करने वाले 'परमात्मा' कहलाते हैं। अथवा आत्माकी परम विशुद्ध अवस्थाको 'परमात्मा' कहते हैं। यदि कोई कहे कि अभव्योंमें तो एक बहिरात्मावस्था ही संभव है, फिर सर्व प्राणियोंमें आत्माके तीन भेद कैसे बन सकते हैं? यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अभव्य जीवों में भी अन्तरात्मावस्था और परमात्मावस्था शक्तिरूपसे जरूर है, परन्तु उक्त दोनों अवस्थाओंके व्यक्त होनेकी उनमें योग्यता नहीं है। यदि ऐसा न माना जाय तो अभव्योंमें केवल ज्ञानावरणीय कर्मका बन्ध व्यर्थ ठहरेगा। इसलिये चाहे निकट भव्य हो, दूरान्दूर भव्य हो अथवा अभव्य हो, सबमें तीन प्रकारका आत्मा मौजूद है। सर्वज्ञमें भी भूतप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा घृत-घटके समान बहिरात्मावस्था और अन्तरात्मावस्था सिद्ध है।

आत्माकी इन तीन अवस्थाओंमेंसे जिनकी परद्रव्यमें आत्मबुद्धिरूप बहिरात्मावस्था हो रही है उनको प्रथम ही सम्यक्त्व प्राप्त कर उस विपरीताभिनिवेशमय बहिरात्मावस्थाको छोड़ना चाहिये और मोक्षमार्गकी साधक अन्तरात्मावस्थामें स्थिर होकर आत्माकी स्वाभाविक वीतरागमयी परमात्मावस्थाको व्यक्त करनेका उपाय करना चाहिये ॥४॥

अब बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मामेंसे प्रत्येकका लक्षण कहते हैं—

*बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तरः ।
चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः परमात्माऽतिनिर्मलः ॥५॥

अन्वयार्थ—(शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिः बहिरात्मा) शरीरादिकमें आत्मभ्रान्तिको धरनेवाला—उन्हें भ्रमसे आत्मा समझने वाला—बहिरात्मा है । (चित्तदोषात्मविभ्रान्तिःआन्तरः) चित्तके, रागद्वेषादिक दोषोंके और आत्माके विषयमें अभ्रान्त रहनेवाला —उनका ठीक विवेक रखनेवाला अर्थात् चित्तको चित्तरूपसे, दोषोंको दोषरूपसे और आत्माको आत्मरूपसे अनुभव करनेवाला—अन्तरात्मा कहलाता है । (अतिनिर्मलः परमात्माः) सर्व कर्ममलसे रहित जो अत्यन्त निर्मल है वह परमात्मा है ।

भावार्थ-मोक्षमार्गमें प्रयोजनभूत तत्त्वोंका जैसा स्वरूप जिनेन्द्र देवने बताया है उसको वैसा न मानने वाला बहिरात्मा अथवा मिथ्यादृष्टि कहलाता है । दर्शनमोहके उदयसे जीवमें अजीवकी कल्पना और अजीवमें जीवकी कल्पना होती है, दुखदाई रागद्वेषादिक विभाव भावोंको सुखदाई समझ लिया जाता है, आत्माके हितकारी ज्ञान वैराग्यादि पदार्थोंको अहितकारी जानकर उनमें अरुचि अथवा द्वेषरूप प्रवृत्ति होती है और कर्मबंधके शुभाशुभ फलोंमें राग, द्वेष होनेसे उन्हें अच्छे बुरे मान लिया

---

* अक्खाणि बाहिरप्पा अंतरप्पा हु अप्प-संकप्पो ।
कम्म-कलंक-विमुक्को परमप्पा भण्णए देवो ॥५॥
—मोक्षप्राभृते, कुन्दकुन्दः

जाता है। साथही, इच्छाएँ बलवती होती जाती हैं, विषयोंकी चाहरूप दावानलमें जीव दिन रात जलता रहता है। इसीलिये आत्मशक्तिको खो देता है और आकुलता रहित मोक्ष सुखके खोजने अथवा प्राप्त करनेका कोई प्रयत्न नहीं करता। इस प्रकार जातितत्त्व और पर्यायतत्त्वोंका यथार्थ परिज्ञान न रखनेवाला जीव मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है। चैतन्य लक्षणवाला जीव है, इससे विपरीत लक्षणवाला अजीव है, आत्माका स्वभाव ज्ञाता-द्रष्टा है, अमूर्तिक है और ये शरीरादिक परद्रव्य हैं, पुद्गलके पिंड हैं, विनाशीक हैं, जड़ हैं, मेरे नहीं हैं और न मैं इनका हूँ, ऐसा भेदविज्ञान करनेवाला सम्यग्दृष्टि 'अन्तरात्मा' कहलाता है। अत्यन्त विशुद्ध आत्माको 'परमात्मा' कहते हैं, परमात्माके दो भेद हैं—एक सकलपरमात्मा दूसरा निष्कलपरमात्मा। जो चार घातिया कर्ममलसे रहित होकर अनन्तज्ञानादि चतुष्टयरूप अन्तरंगलक्ष्मी और समवसरणादिरूप बाह्यलक्ष्मीको प्राप्त हुए हैं उन सर्वज्ञ वीतराग परमहितोपदेशी आत्माओंको 'सकलपरमात्मा' या 'अरहन्त' कहते हैं। और जिन्होंने सम्पूर्ण कर्ममलोंका नाश कर दिया है, जो लोकके अग्रभागमें स्थित हैं, निजानन्द निर्भर-निजरसका पान किया करते हैं तथा अनन्तकाल तक आत्मोत्थ स्वाधीन निराकुल सुखका अनुभव करते हैं उन कृतकृत्योंको 'निष्कलपरमात्मा' या 'सिद्ध' कहते हैं ॥५॥

अब परमात्माके वाचक अन्य प्रसिद्ध नाम बतलाते हैं—

निर्मलः केवलः शुद्धो विविक्तः प्रभुरव्ययः ।
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः ॥६॥

अन्वयार्थ—(निर्मलः) निर्मल—कर्मरूपीमलसेरहित (केवलः) केवलशरीरादिपरद्रव्यके सम्बंधसे रहित (शुद्धः) शुद्ध—द्रव्य और भावकर्मसे रहित होकर परमविशुद्धिको प्राप्त (विविक्तः) विविक्त—शरीर और कर्मादिके स्पर्शसे रहित (प्रभुः) प्रभु—इन्द्रादिकोंका स्वामी (अव्ययः) अव्यय—अपने अनन्त चतुष्टयरूप स्वभावसे च्युत न होने वाला (परमेष्ठी) परमपदमें स्थिर (परात्मा) परमात्मा—संसारी जीवोंसे उत्कृष्ट आत्मा (ईश्वरः) ईश्वर—अन्य जीवोंमें असम्भव ऐसी विभूतिका धारक और (जिनः) जिन—ज्ञानावरणादि सम्पूर्ण कर्म शत्रुओंको जीतनेवाला (इति परमात्मा) ये परमात्माके नाम हैं ।

भावार्थ—आत्मा अनंत गुणोंका पिण्ड है । परमात्मामें उन सब गुणोंके पूर्ण विकसित होनेसे परमात्माके उन गुणोंकी अपेक्षा अनन्त नाम हैं । इसीसे परमात्माको अजर, अमर, अक्षय, अरोग, अभय, अविकार, अज, अकलंक, अशंक, निरंजन, सर्वज्ञ, वीतराग, परमज्योति, बुद्ध, आनन्दकन्द, शास्ता और विधाता जैसे नामोंसे भी उल्लेखित किया जाता है ॥६॥

अब यह दिखलाते हैं कि बहिरात्माके देहमें आत्मत्व बुद्धि होनेका क्या कारण है—

*बहिरात्मेन्द्रियद्वारैरात्मज्ञानपराङ्मुखः ।
स्फुरितःस्वात्मनो + देहमात्मत्वेनाध्यवस्यति ॥७॥

अन्वयार्थ—[यतः] चूंकि (बहिरात्मा) बहिरात्मा (इन्द्रियद्वारैः) इन्द्रियद्वारोंसे (स्फुरितः) बाह्य पदार्थोंके ग्रहण करनेमें प्रवृत्त हुआ (आत्मज्ञानपराङ्मुखः) आत्मज्ञानसे पराङ्मुख [भवति, ततः] होता है इसलिये (आत्मनः देहं) अपने शरीरको (आत्मत्वेन अध्यवस्यति) आत्मरूपसे निश्चय करता है—अपना आत्मा समझता है ?

भावार्थ—मोहके उदयसे बुद्धिका विपरीत परिणमन होता है। इसी कारण बहिरात्मा इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहणमें आने वाले बाह्य मूर्तिक पदार्थों को ही अपने मानता है । उसे अभ्यन्तर आत्मतत्त्वका कुछ भी ज्ञान या प्रतिभास नहीं होता है । जिस प्रकार धतूरेका पान करने वाले पुरुषको सब पदार्थ पीले मालूम पड़ते हैं, ठीक उसी प्रकार मोहके उदयसे उन्मत्त हुए जीवोंको अचेतन शरीरादि पर पदार्थ भी चेतन और स्वकीय जान पड़ते हैं। इसी दृष्टिविकारसे आत्माको अपने वास्तविक स्वरूपका परिज्ञान नहीं हो पाता, और इसलिये यह जीवात्मा शरीरको

---

* बहिरत्थे फुरियमणो इंदियदारेण णियसरूवचओ ।
णियदेहं अप्पाणं अज्झवसदि मूढदिट्ठीओ ॥ ८ ॥
—मोक्षप्राभृते, कुन्दकुन्दः ।

\+ "स्फुरितश्चात्मनो देहं" इत्यपि पाठान्तरं ।

उत्पत्तिसे अपनी उत्पत्ति और शरीरके विनाशसे अपना विनाश समझता है ॥७॥

इसी बातको स्पष्ट करते हुए मनुष्यादि चतुर्गतिसम्बन्धी शरीर भेदसे जीवभेदकी मान्यताको बतलाते हैं—

***नरदेहस्थमात्मानमविद्वान् मन्यते नरम् ।**
तिर्यंचं तिर्यगङ्गस्थं सुराङ्गस्थं सुरं तथा ॥८॥
नारकं नारकाङ्गस्थं न स्वयं तत्त्वतस्तथा ।
अनंतानंतधीशक्तिः स्वसंवेद्योऽचलस्थितिः ॥९॥

अन्वयार्थ—(अविद्वान्) मूढ बहिरात्मा (नरदेहस्थं) मनुष्य-देहमें स्थित (आत्मानं) आत्माको (नरम्) मनुष्य, (तिर्यगङ्गस्थं) तिर्यंच शरीरमें स्थित आत्माको (तिर्यंचं) तिर्यंच (सुराङ्गस्थं) देवशरीरमें स्थित आत्माको (सुरं) देव (तथा) और (नारकाङ्गस्थं) नारकशरीरमें स्थित आत्माको (नारकं) नारकी (मन्यते) मानता है। किन्तु (तत्त्वतः) वास्तवमें—शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे (स्वयं) कर्मोपाधिसे रहित खुद आत्मा (तथा न) मनुष्य, तिर्यंच, देव और नारकीयरूप नहीं है (तत्त्वतस्तु) निश्चय नयसे तो यह आत्मा (अनंतानंतधीशक्तिः) अनन्तानन्त ज्ञान और अनन्तानन्त-

---

* "सुरं त्रिदशपर्यायैर्नृपर्यायैस्तथा नरम् ।
तिर्यंचं च तदङ्गे स्वं नारकाङ्गे च नारकम् ॥ ३२-१३ ॥
वेत्त्यविद्यापरिश्रान्तो मूढस्तन्न पुनस्तथा ।
किन्त्वमूर्तं स्वसंवेद्यं तद्रूपं परिकीर्तितम् ॥ -१४ ॥"
—ज्ञानार्णवे, शुभचंद्रः ।

शक्तिरूप वीर्यका धारक है। (स्वसंवेद्यः) स्वानुभवगम्य है—अपने द्वारा आप अनुभव किये जाने योग्य है और (अचलस्थितिः) अपने उक्त स्वभावसे कभी च्युत न होने वाला—उसमें सदा स्थिर रहने वाला है।

भावार्थ—यह अज्ञानी आत्मा कर्मोदयसे होने वाली नर-नारकादिपर्यायोंको ही अपनी सच्ची अवस्था मानता है। उसे ऐसा भेदविज्ञान नहीं होता कि मेरा स्वरूप इन दृश्यमान पर्यायोंसे सर्वथा भिन्न है। भले ही इन पर्यायोंमें यह मनुष्य है, यह पशु है इत्यादि व्यवहार होता है, परन्तु ये सब अवस्थाएँ कर्मोदयजन्य हैं, जड़ हैं और आत्माका वास्तविक स्वरूप इनसे भिन्न कर्मोपाधिसे रहित शुद्ध चैतन्यमय टंकोत्कीर्ण एक ज्ञाता द्रष्टा है, अभेद्य है, अनन्तानन्तशक्तिको लिये हुए है, ऐसा विवेक ज्ञान उसको नहीं होता। इसी कारण संसारके परपदार्थोंमें व मनुष्यादि पर्यायोंमें अहंबुद्धि करता है, उनको आत्मा मानता है और सांसारिक विषय सामग्रियोंके संचय करने एवं उनके उपभोग करनेमें ही लगा रहता है। साथ ही, उनके संयोग-वियोगमें हर्ष-विषाद करता रहता है। परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव भेद-विज्ञानी होता है, वह इन पर्यायोंको कर्मोदयजन्य मानता है और आत्माके चैतन्यस्वरूपका निरन्तर अनुभव करता रहता है तथा पर-पदार्थोंको अपनी आत्मासे भिन्न जड़रूप ही निश्चय करता है। इसी कारण पंचेन्द्रियोंके विषयोंमें उसे गृद्धता नहीं होती और न

वह इष्टवियोग-अनिष्टसंयोगादिमें दुखी ही होता है इसलिये आत्महितैषियोंको चाहिये कि बहिरात्मावस्थाको अत्यन्त हेय समझकर छोड़ें और सम्यग्दृष्टि अंतरात्मा होकर समीचीन मोक्षमार्गका साधन करें ॥ ८-९ ॥

अपने शरीरमें ऐसी मान्यता रखनेवाला बहिरात्मा दूसरेके शरीरमें कैसी बुद्धि रखता है, इसे आगे बतलाते हैं--

स्वदेहसदृशं दृष्ट्वा परदेहमचेतनम्* ।

परात्माधिष्ठितं मूढः परत्वेनाध्यवस्यति ॥१०॥

अन्वयार्थ--(मूढ़:) अज्ञानी बहिरात्मा (परात्माधिष्ठितं) अन्यकी आत्मासहित (अचेतनं) चेतनारहित (परदेहं) दूसरेके शरीरको (स्वदेहसदृशं) अपने शरीरके समान इन्द्रियव्यापार तथा वचनादि व्यवहार करता हुआ (दृष्ट्वा) देखकर (परत्वेन) परका आत्मा (अध्यवस्यति) मान लेता है ।

भावार्थ--अज्ञानी बहिरात्मा जैसे अपने शरीरको अपना आत्मा समझता है उसी प्रकार स्त्री-पुत्र-मित्रादिके अचेतन शरीरको स्त्री-पुत्र-मित्रादिका आत्मा समझता है और अपने

---

* णियदेहसरित्थं पिच्छिऊण परविग्गहं पयत्तेण ।
अच्चेयणं पि गहियं झाइज्जइ परमभाएण ॥ ९ ॥
—मोक्षप्राभृते, कुन्दकुन्दः ।

स्वशरीरमिवान्विष्य पराङ्गं च्युतचेतनम् ।
परमात्मानमज्ञानी परबुद्ध्याऽध्यवस्यति ॥ ३२-१५ ॥
—ज्ञानार्णवे, शुभचंद्रः ।

शरीरके विनाशसे जैसे अपना विनाश समझता है ठीक उसी प्रकार उनके शरीरके विनाशसे उनका विनाश मानता है, अपने लिये जैसे सांसारिक वैषयिक सुखोंको हितकारी समझता है; दूसरोंके लिये भी उन्हें हितकारी मानता है; सांसारिक सम्पत्तियोंके समागममें सुखकी कल्पना करता है और उनकी अप्राप्तिमें दुःखका अनुभव, अपने स्वार्थके साधकों पर प्रेम करता है और जिनसे अपना कुछ भी लौकिक प्रयोजन सिद्ध नहीं होता उनसे द्वेषबुद्धि रखता है। इस प्रकार बहिरात्माकी शरीरमें आत्मबुद्धि रहती है ॥१०॥

इस प्रकारकी मान्यतासे बहिरात्माकी परिणति किस रूप होती है उसे दिखाते हैं—

स्वपराध्यवसायेन देहेष्वविदितात्मनाम्* ।
वर्तते विभ्रमः पुंसां पुत्रभार्यादिगोचरः ॥११॥

अन्वयार्थ—(अविदितात्मनां पुंसां) आत्माके स्वरूपको नहीं जानने वाले पुरुषोंके (देहेषु) शरीरोंमें (स्वपराध्यवसायेन) अपनी और परकी आत्ममान्यतासे (पुत्रभार्यादिगोचरः) स्त्री-पुत्रादिविषयक (विभ्रमः वर्तते) विभ्रम होता है।

भावार्थ—यह अज्ञानी बहिरात्मा अपनी आत्माके चैतन्य-

---

* सपरज्झवसाएणं देहेसु य अविदिदत्थमप्पाणं ।
सुयदाराईविसए मणुयाणं वड्ढए मोहो ॥१०॥
—मोक्षप्राभृते, कुन्दकुन्दः ।

स्वरूपको न जानकर अपने शरीरके साथ स्त्री-पुत्र-मित्रादिकके शरीर-सम्बन्धको ही अपनी आत्माका सम्बन्ध समझता है और इसी कारण उनको अपना उपकारक मानता है, उनकी रक्षाका यत्न करता है, उनके संयोग तथा वृद्धिमें सुखी होता है, उनके वियोगमें अत्यन्त व्याकुल हो उठता है। और यदि कदाचित् उनका बर्ताव अपने प्रतिकूल देखता है तो अत्यन्त शोक भी करता है तथा भारी दुःख मानता है। वस्तुतः जिस प्रकार पक्षीगण नाना दिग्देशोंसे आकर रात्रिमें एक वृक्ष पर बसेरा लेते हैं और प्रातःकाल होते ही सबके सब अपने-अपने अभीष्ट (इच्छित) स्थानोंको चले जाते हैं। उसी प्रकार ये संसारके समस्त जीव नाना गतियों से आकर कर्मोदयानुसार एक कुटुम्बमें जन्म लेते हैं व रहते हैं। यह मूढ़ात्मा व्यर्थ ही उनमें निजत्व-की बुद्धि धारणकर आकुलित होता है। अन्तरात्माकी ऐसी बुद्धि न होनेसे वह परद्रव्य में आसक्त नहीं होता, और इसीसे स्त्री-पुत्रादि-विषयक विभ्रमसे बचा रहता है ॥११॥

स्त्री पुत्रादिमें ममत्वबुद्धि-धारणरूप विभ्रमका क्या परिणाम होता है, उसे बतलाते हैं—

अविद्यासंज्ञितस्तस्मात्संस्कारो जायते दृढः*।
येन लोकोऽङ्गमेव स्वं पुनरप्यभिमन्यते ॥१२॥

---

* मिच्छाणाणेसु रओ मिच्छाभावेण भाविओ संतो ।
मोहोदयेण पुणरवि अंगं सम्मण्णए मणुओ ॥११॥
—मोक्षप्राभृते, कुन्दकुन्दः ।

अन्वयार्थ--(तस्मात्) उस विभ्रमसे (अविद्यासंज्ञितः) अविद्या नामका (संस्कारः) संस्कार (दृढः) दृढ़-मज़बूत (जायते) हो जाता है (येन) जिसके कारण (लोकः) अज्ञानी जीव (पुनरपि) जन्मान्तरमें भी (अंगमेव) शरीरको ही (स्वं अभिमन्यते) आत्मा मानता है।

भावार्थ--यह जीव अनादिकालीन अविद्याके कारण कर्मोदयजन्य पर्यायोंमें आत्मबुद्धि धारण करता है--कर्मके उदयसे जो भी पर्याय मिलती है, उसीको अपना आत्मा समझ लेता है, और इस तरह उसका यह अज्ञानात्मक संस्कार जन्मजन्मान्तरोंमें भी बना रहनेसे बराबर दृढ़ होता चला जाता है। जिस प्रकार पत्थरमें रस्सी आदि की नित्यकी रगड़से उत्पन्न हुए चिन्ह बड़ी कठिनतासे दूर करनेमें आते हैं। उसी प्रकार आत्मामें उत्पन्न हुए इन अविद्याके संस्कारोंका दूर करना भी बड़ा ही कठिन हो जाता है ॥१२॥

अब बहिरात्मा और अन्तरात्माका स्पष्ट कर्तव्य-भेद बतलाते हैं--

देहे स्वबुद्धिरात्मानं युनक्त्येतेन निश्चयात् ।
स्वात्मन्येवात्मधीस्तस्माद्वियोजयति देहिनं ॥१३॥

अन्वयार्थ--(देहे स्वबुद्धिः) शरीरमें आत्मबुद्धि रखनेवाला बहिरात्मा (निश्चयात्) निश्चयसे (आत्मानं) अपनी आत्मा-

को एतेन) शरीरके साथ (युनक्ति) जोड़ता—बांधता है। किन्तु (स्वात्मनि एव आत्मधी:) अपनी आत्मामें ही आत्मबुद्धि रखने वाला अन्तरात्मा (देहिनं) अपनी आत्माको (तस्मात्) शरीरके सम्बन्धसे (वियोजयति) पृथक् करता है।

भावार्थ—मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा शरीरको ही आत्मा मानता है और इस प्रकारकी मान्यतासे ही आत्माके साथ नये-नये शरीरोंका सम्बन्ध होता रहता है, जिससे यह अज्ञानी-जीव अनन्तकाल तक इस गहन-संसार-वनमें भटकता फिरता है और कर्मोंके तीव्रतापसे सदा पीड़ित रहता है। जब शरीरसे ममत्व छूट जाता है अर्थात् शरीरको अपने चैतन्यस्वरूपसे भिन्न पुद्गलका पिंड समझ लिया जाता है और आत्माके निज ज्ञान-दर्शन स्वरूपमें ही आत्मबुद्धि हो जाती है तब यह जीव सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा होकर तपश्चरण अथवा ध्यानादिकके द्वारा अपने आत्माको शरीरादिकके बन्धनसे सर्वथा पृथक् कर लेता है और सदाके लिए मुक्त हो जाता है। अतएव बहिरात्मबुद्धिको छोड़कर अन्तरात्मा होना चाहिए और परमात्मपदको प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये ॥ १३ ॥

शरीरोंमें आत्माके सम्बन्धको जोड़नेवाले बहिरात्माके निन्दनीय व्यापारको दिखाते हुए आचार्य महोदय अपना खेद प्रकट करते हैं—

देहेष्वात्मधिया जाताः पुत्रभार्यादिकल्पनाः ।
सम्पत्तिमात्मनस्ताभि र्मन्यते हा हतं जगत् ॥१४॥

अन्वयार्थ—(देहेषु) शरीरोंमें (आत्मधिया) आत्मबुद्धि होनेसे (पुत्रभार्यादिकल्पनाः) मेरा पुत्र, मेरी स्त्री इत्यादि कल्पनाएँ (जाताः) उत्पन्न होती हैं (हा) खेद है कि (जगत्) बहिरात्मस्वरूप प्राणिगण (ताभिः) उन कल्पनाओंके कारण (सम्पत्ति) स्त्री पुत्रादिकी समृद्धिको [आत्मनः] अपनी समृद्धि (मन्यते) मानता है और इस प्रकार यह जगत् (हतं) नष्ट हो रहा है ।

भावार्थ—जब तक इस जीवकी देहमें आत्म बुद्धि रहती है तब तक इसे अपने निराकुल निजानन्द रसका स्वाद नहीं आता, न अपनी अनन्तचतुष्टयरूप सम्पत्तिका भान (ज्ञान) होता है और तभी यह संसारी जीव स्त्री-पुत्र-मित्र-धन-धान्यादि सम्पत्तियोंको अपनी मानता हुआ उनके संयोग-वियोगमें हर्ष-विषाद करता है तथा फलस्वरूप अपने संसार परिभ्रमणको बढ़ाता जाता है । इसीसे आचार्य महोदय ऐसे जीवोंकी इस विपरीत बुद्धि पर खेद प्रकट करते हुए कहते हैं कि 'हाय ! यह जगत् मारा गया !' ठगा गया, इसे अपना कुछ भी चेत नहीं रहा ॥ १४ ॥

अब बहिरात्माके स्वरूपादिका उपसंहार करके देहमें आत्मबुद्धिको छोड़नेकी प्रेरणाके साथ अन्तरात्मा होनेका उपदेश देते हुए कहते हैं—

मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः ।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—(देहे) इस जड शरीरमें (आत्मधीः एव) आत्मबुद्धिका होना ही (संसारदुःखस्य) संसारके दुःखोंका (मूलं) कारण है । (ततः) इसलिए (एनां) शरीरमें आत्मत्वकी मिथ्या कल्पनाको (त्यक्त्वा) छोड़ कर (बहिरव्यापृतेन्द्रियः) बाह्य विषयोंमें इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिको रोकता हुआ (अन्तः) अन्तरंगमें अर्थात् आत्मामें ही (प्रविशेत्) प्रवेश करे ।

भावार्थ—संसारके जितने भी दुःख और प्रपंच हैं वे सब शरीरके साथ ही होते हैं । जब तक इस जीवकी बाह्यपदार्थोंमें आत्मबुद्धि रहती है तब तक ही आत्मासे शरीरका सम्बन्ध होता रहता है और घोर दुःखोंको भोगना पड़ता है । जब इस जीवका शरीरादि परद्रव्योंसे सर्वथा ममत्वभाव छूट जाता है तब किसी भी बाह्यपदार्थमें अहंकार-ममकाररूप बुद्धि नहीं होती तथा तत्त्वार्थका यथार्थ श्रद्धान होनेसे आत्मा परम सन्तुष्ट होता है । और साधकभावकी पूर्णता होने पर स्वयमेव साध्यरूप बन जाता है । इसी कारण इस ग्रंथमें ग्रंथकारने समस्त दुःखोंकी जड़ शरीरमें आत्मबुद्धिका होना बताया है और उसके छुड़ानेकी प्रेरणाकी है । अतः संसारके समस्त दुःखोंका मूल कारण देहमें आत्मकल्पनारूप बुद्धिका परित्यागकर अन्तरात्मा होना चाहिये, जिससे घोर दुखोंसे छुटकारा मिले और सच्चे निराकुल सुखकी प्राप्ति होवे ॥१५

अपनी आत्मामें आत्मबुद्धि धारण करता हुआ अन्तरात्मा जब अलब्ध लाभसे सन्तुष्ट होता है तब अपनी पहली बाहिरात्मावस्थाका स्मरण करके विषाद करता हुआ विचारता है—

मत्तश्च्युत्वेन्द्रियद्वारैः पतितो विषयेष्वहम् ।
तान् प्रपद्याऽहमिति मां पुरा वेद न तत्त्वतः ॥१६॥

अन्वयार्थ——(अहं) मैं (पुरा) अनादिकालसे (मत्तः) आत्मस्वरूपसे (च्युत्वा) च्युत होकर (इन्द्रियद्वारैः) इन्द्रियोंके द्वारा (विषयेषु) विषयोंमें (पतितः) पतित हुआ हूँ——अत्यासक्तिसे प्रवृत्त हुआ हूँ [ततः] इसी कारण (तान्) उन विषयोंको (प्रपद्य) अपने उपकारक समझ कर मैंने (तत्त्वतः) वास्तवमें (मां) आत्माको [अहं इति] मैं ही आत्मा हूँ इस रूपसे (न वेद) नहीं जाना—अर्थात् उस समय शरीरको ही आत्मा समझनेके कारण मुझे आत्माके यथार्थ स्वरूपका परिज्ञान नहीं हुआ।

भावार्थ——जब तक इस जीवको अपने चैतन्य स्वरूपका यथार्थ परिज्ञान नहीं होता तभी तक इसे बाह्य इन्द्रियोंके विषय सुन्दर और सुखदाई मालूम पड़ते हैं। जब चैतन्य और जड़का भेद-विज्ञान हो जाता है और अपने निराकुल चिदानन्दमयी सुधारसका स्वाद आने लगता है तब ये बाह्य इन्द्रियोंके विषय बड़े ही असुन्दर और काले विषधरके समान मालूम पड़ते हैं। कहा भी है—

"जायन्ते विरसा रसा विघटते गोष्ठी कथा कौतुकं,
शीर्यन्ते विषयास्तथा विरममति प्रीतिः शरीरेऽपि च।

जोषं वागपि धारयंत्यविरतानंदात्मनः स्वात्मन-
श्चितायामपि यातुमिच्छतिमनो दोषैः समं पंचताम् ।"

अर्थात्—आत्माका अनुभव होने पर रस विरस हो जाता है, गोष्ठी कथा और कौतुकादि सब नष्ट हो जाते हैं, विषयोंसे सम्बन्ध छूट जाता है, शरीरसे भी ममत्व नहीं रहता, वाणी भी मौन धारण कर लेती है और आत्मा सदा अपने शांत रसमें लीन हो जाता है तथा मनके दोषोंके साथ साथ चिंता भी दूर हो जाती है।

इसी कारण यह जीव जिन भोगोंको पहले मिथ्यात्व दशा-में सुखका कारण समझकर भोगा करता था उन्हींके लिए सम्य-ग्दृष्टि अन्तरात्मा होने पर पश्चात्ताप करने लगता है। यह सब भेदविज्ञानकी महिमा है ॥ १६ ॥

अब आचार्य आत्माको जाननेका उपाय प्रकट करते हुए कहते हैं—

एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषतः ।
एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः ॥१७॥

अन्वयार्थ—(एवं) आगे कहे जानेवाली रीतिके अनुसार (बहिर्वाचं) बाह्यार्थवाचक वचन प्रवृत्तिको (त्यक्त्वा) त्यागकर (अन्तः) अन्तरंग वचनप्रवृत्तिको भी (अशेषतः) पूर्णतया (त्यजेत्) छोड़ देना चाहिये। (एषः) यह बाह्याभ्यन्तररूपसे जल्पत्यागलक्षणवाला (योगः) योग—स्वरूपमें चित्तनिरोध-

लक्षणात्मक समाधि ही (समासेन) संक्षेपसे (परमात्मनः) परमात्माके स्वरूपका (प्रदीपः) प्रकाशक है।

भावार्थ—स्त्री-पुत्र-धन-धान्यादि-विषयक बाह्य वचनव्यापारको और मैं सुखी हूँ, दुखी हूँ, शिष्य हूँ इत्यादि अन्तरंगजल्पको हटाकर चित्तकी एकाग्रताका जो सम्पादन करना है वही योग अथवा समाधि है और वही परमात्मस्वरूपका प्रकाशक है। जिस समय आत्मा इन बाह्य और आभ्यन्तर मिथ्या विकल्पोंका परित्याग कर देता है, उसी समय वह इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिसे हटकर निज स्वरूपमें लीन हो जाता है और शुद्ध आत्मस्वरूपका साक्षात्कार कर लेता है।

वास्तवमें यह समाधि ही जन्म-जरा-मरणरूप आतापको मिटानेवाली परम औषधि है और परमात्मपदकी प्राप्तिका अमोघ उपाय है। ऐसी समाधिका निरन्तर अभ्यास करना चाहिए।१७।

अब अन्तरंग और बहिरंग वचनकी प्रवृत्तिके छोड़नेका उपाय बताते हैं—

***यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।**
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम् ॥१८॥

अन्वयार्थ—(मया) इन्द्रियोंके द्वारा मुझे (यत्) जो (रूप)

---

* जं मया दिस्सदे रूवं तं ण जाणादि सव्वहा।
जाणगं दिस्सदे णं तं तम्हा जंपेमि केणहं ॥२९॥
—मोक्षप्राभृते, कुन्दकुन्दः।

शरीरादिकरूपी पदार्थ (दृश्यते) दिखाई दे रहा है (तत्) वह अचेतन होनेसे (सर्वथा) बिल्कुल भी (न जानाति) नहीं जानता और (जानत रूपं) जो पदार्थोंको जानने वाला चैतन्यरूप है वह (न दृश्यते) मुझे इन्द्रियोंके द्वारा दिखाई नहीं देता (ततः अहं) इस लिये मैं (केन) किसके साथ (ब्रवीमि) बात करूं।

भावार्थ—जो अपनेको दिखाई पड़े और अपने अभिप्राय को समझे उसीके साथ बात-चीत करना या बोलना उचित है। इसी आशयको लेकर अन्तरात्मा द्रव्यार्थिकनयको प्रधानकर अपने मनको समझाता है कि—जो जाननेवाला चैतन्य द्रव्य है वह तो मुझे दिखाई नहीं देता और जो इन्द्रियोंके द्वारा रूपी शरीरादिक जड़ पदार्थ दिखाई दे रहे हैं वे चेतनारहित होनेसे कुछ भी नहीं जानते हैं, तब मैं किससे बात करूं? किसीसे भी वार्तालाप करना नहीं बनता। इसलिए मुझे अब चुपचाप [मौनयुक्त] रहना ही मुनासिब है। ग्रन्थकार श्री पूज्यपाद स्वामीने विभाव-भाव रूप झंझटोंसे छूटने और वचनादिको वशमें करनेका यह अच्छा सरल एवं उत्तम उपाय बतलाया है ॥१८॥

इस प्रकार बाह्य विकल्पोंके त्यागका प्रकार बतलाकर अब आभ्यन्तर विकल्पोंके छुड़ानेका यत्न करते हुए आचार्य कहते हैं—

यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान् प्रतिपादये।
उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः ॥१९॥

अन्वयार्थ—(अहं) मैं (परैः) उपाध्याय आदिकोंसे (यत्-प्रतिपाद्यः) जो कुछ प्रतिपादित किया जाता हूँ तथा (परान्) शिष्यादिकोंको (यत् प्रतिपादये) जो कुछ प्रतिपादन करता हूँ [तत्] वह सब (मे) मेरी (उन्मत्तचेष्टितं) पागलों जैसी चेष्टा है (यदहं) क्योंकि मैं (निर्विकल्पकः) विकल्प रहित हूँ—वास्तवमें मैं इन सभी वचन-विकल्पोंसे अग्राह्य हूँ ।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि अन्तरात्माके लिये उचित है कि वह अपने निज स्वरूपका अनुभव करे । मैं राजा हूँ, रंक हूँ, दीन हूँ, धनी हूँ, गुरु हूँ, शिष्य हूँ इत्यादि अनेक विकल्प हैं जिनसे आत्माका वास्तविक स्वरूप प्रकट नहीं हो सकता । अतएव ऐसे विकल्पोंका परित्याग करना चाहिये और यह समझना चाहिए कि आत्माका स्वरूप निर्विकल्पक चैतन्य ज्योतिर्मय है ॥१९॥

उसी निर्विकल्पक स्वरूपका निरूपण करते हुए कहते हैं—

यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापिमुञ्चति ।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥२०॥

अन्वयार्थ—(यत्) जो शुद्धात्मा (अग्राह्यं) ग्रहण न करने योग्यको (न गृह्णाति) ग्रहण नहीं करता है और (गृहीतं अपि) ग्रहण किये गये अनन्तज्ञानादि गुणोंको (न मुञ्चति) नहीं छोड़ता है तथा (सर्वं) सम्पूर्ण पदार्थोंको (सर्वथा) सर्व प्रकारसे (जानाति) जानता है (तत्) वही (स्वसंवेद्यं) अपने द्वारा ही अनुभवमें आने योग्य चैतन्यद्रव्य (अहं अस्मि) मैं हूँ ।

भावार्थ—जबतक आत्मामें अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त-सुख और अनन्तवीर्य अथवा क्षायिक सम्यक्त्वादि गुणोंका विकास नहीं होता तबतक ही आत्मा विभाव-भावोंसे मलिन होकर अग्राह्यका ग्राहक होता है अथवा कर्मोंका कर्ता और भोक्ता कहलाता है; किन्तु जब समस्त विभाव-भावोंका अभावकर आत्मा सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञाता-द्रष्टा हुआ आत्मद्रव्यमें स्थिर हो जाता है तब वह अपने गृहीत स्वरूपसे च्युत नहीं होता और तभी उसे परमब्रह्म या परमात्मा कहते हैं। जीवकी यह स्थिति ही उसकी वास्तविक स्थिति है ॥२०॥

'इस प्रकारके आत्मज्ञानके पूर्व मेरी कैसी चेष्टा थी', अन्त-रात्माके इस विचारका उल्लेख करते हैं—

उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः स्थाणौ यद्वद्विचेष्टितम् ।
तद्वन्मे चेष्टितं पूर्वं देहादिष्वात्मविभ्रमात् ॥२१॥

अन्वयार्थ—(स्थाणौ) स्थाणुमें (उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः) उत्पन्न हो गई है पुरुषपनेकी भ्रान्ति जिसको ऐसे मनुष्यको (यद्वत्) जिस प्रकार (विचेष्टितम्) विकृत अथवा विपरीत चेष्टा होती है (तद्वत्) उसी प्रकारकी (देहादिषु) शरीरादिक परपदार्थोंमें (आत्मविभ्रात्) आत्माका भ्रम होनेसे (पूर्वं) आत्मज्ञानसे पहले (मे) मेरी (चेष्टितम्) चेष्टा थी।

भावार्थ—अन्तरात्मा विचारता है कि जैसे कोई पुरुष

भ्रमसे वृक्षके ठूंठको पुरुष समझकर उसके अपने उपकार-अपकारादिकी कल्पना करके सुखी-दुखी होता है उसी तरह मैं भी आत्मज्ञानसे पूर्वकी मिथ्यात्व अवस्थामें भ्रमसे शरीरादिकको आत्मा समझकर उससे अपने उपकार अपकारादिकी कल्पना करके सुखी-दुखी हुआ हूँ ॥ २१ ॥

अब आत्मज्ञान हो जानेसे मेरी किस प्रकारकी चेष्टा हो गई है उसे बतलाते हैं--

यथाऽसौ चेष्टते स्थाणौ निवृत्ते पुरुषाग्रहे ।
तथा चेष्टोऽस्मि देहादौ विनिवृत्तात्मविभ्रमः ॥२२॥

अन्वयार्थ—(असौ) जिसको वृक्षके ठूंठमें पुरुषका भ्रम हो गया था वह मनुष्य (स्थाणौ) ठूंठमें (पुरुषाग्रहे निवृत्ते) यह पुरुष है ऐसे मिथ्याभिनिवेशके नष्ट हो जाने पर (यथा) जिस प्रकार उससे अपने उपकारादिकी कल्पना त्यागने की (चेष्टते) चेष्टा करता है उसी प्रकार [देहादौ] शरीरादिकमें (विनिवृत्तात्म-विभ्रमः) आत्मपनेके भ्रमसे रहित हुआ मैं भी (तथा चेष्टः अस्मि) देहादिकमें अपने उपकारादिकी बुद्धिको छोड़नेमें प्रवृत्त हुआ हूं।

भावार्थ——जब वृक्षके ठूंठको वृक्षका ठूंठ जान लिया जाता है तब उससे होने वाला पुरुष-विषयक भ्रम भी दूर हो जाता है और फिर उस कल्पित पुरुषसे अपने उपकार अपकारकी कोई कल्पना भी अवशिष्ट नहीं रहती। इसी दृष्टिसे सम्यग्दृष्टि अंत-

रात्मा विचार करता है कि पूर्व मिथ्यात्व-दशामें जब मैं मोहोदय-से शरीरको ही आत्मा समझता था तब मैं इन्द्रियोंका दास था, उनकी साता परिणतिमें सुख और असाता परिणतिमें ही दुःख मानता था, किन्तु अब विवेक-ज्योति का विकास हुआ— आत्मा चैतन्यस्वरूप है, बाकी सब पदार्थ अचेतन हैं—जड़ हैं; आत्मासे भिन्न हैं, इस प्रकारके जड़ और चैतन्यके भेद-विज्ञान से मुझे तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हुई और शरीरादि-कके विषयमें होने वाला आत्म-विषयक मेरा भ्रम दूर होगया है। इसीसे शरीरके संस्कारादि विषयमें मेरी अब उपेक्षा होगई है— मैं समझने लगा हूँ कि शरीरादिकके बनने अथवा बिगड़नेसे मेरे आत्माका कुछ भी बनता अथवा बिगड़ता नहीं है और इसीसे शरीरादिकी अनावश्यक चिंताको छोड़कर अब मैं सविशेषरूपसे आत्म-चिन्तनमें प्रवृत्त हुआ हूँ ॥२२॥

अब आत्मामें स्त्री आदि लिङ्गोंके तथा एकत्वादि संख्याके भ्रमको दूर करनेके लिये और इन विकल्पोंसे रहित आत्माका असाधारणस्वरूप दिखलानेके लिये कहते हैं—

येनात्मनाऽनुभूयेऽहमात्मनैवात्मनात्मनि ।
सोऽहं न तन्न सा नासौ नैको न द्वौ न वा बहुः ॥२३॥

अन्वयार्थ—(येन) जिस (आत्मना) चैतन्यस्वरूपसे (अहम्) मैं (आत्मनि) अपनी आत्मामें ही (आत्मना) अपने स्वसंवेदनज्ञानके द्वारा (आत्मनैव) अपनी आत्माको आप ही

(अनुभूये) अनुभव करता हूँ (सः) वही शुद्धात्मस्वरूप (अहं) मैं (न तत्) न तो नपुंसक हूँ (न सा) न स्त्री हूँ (न असौ) न पुरुष हूँ (न एको) न एक हूँ (न द्वौ) न दो हूँ (वा) और (न बहुः) न बहुत हूँ ।

भावार्थ--अन्तरात्मा विचार करता है कि जीवमें स्त्री-पुरुष आदिका व्यवहार केवल शरीरको लेकर होता है; इसी प्रकार एक दो और बहुवचनका व्यवहार भी शरीराश्रित है अथवा गुण गुणीकी भेदकल्पनाके कारण होता है; जब शरीर मेरा रूप ही नहीं है और मेरा शुद्धस्वरूप निर्विकल्प है तब मुझमें लिंगभेद और वचनभेद कैसे बन सकता है ? ये स्त्रीत्वादिधर्म तो कर्मजनित अवस्थाएँ हैं, मेरा निजरूप नहीं हैं—मेरा शुद्ध चैतन्य स्वरूप इन सबसे परे है ॥ २३ ॥

यदि कोई पूछे कि जिस आत्मस्वरूप से तुम अपनेको अनुभव करते हो वह कैसा है, उसे बतलाते हैं ।

यदभावे सुषुप्तोऽहं यद्भावे व्युत्थितः पुनः ।
अतीन्द्रियमनिर्देश्यं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥२४॥

अन्वयार्थ--(यत् अभावे) जिस शुद्धात्मस्वरूपके प्राप्त न होनेसे (अहं) मैं (सुषुप्तः) अब तक गाढ़ निद्रामें पड़ा रहा हूँ—मुझे पदार्थोंका यथार्थ परिज्ञान न हो सका- (पुनः) और (यत् भावे) जिस शुद्धात्मस्वरूपकी उपलब्धि होने पर मैं (व्युत्थितः) जागरित हुआ हूँ--यथावत् वस्तुस्वरूपको जानने लगा हूँ (तत्)

वह शुद्धात्मस्वरूप (अतीन्द्रियं) इन्द्रियोंके द्वारा ग्राह्य नहीं है (अनिर्देश्यं) वचनोंके भी अगोचर है—कहा नहीं जाता । वह तो (स्वसंवेद्यं) अपने द्वारा आपही अनुभव करने योग्य है । उसी रूप (अहं अस्मि) मैं हूँ ।

भावार्थ—जब तक इस जीवको शुद्ध चैतन्यरूप अपने निज-स्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती तब तक ही यह जीव मोहरूपी गाढ़-निद्रामें पड़ा हुआ सोता रहता है; किन्तु जब अज्ञानभावरूप निन्द्राका विनाश हो जाता है और शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है उसी समयसे यह जागरित कहलाता है । संसारके रागी जीव व्यवहारमें जागते हैं किन्तु अपने आत्मस्वरूपमें सोते हैं; परन्तु आत्मज्ञानी संयमी पुरुष व्यवहारमें सोते हैं और आत्मस्वरूपमें सदा सावधान एवं जाग्रत रहते हैं* ॥ २४ ॥

आत्मस्वरूपका अनुभव करने वालेकी आत्मामें रागादि दोषोंका अभाव हो जानेसे शत्रु-मित्रकी कल्पना ही नहीं होती, ऐसा दिखाते हैं—

---

* जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि ।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे ॥
—मोक्षप्राभृते, कुन्दकुन्दः ।

या निशा सर्व भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥
—गीता २-६९

क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मां प्रपश्यतः ।
बोधात्मानं ततः कश्चिन्न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥२५॥

अन्वयार्थ--[यतः] क्योंकि (बोधात्मानं) शुद्ध ज्ञानस्वरूप (मां) मुझ आत्माका (तत्त्वतः प्रपश्यतः) वास्तवमें अनुभव करने वालेके (अत्र एव) इस जन्ममें ही (रागाद्यः) राग, द्वेष, क्रोध, मान, मायादिक दोष (क्षीयन्ते) नष्ट हो जाते हैं (ततः) इसलिये (मे) मेरा (न कश्चित्) न कोई (शत्रुः) शत्रु है (न च) और न कोई (प्रियः) मित्र है ।

भावार्थ - जब तक यह जीव अपने निजानन्दमयी स्वाभाविक निराकुलतारूप सुधामृतका पान नहीं करता तब तक ही वह बाह्य पदार्थोंको भ्रमसे इष्ट-अनिष्ट मानकर उनके संयोग-वियोगके लिये सदा चिन्तित रहता है और जो उस संयोग-वियोगमें साधक होते हैं उन्हें अपना शत्रु-मित्र मान लेता है, किन्तु जब आत्मा प्रबुद्ध होकर यथार्थ वस्तुस्थितिका अनुभव करने लगता है तब उसकी रागद्वेषादिरूप विभावपरिणति मिट जाती है और इसलिये बाह्य सामग्रीके साधक-बाधक कारणोंमें उसके शत्रु-मित्रताका भाव नहीं रहता । वह तो उस समय अपने ज्ञानानन्दस्वरूप में मग्न रहना ही सर्वोपरि समझता है ॥ २५ ॥

यदि कोई कहे कि भले ही तुम किसी दूसरेके शत्रु या मित्र न हो परन्तु तुम्हारा तो कोई अन्य शत्रु वा मित्र अवश्य होगा, इस शंकाका समाधान करते हुए कहते हैं—

मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः ।
मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥२६॥

अन्वयार्थ--(मां) मेरे आत्मस्वरूपको (अपश्यन्) नहीं देखता हुआ (अयं लोकः) यह अज्ञ प्राणिवृन्द (न मे शत्रुः) न मेरा शत्रु है (न च प्रियः) और न मित्र है तथा (मां) मेरे आत्म स्वरूपको (प्रपश्यन्) देखता हुआ (अयं लोकः) यह प्रबुद्ध-प्राणिगण (न मे शत्रुः) न मेरा शत्रु है (न च प्रियः) और न मित्र है ।

भावार्थ - आत्मज्ञानी विचारता है कि शत्रु-मित्रकी कल्पना परिचित व्यक्तिमें ही होती है--अपरिचित व्यक्तिमें नहीं। ये संसारके बेचारे अज्ञप्राणी जो मुझे देखते जानते ही नहीं—मेरा आत्मस्वरूप जिनके चर्मचक्षुओंके अगोचर है--वे मेरे विषयमें शत्रु-मित्रकी कल्पना कैसे कर सकते हैं ? और जो मेरे स्वरूपको जानते हैं--मेरे शुद्धात्मस्वरूपका साक्षात् अनुभव करते हैं--उनके रागद्वेषका अभाव हो जानेसे शत्रु-मित्रताके भावकी उत्पत्ति नहीं बनती, फिर वे मेरे शत्रु वा मित्र कैसे बन सकते हैं ? इस तरह अज्ञ और विज्ञ दोनों ही प्रकारके जीव मेरे शत्रु या मित्र नही हैं ॥ २६ ॥

बहिरात्मपनेका त्याग होने पर अन्तरात्माके परमात्मपदकी प्राप्तिका उपाय बतलाते हुए कहते हैं--

त्यक्त्वैवं बहिरात्मानमन्तरात्मव्यवस्थितः ।
भावयेत्परमात्मानं सर्वसंकल्पवर्जितम् ॥ २७ ॥

अन्वयार्थ--(एवं) इस प्रकार (बहिरात्मानं) बहिरात्मपनेको (त्यक्त्वा) छोड़कर (अंतरात्मव्यवस्थितः) अंतरात्मामें स्थित होते हुए (सर्वसंकल्पवर्जितं) सर्व संकल्प-विकल्पोंसे रहित (परमात्मानं) परमात्माको (भावयेत्) ध्याना चाहिए ।

भावार्थ--बहिरात्मावस्थाको अत्यंत हेय (त्यागने योग्य) समझकर छोड़ देना चाहिये और आत्मस्वरूपका ज्ञायक अन्त-रात्मा होकर जगतके दंद-फंद चिंता आदिसे मुक्त हुआ आत्मोत्थ स्वाधीन सुखकी प्राप्तिके लिये परमात्माके चिंतन आराधन पूर्वक तद्रूप बननेकी भावना करनी चाहिये ॥२७॥

सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः ।
तत्रैव दृढसंस्कारात्लभते ह्यात्मनि* स्थितिम् ॥२८॥

अन्वयार्थ--(तस्मिन्) उस परमात्मपदमें (भावनया) भावना करते रहनेसे (सः अहं) 'वह अनन्तज्ञानस्वरूप परमात्मा मैं हूँ' (इति) इस प्रकारके (आत्तसंस्कारः) संस्कारको प्राप्त हुआ ज्ञानी पुरुष (पुनः) फिर फिर उस परमात्मपदमें आत्मस्वरूपकी भावना करता हुआ (तत्रैव) उसी परमात्मस्वरूपमें (दृढसंस्कारात्)

---

* ह्यात्मनः इति पाठान्तरं 'ग' प्रतौ

संस्कारकी दृढ़ताके होजानेसे (हि) निश्चयसे (आत्मनि) अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूपमें (स्थितिं लभते) स्थिरताको प्राप्त होता है।

भावार्थ—जब 'सोऽहम्'की दृढ़ भावना द्वारा परमात्मपदके साथ जीवात्माकी एकत्व बुद्धि हो जाती है तभी इस जीवको अपनी अनन्तचतुष्टयरूप निधिका परिज्ञान हो जाता है और वह अपनेको वीतरागी परमआनन्दस्वरूप मानने लगता है । उस समय काल्पनिक क्षणिक सांसारिक सुखके कारण बाह्यपदार्थोंमें उसका ममत्व छूट जाता है, रागद्वेषकी मंदता हो जाती है और अभेदबुद्धिसे परमात्मस्वरूपका चिंतवन करते करते आत्मा अपने आत्मस्वरूपमें स्थिर हो जाता है । इसीको आत्मलाभ कहते हैं, जिसके फलस्वरूप आत्मा अनन्तकाल तक निराकुल अनुपम स्वाधीनसुखका भोक्ता होता है । अतः 'सोऽहम्' की यह भावना बड़ी ही उपयोगी है, उसके द्वारा अपने आत्मामें परमात्मपदके संस्कार डालने चाहियें ॥२८॥

यदि कोई आशंका करे कि परमात्माकी भावना करना तो बड़ा कठिन कार्य है, उसमें तो कष्ट परम्पराके सद्भावके कारण भय बना रहता है, फिर जीवोंकी प्रवृत्ति उसमें कैसे हो सकती है ? ऐसी आशंकाका निराकरण करते हुए कहते हैं—

मूढात्मा यत्र विश्वस्तस्ततो नान्यद्भयास्पदम् ।
यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मनः ॥ २९ ॥

अन्वयार्थ—(मूढात्मा) अज्ञानी बहिरात्मा (यत्र) जिन

शरीर-पुत्रमित्रादि बाह्यपदार्थोंमें (विश्वस्तः) ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ' ऐसा विश्वास करता है (ततः) उन शरीर-स्त्री-पुत्रादि बाह्यपदार्थोंसे (अन्यत्) और कोई (भयास्पदं न) भयका स्थान नहीं है और (यतः) जिस परमात्मस्वरूपके अनुभवसे (भीतः) डरा रहता है (ततः अन्यत्) उसके सिवाय कोई दूसरा (आत्मनः) आत्माके लिये (अभयस्थानं न) निर्भयताका स्थान नहीं है।

भावार्थ—जैसे सर्पसे डसा हुआ मनुष्य कड़ुवा नीम भी रुचिसे चबाता है उसी प्रकार विषय-कषायोंमें संलग्न हुए जीवको दुःख-दाई शरीरादिक बाह्यपदार्थ भी मनोहर एवं सुखदाई मालूम होते हैं और पित्तज्वर वाले रोगीको जिस प्रकार मधुर दुग्ध कड़ुवा मालूम होता है उसी प्रकार बहिरात्मा अज्ञानी जीवको सुखदाई परमात्मस्वरूपकी भावना भी कष्टप्रद मालूम पड़ती है और इसी विपरीत बुद्धिके कारण यह जीव अनादि कालसे दुखी हो रहा है। वास्तवमें इस जीवके लिए परमात्मस्वरूपके अनुभवके समान और कोई भी सुखदाई पदार्थ संसारमें नहीं है और न शरीरके समान दुखदाई कोई दूसरा पदार्थ ही है ॥ २९ ॥

अब उस आत्माकी प्राप्ति किस उपायसे होती है उसे बतलाते हैं—

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना ।
यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्त्वं परमात्मनः ॥ ३० ॥

अन्वयार्थ—(सर्वेन्द्रियाणि) सम्पूर्ण पांचों इन्द्रियोंको (संयम्य) अपने विषयोंमें यथेष्ट प्रवृत्ति करनेसे रोककर (स्तिमितेन) स्थिर हुए (अन्तरात्मना) अन्तःकरणके द्वारा (क्षणं पश्यतः) क्षणमात्रके लिए अनुभव करने वाले जीवके (यत्) जो चिदानन्दस्वरूप (भाति) प्रतिभासित होता है। (तत्) वही परमात्मनः) परमात्माका (तत्त्वं) स्वरूप है।

भावार्थ—परमात्माका अनुभव प्राप्त करनेके लिए स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन पांचों इन्द्रियोंको अपने-अपने विषयोंमें यथेष्ट प्रवृत्ति करनेसे रोककर मनको स्थिर करना चाहिये। अर्थात् उसे अन्तर्जल्पादिरूप संकल्प-विकल्पसे मुक्त करना चाहिये। ऐसा होनेपर जो अन्तरंगावलोकन किया जावेगा उसीसे शुद्ध चैतन्यमय परमात्मस्वरूपका अनुभव हो सकेगा। इन्द्रियों द्वारा ज्ञेयपदार्थोंमें भ्रमती हुई चित्तवृत्तिको रोके बिना कुछ भी नहीं बनता। अतः आत्मानुभवके लिए उसे रोकनेका सबसे पहले प्रयत्न होना चाहिये ॥३०॥

अब यह बतलाते हैं कि परमात्मस्वरूपकी प्राप्ति किसकी आराधना करने पर होगी—

यः परात्मा स एवाऽहं योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः *कश्चिदितिस्थितिः ॥३१॥

---

* 'नाज्ञः' इति पाठान्तर 'ग' प्रतौ।

अन्वयार्थ—(यः) जो (परात्मा) परमात्मा है (स एव) वह ही (अहं) मैं हूँ तथा (यः) जो स्वानुभवगम्य (अहं) मैं हूँ (सः) वही (परमः) परमात्मा है (ततः) इसलिये—जब कि परमात्मा और आत्मामें अभेद है (अहं एव) मैं ही (मया) मेरे द्वारा (उपास्यः) उपासना किये जानेके योग्य हूँ (कश्चित् अन्यः न) दूसरा कोई मेरा उपास्य नहीं, (इति स्थितिः) इस प्रकार ही आराध्य-आराधक–भावकी व्यवस्था है ।

भावार्थ——जब यह अन्तरात्मा अपनेको सिद्ध समान शुद्ध, बुद्ध, ज्ञाता, दृष्टा, अनुभव करता हुआ अभेद—भावनाके बल पर शुद्ध आत्मस्वरूपमें तन्मय हो जाता है तभी वह कर्मबन्धनको नष्ट करके परमात्मा बन जाता है । अतएव सांसारिक दुःखोंसे छूटने अथवा दृढ़-बंधनसे मुक्त होनेके लिए अपना शुद्धात्मस्वरूप ही उपासना किये जानेके योग्य है ।। ३१ ।।

आगे इसी बातको और भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं——

प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं मां मयैव मयि स्थितम् ।
बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानंदनिर्वृतम् ।। ३२ ।।

अन्वयार्थ——(अहं) मैं (मयि स्थितम्) अपनेहीमें स्थित ज्ञानस्वरूप (परमानन्दनिर्वृतम्) परम आनन्दसे परिपूर्ण (मां) अपनी आत्माको (विषयेभ्यः) पंचेन्द्रियोंके विषयोंसे (प्रच्याव्य) छुड़ाकर (मया एव) अपने ही द्वारा (प्रपन्नोऽस्मि) आत्मस्वरूप-को प्राप्त हुआ हूँ ।

भावार्थ—जिस परमात्मपदके प्राप्त करनेकी अभिलाषा है वह शक्तिरूपसे इस आत्मामें ही मौजूद है; किन्तु उसकी व्यक्ति अथवा प्राप्ति इन्द्रिय-विषयोंसे विरक्त होकर ज्ञान और वैराग्यका सुदृढ़ अभ्यास करनेसे होती है। इसलिए हमें चाहिए कि हम जीवन्मुक्त परमात्माके दिव्य उपदेशका मनन करके उसके नक्शे-क़दम पर चलें और उन जैसी वीतराग-ध्यानमयी शांत-मुद्रा बनकर चैतन्य जिनप्रतिमा बननेकी कोशिश करें तथा उनकी सौम्याकृतिरूप प्रतिबिम्बका चित्र अपने हृदय-पटल पर अंकित करें। इस तरह आत्मस्वरूपके साधक कारणोंको उपयोग में लाकर स्वयं ही परमात्मपद प्राप्त करें और निजानन्द-रसका पान करते हुए अनन्तकाल तक अनन्त सुखमें मग्न रहें ॥ ३२ ॥

इस प्रकार जो शरीरसे आत्माको भिन्न नहीं जानता है उस के प्रति कहते हैं:—

यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम् ।
लभते स न निर्वाणं तप्त्वाऽपि परमं तपः ॥३३॥

अन्वयार्थ—(एवं) उक्त प्रकारसे (यः) जो (अव्ययं) अविनाशी (आत्मानं) आत्माको (देहात्) शरीरसे (परं न वेत्ति) भिन्न नहीं जानता है (सः) वह (परमं तपः तप्त्वापि) घोर तपश्चरण करके भी (निर्वाणं) मोक्षको (न लभते) प्राप्त नहीं करता है।

भावार्थ—संसारमें दुःखका मूल कारण आत्मज्ञानका अभाव

है। जब तक यह अज्ञान बना रहता है तब तक दुःखोंसे छुटकारा नहीं मिलता। इसी कारण जो पुरुष आत्माके वास्तविक स्वरूप-को नहीं पहचानता—विनश्वर पुद्गल पिण्डमय शरीरको ही आत्मा जानता है—वह कितना ही घोर तपश्चरण क्यों न करे मुक्तिको नहीं पा सकता है; क्योंकि मुक्तिके लिए जिससे मुक्त होना है और जिसको मुक्त होना है दोनोंका भेदज्ञान आवश्यक है। जब मूलमें ही भूल हो तब तपश्चरण क्या सहायता पहुंचा सकता है। ऐसे ही लोगोंकी मुक्ति-उपासना बहुधा अन्य बाह्य पदार्थोंकी तरह सांसारिक विषय सुखका ही साधन बन जाती है और इसलिए घोरातिघोर तपश्चरण द्वारा शरीरको अनेक प्रकारसे कष्ट देते और सुखाते हुए भी वे कर्मबन्धनसे छूट नहीं पाते, प्रत्युत अपने उस बाल तपश्चरणके कारण संसारमें ही परिभ्रमण करते रहते हैं। अतः आत्मज्ञानपूर्वक तपश्चरण करना ही सार्थक और सिद्धिका कारण है। किसी कविने ठीक कहा—

> चेतन चित परिचय बिना, जप तप सबै निरत्थ।
> कण बिन तुष जिम फटकतैं, कछु न आवे हत्थ ॥३३॥

यदि कोई आशंका करे कि मुक्तिके लिए घोर तपश्चरण करने वालोंके महादुःखोंकी उत्पत्ति होती है और उस दुःखोत्पत्ति-से चित्तमें बराबर खेद बना रहता है तब उनको मुक्तिकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? उसके उत्तरमें कहते हैं—

आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताल्हादनिर्वृतः ।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खिद्यते ॥३४॥

अन्वयार्थ—(आत्मदेहांतरज्ञानजनिताल्हादनिर्वृतः) आत्मा और शरीरके भेद-विज्ञानसे उत्पन्न हुए आनन्दसे जो आनन्दित है वह (तपसा) तपके द्वारा—द्वादश प्रकारके तपद्वारा उदयमें लाये हुए (घोरं दुष्कृतं) भयानक दुष्कर्मोंके फलको (भुञ्जानः अपि) भोगता हुआ भी (न खिद्यते) खेदको प्राप्त नहीं होता है ।

भावार्थ—जिस समय इस जीवके अनुभवमें शरीर और आत्मा भिन्न भिन्न दिखाई देने लगते हैं, उस समय शारीरिक विषय-सुखोंके लिये पर-पदार्थकी सारी चिन्तायें मिट जाती हैं, उसके फलस्वरूप आत्मा परमानन्दमें लीन हो जाता है—उसे दुखका अनुभव ही नहीं होता । क्योंकि संसारमें इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, रोग और भूख-प्यासादिजन्य जितने भी दुःख हैं वे सब शरीरके आश्रित हैं—शरीरको आत्मा माननेसे उन सब दुखोंमें भाग लेना पड़ता है । जब भेद विज्ञानके द्वारा शरीरसे ममत्व छूटकर आत्मा स्वरूपमें स्थिर हुआ आनन्दमग्न होजाता है तब वह तपश्चरणके कष्टोंको महसूस नहीं करता और न तपश्चरणके अवसर पर आए हुए उपसर्गादिकोंसे खेदखिन्न ही होता है । उसका आनन्द अबाधित रहता है ॥ ३४ ॥

जिन्हें तपश्चरण करते हुए खेद होता है उन्हें आत्मस्वरूपकी उपलब्धि नहीं हुई ऐसा दर्शाते हुए कहते हैं—

रागद्वेषादि कल्लोलैरलोलं यन्मनो जलम् ।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं स तत् तत्त्वं* नेतरो जनः ॥३५॥

अन्वयार्थ—(यन्मनोजलम्) जिसका मनरूपी जल (राग-द्वेषादिकल्लोलैः) राग-द्वेष-काम-क्रोध-मान-माया-लोभादि तरंगोंसे (अलोलं) चंचल नहीं होता (सः) वही पुरुष (आत्मनः तत्त्वम्) आत्माके यथार्थ स्वरूपको (पश्यति) देखता है—अनुभव करता है—(तत् तत्त्वम्) उस आत्मतत्त्वको (इतरो जनः) दूसरा राग द्वेषादि कल्लोलोंसे आकुलितचित्त मनुष्य (न पश्यति) नहीं देख सकता है ।

भावार्थ—जिस प्रकार तरंगित जलमें जलस्थित वस्तुका ठीक प्रतिभास नहीं होता—वह दिखाई नहीं देती, उसी प्रकार राग-द्वेषादि-कल्लोलोंसे आकुलित हुए सविकल्प मनद्वारा आत्मा-का दर्शन नहीं होता । आत्मदर्शनके लिए मनको निर्विकल्प बनाना होगा । वास्तवमें निर्विकल्प मन ही आत्मतत्त्व है—सवि-कल्प मन नहीं ॥३५॥

आगे इसी आत्मतत्त्वके वाच्यको स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं विक्षिप्तं भ्रांतिरात्मनः ।
धारयेत्तदविक्षिप्तं विक्षिप्तं नाश्रयेत्ततः ॥३६॥

---

* तत्तत्वं, इति पाठान्तरं 'क' पुस्तके ।

अन्वयार्थ–(अविक्षिप्तं) रागादिपरिणतिसे रहित तथा शरीर और आत्माको एक माननेरूप मिथ्या अभिप्रायसे रहित जो स्वरूपमें स्थिर है (मनः) वही मन है (आत्मनः तत्त्वं) आत्माका वास्तविक रूप है और (विक्षिप्तं) रागादिरूप परिणत हुआ एवं शरीर तथा आत्माके भेदज्ञानसे शून्यमन है वह (आत्मनः भ्रान्तिः) आत्माका विभ्रम है—आत्माका निजरूप नहीं है (ततः) इसलिये तत् (अविक्षिप्तं) उस रागद्वेषादिसे रहित मनको (धारयेत्) धारण करना चाहिये और (विक्षिप्तं) रागद्वेषादिसे क्षुब्ध हुए मनको न आश्रयेत् आश्रय नहीं देना चाहिये।

भावार्थ—जिस समय ज्ञानस्वरूप शुद्ध मन, रागादिक विभावभावोंसे रहित होकर शरीरादिक बाह्य पदार्थोंसे आत्माको भिन्न चैतन्यमय एक टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावरूप अनुभव करने लगता है तथा उसमें तन्मय हो जाता है, उस समय उस अविक्षिप्त एवं निर्विकल्प मनको 'आत्मतत्त्व' समझना चाहिये। परन्तु जब उसमें विकल्प उठने लगते हैं तब उसे आत्मतत्त्व न कहकर 'आत्मभ्रान्ति' कहना चाहिये। अतः आत्म लाभके इच्छुकोंको चाहिये कि वे अपने मनको डांवाडोल न रखकर स्वरूपमें स्थिर करनेका दृढ़ प्रयत्न करें, क्योंकि मनकी अस्थिरता ही रागादि परिणतिका कारण है ॥ ३६ ॥

किस कारणसे मन विक्षिप्त होता है और किस कारणसे अविक्षिप्त, आगे इसी बातको बतलाते हैं—

अविद्याभ्याससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः ।
तदेव ज्ञानसंस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते ॥३७॥

अन्वयार्थ—(अविद्याभ्याससंस्कारैः) शरीरादिकको शुचि, स्थिर और आत्मीय मानने रूप जो अविद्या अज्ञान है उसके पुनः पुनः प्रवृत्तिरूप अभ्याससे उत्पन्न हुए संस्कारों द्वारा (मनः) मन (अवशं) स्वाधीन न रहकर (क्षिप्यते) विक्षिप्त हो जाता है—रागी द्वेषी बन जाता है और (तदेव) वही मन (ज्ञानसंस्कारैः) आत्म-देहके भेद विज्ञानरूप संस्कारों-द्वारा (स्वतः) स्वयं ही (तत्त्वे) आत्मस्वरूपमें (अवतिष्ठते) स्थिर हो जाता है ।

भावार्थ—मनके विक्षिप्त होनेका वास्तविक कारण अज्ञान है और उसके अविक्षिप्त रहनेका कारण है ज्ञानाभ्यास । अतः परद्रव्यमें आत्मबुद्धि आदिरूप अज्ञानके संस्कारोंको हटाना चाहिये और स्व-पर-भेदविज्ञानके अभ्यासरूप ज्ञानके संस्कारोंको बढ़ाना चाहिये जिससे स्वरूपकी उपलब्धि एवं आत्मस्वरूपमें स्थिति हो सके ॥ ३७ ॥

चित्तके विक्षिप्त और अविक्षिप्त होने पर फल विशेषको दर्शाते हुए कहते हैं—

अपमानादयस्तस्य विक्षेपो यस्य चेतसः ।
नापमानादयस्तस्य न क्षेपो यस्य चेतसः ॥ ३८ ॥

अन्वयार्थ—(यस्य चेतसः) जिसके चित्तका (विक्षेपः)

रागादिरूप परिणमन होता है (तस्य) उसीके (अपमानादयः) अपमानादिक होते हैं । (यस्यचेतसः) जिसके चित्तका (क्षेपः न) राग-द्वेषादिरूप परिणमन नहीं होता (तस्य) उसके (अपमानादयः न) अपमान-तिरस्कारादि नहीं होते हैं ।

भावार्थ—जब तक चित्तमें रागद्वेषादिक विभावरूप कुत्सित संस्कारोंका सम्बन्ध रहता है तभी तक मन साधारणसे भी बाह्य निमित्तोंको पाकर क्षुभित हो जाता है और अमुक पुरुषने मेरा मान भंग किया, अमुकने मेरा तिरस्कार किया, मुझे नीचा दिखाया इत्यादि कल्पनाएँ करके दुःखित होता है । परन्तु जब विक्षेपका मूलकारण राग-द्वेष-मोह-भाव दूर हो जाता है तब वह अपने अपमानादिकको महसूस नहीं करता और न उस प्रकारकी कल्पनाएं ही उसे सताती हैं ॥३८॥

अब अपमानादिकके दूर करनेका उपाय बतलाते हैं—

यदा मोहात्प्रजायेते रागद्वेषौ तपस्विनः ।
तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं शाम्यतःक्षणात् ॥३९॥

अन्वयार्थ—(यदा) जिस समय (तपस्विनः) किसी तपस्वी अन्तरात्माके (मोहात्) मोहनीय कर्मके उदयसे (रागद्वेषौ) राग और द्वेष (प्रजायेते) उत्पन्न हो जावें (तदा एव) उसी समय वह तपस्वी (स्वस्थं आत्मानं) अपने शुद्ध आत्मस्वरूपकी (भावयेत्) भावना करे । इससे वे रागद्वेषादिक (क्षणात्) क्षणभरमें (शाम्यतः) शांत हो जाते हैं ।

भावार्थ—इन राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया और लोभादिरूप कुभावोंकी उत्पत्तिका मूल कारण अज्ञान है। शरीर और आत्माका भेद-विज्ञान न होनेसे ही ये मनोविकार चित्त-की निश्चल वृत्तिको चलायमान कर देते हैं। कुभावोंके विनाश-का एक मात्र उपाय आत्मस्वरूपका चिंतन करना है। जैसे ग्रीष्मकालीन सूर्यकी प्रचण्ड किरणोंके तापसे संतप्त हुए मानव के लिए शीतल जलका पान, स्नान, चन्दनादिकका लेप और वृक्षकी सघन छायाका आश्रय उसके उस तापको दूर करनेमें समर्थ होता है, उसी प्रकार मोहरूपी सूर्यकी प्रचण्ड कषायरूपी किरणोंसे संतप्त हुए अन्तरात्माके लिये अपने शुद्ध स्वरूपका चिंतन ही उस तापसे छुड़ानेका एकमात्र उपाय है ॥ ३९ ॥

अब उन राग और द्वेषके विषय तथा विपक्षको दिखाते हुए कहते हैं—

यत्र काये मुनेः प्रेम ततः प्रच्याव्य देहिनम् ।
बुद्ध्या तदुत्तमे काये योजयेत्प्रेम नश्यति ॥४०॥

अन्वयार्थ—(यत्र काये) जिस शरीरमें (मुनेः) मुनिका—अन्तरात्माका (प्रेम) प्रेम-स्नेह है (ततः) उससे (बुद्ध्या) भेद विज्ञानके आधार पर (देहिनम्) आत्माको (प्रच्याव्य) पृथक् करके (तदुत्तमे काये) उस उत्तम चिदानन्दमय कायमें—आत्म-स्वरूपमें (योजयेत्) लगावे। ऐसा करनेसे (प्रेम नश्यति) बाह्य शरीर और इन्द्रियविषयोंमें होने वाला प्रेम नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—जब तक इस जीवको अपने निजानन्दमय निराकुल शांत उपवनमें क्रीड़ा करनेका अवसर नहीं मिलता, तब तक ही यह जीव अस्थि, मांस और मल-मूत्रसे भरे हुए अपावन घृणित स्त्री आदिके शरीरमें और पाँच इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त रहता है; किन्तु जब दर्शनमोहादिके उपशम, क्षय, क्षयोपशमसे इसके चित्तमें विवेकज्ञान जागृत हो जाता है तब स्व-पर स्वरूपका ज्ञायक होकर अपने ही प्रशान्त एवं निजानन्दमय सुधारसका पान करने लगता है और बाह्य इन्द्रियोंके पराधीन विषयोंको हेय समझकर उदासीन हो जाता है अथवा उनका सर्वथा त्यागकर निर्ग्रंथ साधु बन जाता है और घोर तपश्चरणादिके द्वारा आत्माकी वास्तविक शुद्धि करके सच्चे स्वाधीन एवं अविनाशी आत्मपदको प्राप्त कर लेता है ॥४०॥

उस भ्रमात्मक प्रेमके नष्ट होनेपर क्या होता है उसे बतलाते हैं—

आत्मविभ्रमजं दुःखमात्मज्ञानात्प्रशाम्यति ।
नायतास्तत्र निर्वान्ति कृत्वापि परमं तपः ॥४१॥

अन्वयार्थ—(आत्मविभ्रमजं) शरीरादिकमें आत्मबुद्धिरूप विभ्रमसे उत्पन्न होने वाला (दुःखं) दुख-कष्ट (आत्मज्ञानात्) शरीरादिसे भिन्नरूप आत्मस्वरूपके अनुभव करनेसे (प्रशाम्यति) शांत हो जाता है। अतएव जो पुरुष (तत्र) भेदविज्ञानके द्वारा आत्मस्वरूपकी प्राप्ति करनेमें (अयताः) प्रयत्न नहीं करते हैं,

(परमं) उत्कृष्ट एवं दुर्द्धर (तपं) तपको (कृत्वापि) करके भी (न निर्वान्ति) निर्वाणको प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होते हैं।

भावार्थ—कर्मबन्धनसे छूटनेके लिए आत्मज्ञानपूर्वक किया हुआ इच्छानिरोधरूप तपश्चरण ही कार्यकारी है। आत्मज्ञानसे शून्य केवल शरीरको कष्ट देने वाले तपश्चरण तपश्चरण नहीं है—संसारपरिभ्रमणके ही कारण हैं। उनसे आत्मा कभी भी कर्मोंके बन्धनसे छूट नहीं सकता और न स्वरूपमें ही स्थिर हो सकता है। उसकी कष्ट-परम्परा बढ़ती ही चली जाती है ॥४१॥

तपको करके बहिरात्मा क्या चाहता है और अन्तरात्मामें क्या चाहता है, इसे दिखाते हैं—

शुभं शरीरं दिव्यांश्च विषयानभिवांच्छति।
उत्पन्नात्ममतिर्देहे तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम् ॥४२॥

अन्वयार्थ—(देहे उत्पन्नात्ममतिः) शरीरमें जिसको आत्मत्वबुद्धि उत्पन्न हो गई है ऐसा बहिरात्मा तप करके (शुभं शरीरं-च) सुन्दर शरीर और (दिव्यान् विषयान्) उत्तमोत्तम अथवा स्वर्गके विषय भोगोंको (अभिवांच्छति) चाहता है और (तत्त्वज्ञानी) ज्ञानी अन्तरात्मा (ततः) शरीर और तत्सम्बन्धी विषयोंसे (च्युतिम्) छूटना चाहता है।

भावार्थ—अज्ञानी बहिरात्मा स्वर्गादिककी प्राप्तिको ही परमपदकी प्राप्ति समझता है और इसीलिए स्वर्गादिकके मिलने की

लालसासे पंचाग्नि आदि शरीरको क्लेश देने वाले तप करता है। प्रत्युत इसके, आत्मज्ञानी अन्तरात्माकी ऐसी धारणा नहीं होती, वह सांसारिक विषय-भोगोंमें अपना स्वार्थ नहीं देखता—उन्हें दुखदाई और कष्टकर जानता है—और इसलिए इन देह-भोगोंसे ममत्व छोड़कर दुर्धर तपश्चरण करता हुआ शरीरादिकसे आत्माको भिन्न करनेका परम यत्न करता है—तपश्चरणके द्वारा इन्द्रिय और कषायों पर विजय पाकर अपने ध्येयकी सिद्धि कर लेता है ॥४२॥

अब यह बतलाते हैं कि बहिरात्मा और अन्तरात्मामें कर्म-बन्धनका कर्ता कौन है ?—

परत्राहम्मतिः स्वस्माच्च्युतो बध्नात्यसंशयम् ।
स्वस्मिन्नहम्मतिश्च्युत्वा परस्मान्मुच्यते बुधः ॥४३॥

अन्वयार्थ—(परत्राहम्मतिः) शरीरादिक परपदार्थोंमें जिसकी आत्मबुद्धि हो रही है ऐसा बहिरात्मा (स्वस्मात्) अपने आत्मस्वरूपसे (च्युतः) भ्रष्ट हुआ (असंशयम्) निःसन्देह (बध्नाति) अपनेको कर्म बन्धनसे बद्ध करता है और (स्वस्मिन्नहम्मतिः) अपने आत्माके स्वरूपमें ही आत्मबुद्धि रखने वाला (बुधः) अन्तरात्मा (परस्मात्) शरीरादिक परके सम्बन्धसे (च्युत्वा) च्युत होकर (मुच्यते) कर्म बन्धनसे छूट जाता है।

भावार्थ—बंधका कारण वास्तवमें रागादिकभाव है और वह तभी बनता है जब आत्मा अपने स्वरूपका ठीक अनुभव नहीं

करता—उसे भूल कर शरीरादिक पर-पदार्थोंमें आत्म-बुद्धि धारण करता है। अन्तरात्मा चूंकि अपने आत्मस्वरूपका ज्ञाता होता है इससे वह अपने आत्मासे भिन्न दूसरे पदार्थोंमें आत्मबुद्धि धारण नहीं करता——फलतः उसकी पर-पदार्थोंमें कोई आसक्ति नहीं होती। इसीसे वह कर्मोंके बंधनसे नहीं बंधता, किन्तु उससे छूट जाता है ॥४३॥

बहिरात्माकी जिस पदार्थमें आत्मबुद्धि हो गई है उसे वह कैसा मानता है और अन्तरात्माकी जिसमें आत्मबुद्धि उत्पन्न हो गई है उसे वह कैसा अनुभव करता है, आगे इसी आशंकाका निरसन करते हुए कहते हैं——

दृश्यमानमिदं मूढस्त्रिलिङ्गमवबुध्यते ।
इदमित्यवबुद्धस्तु निष्पन्नं शब्दवर्जितम् ॥४४॥

अन्वायार्थ—(मूढः) अज्ञानी बहिरात्मा (इदं दृश्यमानं) इस दिखाई देने वाले शरीरको (त्रिलिंगं अवबुध्यते) स्त्री-पुरुष-नपुंसकके भेदसे यह आत्मतत्त्व त्रिलिङ्ग रूप है ऐसा मानता है; किन्तु (अवबुद्धः) आत्मज्ञानी अन्तरात्मा (इदं) यह आत्मतत्त्व है—त्रिलिङ्गरूप आत्मतत्त्व नहीं है और वह (निष्पन्नं) अनादि संसिद्ध है तथा (शब्दवर्जितम्) नामादिक विकल्पोंसे रहित है (इति) ऐसा समझता है।

भावार्थ—अज्ञानी जीवको शरीरसे भिन्न आत्माकी प्रतीति

नहीं होती, इसलिए वह स्त्री-पुरुष नपुंसकरूप त्रिलिङ्गात्मक शरीरको ही आत्मा मानता है। सम्यग्दृष्टि वस्तुस्वरूपका ज्ञाता है और उसे शरीरसे भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्वकी प्रतीति होती है, इसलिये वह अपने आत्माको तद्रूप ही अनुभव करता—त्रिलिङ्गरूप नहीं—और उसे अनादिसिद्ध तथा—निर्विकल्प समझता है ॥ ४४ ॥

यदि कोई कहे कि जब अन्तरात्मा इस तरहसे आत्माका अनुभव करता है तो फिर मैं पुरुष हूँ, गोरा हूँ इत्यादि अभेद-रूपकी भ्रान्ति उसे कैसे हो जाती है ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—

जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं विविक्तं भावयन्नपि ।
पूर्वविभ्रमसंस्काराद् भ्रांतिं भूयोऽपि गच्छति ॥४५॥

अन्वयार्थ—अन्तरात्मा (आत्मनः तत्त्वं) अपने आत्माके शुद्ध चैतन्य स्वरूपको (जानन् अपि) जानता हुआ भी (विविक्तं भावयन् अपि) और शरीरादिक अन्य पर-पदार्थोंसे भिन्न अनुभव करता हुआ भी (पूर्वविभ्रमसंस्कारात्) पहली बहिरात्मावस्थामें होने वाली भ्रान्तिके संस्कारवश (भूयोऽपि) पुनरपि (भ्रांतिं गच्छति) भ्रान्तिको प्राप्त हो जाता है ।

भावार्थ—यद्यपि अन्तरात्मा अपने आत्माके यथार्थस्वरूप-को जानता है और उसे शरीरादिक पर-द्रव्योंसे भिन्न अनुभव

भी करता है। फिर भी बहिरात्मावस्थाके चिरकालीन संस्कारोंके जागृत हो उठनेके कारण कभी कभी बाह्य पदार्थोंमें उसे एकत्वका भ्रम हो जाता है। इसीसे अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि के ज्ञान-चेतनाके साथ कदाचित् कर्म-चेतना व कर्मफल-चेतनाका भी सद्भाव माना गया है ॥ ४५ ॥

पुनः भ्रांतिको प्राप्त हुआ अन्तरात्मा उस भ्रांतिको फिर कैसे छोड़े ? इसे बतलाते हैं—

अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः ।
क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः॥४६॥

अन्वयार्थ—अन्तरात्मा तब अपनी विचार परिणतिको इस रूप करे कि—(इदं दृश्यं) यह जो दृष्टिगोचर होने वाला पदार्थ समूह है वह सबका सब (अचेतन) चेतनारहित—जड़ है और जो (चेतनं) चैतन्यरूप आत्म समूह है वह (अदृश्यं) इन्द्रियोंके द्वारा दिखाई नहीं पड़ता (ततः) इसलिए (क्व रुष्यामि) मैं किस पर तो क्रोध करूं और (क्व तुष्यामि) किस पर सन्तोष व्यक्त करूं ? (अतः अहं मध्यस्थः भवामि) ऐसी हालतमें मैं तो अब रागद्वेषके परित्यागरूप मध्यस्थभावको धारण करता हूँ।

भावार्थ—अन्तरात्माको अपने अनाद्यविद्यारूप भ्रान्त संस्कारों पर विजय प्राप्त करनेके लिए सदा ही यह विचार करते रहना चाहिए कि जिन पदार्थोंको मैं इन्द्रियोंके द्वारा देख

रहा हूँ वे सब तो जड़ हैं—चेतना रहित हैं उन पर रोष-तोष करना व्यर्थ है—वे उसे कुछ समझ ही नहीं सकते—और जो चैतन्य पदार्थ हैं वे मुझे दिखाई नहीं पड़ते, वे मेरे रोष-तोषका विषय ही नहीं हो सकते। अतः मुझे किसीसे राग-द्वेष न रख कर मध्यस्थ भावका ही अवलम्बन लेना चाहिये ॥४६॥

अब बहिरात्मा और अन्तरात्माके त्याग ग्रहण विषयको स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

त्यागादाने बहिर्मूढः करोत्यध्यात्ममात्मवित्।
नान्तर्बहिरुपादानं न त्यागो निष्ठितात्मनः ॥४७॥

अन्वयार्थ—(मूढः) मूर्ख बहिरात्मा (बहिः) बाह्य पदार्थोंका (त्यागादाने करोति) त्याग और ग्रहण करता है अर्थात् द्वेषके उदयसे जिनको अनिष्ट समझता है उनको छोड़ देता है और रागके उदयसे जिन्हें इष्ट समझता है उनको ग्रहण कर लेता है तथा (आत्मवित्) आत्माके स्वरूपका ज्ञाता अन्तरात्मा (अध्यात्मं त्यागादाने करोति) अन्तरंग राग-द्वेषका त्याग करता है और अपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप निजभावोंका ग्रहण करता है। परन्तु (निष्ठितात्मनः) शुद्ध स्वरूपमें स्थित जो कृतकृत्य परमात्मा है उसके (अन्तः बहि) अंतरंग और बहिरंग किसी भी पदार्थका (न त्यागः) न तो त्याग होता है और (न उपादानं) न ग्रहण होता है।

भावार्थ—बहिरात्मा जीव मोहोदयसे जिन बाह्य पदार्थोंमें इष्ट-अनिष्टकी कल्पना करता है उन्हींमें त्याग और ग्रहणकी क्रिया किया करता है । अन्तरात्मा वस्तुस्थितिका जानने वाला होकर वैसा नहीं करता—वह बाह्य पदार्थोंसे अपनी चित्तवृत्तिको हटाकर *अन्तरंगमें ही त्याग-ग्रहणकी प्रवृत्ति किया करता है*—रागादि कषाय भावोंको छोड़ता है और अपने शुद्ध चैतन्यरूपको अपनाता है । परन्तु परमात्माके कृतकृत्य हो जानेके कारण, बाह्य हो या अंतरंग किसी भी विषयमें त्याग और ग्रहणकी प्रवृत्ति नहीं होती । वे तो अपने शुद्ध स्वरूपमें सदा स्थिर रहते हैं ॥ ४७ ॥

अन्तरात्मा अन्तरंगका त्याग और ग्रहण किस प्रकार करे, उसे बतलाते हैं—

युञ्जीत मनसाऽऽत्मानं वाक्कायाभ्यां वियोजयेत् ।
मनसा व्यवहारं तु त्यजेद्वाक्काययोजितम् ॥४८॥

अन्वयार्थ—(आत्मानं) आत्माको (मनसा) मनके साथ (युञ्जीत) संयोजित करे—चित्त और आत्माका अभेदरूपसे अध्यवसाय करे (वाक्कायाभ्यां) वचन और कायसे (वियोजयेत्) अलग करे—उन्हें आत्मा न समझे (तु) और (वाक्काययोजितम्) वचन-कायसे किये हुए (व्यवहारं) व्यवहारको (मनसा) मनसे (त्यजेत्) छोड़ देवे—उसमें चित्तको न लगावे ।

भावार्थ—अन्तरंग रागादिकका त्याग और आत्मगुणोंका

ग्रहण करनेके लिये आत्माको चाहिये, कि वह आत्माको मानसज्ञानके साथ तन्मय करे और वचन तथा कायके सर्वकार्यों-को छोड़कर आत्मचिन्तनमें तल्लीन हो जावे। यदि प्रयोजनवश वचन और कायकी क्रिया करनी भी पड़े तो उसे उदासीनभावके साथ अरुचि-पूर्वक कड़वी दवाई पीनेवाले रोगीकी तरह अना-सक्तिसे करे ॥४८॥

यदि कोई कहे कि पुत्र स्त्री आदिके साथ वचनव्यवहार और शरीरव्यवहार करते हुए तो सुख प्रतीत होता है, फिर उस व्यवहारका त्याग करना कैसे युक्ति युक्त कहा जा सकता है? उसका समाधान करते हुए कहते हैं--

जगद्देहात्मदृष्टीनां विश्वास्यं रम्यमेव च।
स्वात्मन्येवात्मदृष्टीनां क्व विश्वासः क्व वा रतिः॥४९॥

अन्वयार्थ--(देहात्मदृष्टीनां) शरीरमें आत्मदृष्टि रखने वाले मिथ्यादृष्टि बहिरात्माओंको (जगत्) यह स्त्री-पुत्र मित्रादिका समूहरूप संसार (विश्वास्यं) विश्वासके योग्य (च) और (रम्यं एव) रमणीय ही मालूम पड़ता है। परन्तु (स्वात्मनि एव आत्म-दृष्टीनां) अपने आत्मामें ही आत्मदृष्टि रखने वाले सम्यग्दृष्टि अन्तरात्माओंको (क्व विश्वासः) इन स्त्रीपुत्रादि परपदार्थोंमें कहां विश्वास हो सकता है (वा) और (क्व रतिः) कहाँ आसक्ति हो सकती है? कहीं भी नहीं।

भावार्थ--जब तक अपने परमानन्दमय चैतन्य स्वरूपका बोध न होकर इन संसारी जीवोंकी देहमें आत्मबुद्धि बनी रहती है तब तक इन्हें यह स्त्री-पुत्रादिका समूह अपनेको आत्मस्वरूपसे वंचित रखनेवाला ठग समूह प्रतीत नहीं होता, किन्तु विश्वसनीय, रमणीय और उपकारी जान पड़ता है। परन्तु जिन्हें आत्माका परिज्ञान होकर अपने आत्मामें ही आत्मबुद्धि उत्पन्न हो जाती है उनकी दशा इनसे विपरीत होती है--वे इन स्त्रीपुत्रादिको "आत्मरूपके चोर चपल अति दुर्गति-पन्थ सहाई" समझने लगते हैं--किसीको भी अपना आत्मसमर्पण नहीं करते और न किसीमें आसक्त ही होते हैं ॥४९॥

यदि ऐसा है तो फिर अन्तरात्माकी भोजनादिके ग्रहणमें प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं--

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम् ।
कुर्यादर्थवशात्किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥५०॥

अन्वयार्थ—अन्तरात्माको चाहिये कि वह (आत्मज्ञानात्परं) आत्मज्ञानसे भिन्न दूसरे (कार्यं) कार्यको (चिरं) अधिक समय तक (बुद्धौ) अपनी बुद्धिमें (न धारयेत्) धारण नहीं करे। यदि अर्थवशात्) स्व-परके उपकारादिरूप प्रयोजनके वश (वाक्कायाभ्यां) वचन और कायसे (किंचित् कुर्यात्) कुछ करना ही पड़े तो उसे (अतत्परः) अनासक्त होकर (कुर्यात्) करे।

भावार्थ---आत्महितके इच्छुक अन्तरात्मा पुरुषोंको चाहिये कि वे अपने उपयोगको इधर उधर न भ्रमाकर अपना अधिक समय आत्मचिन्तनमें ही लगावें। यदि स्व-परके उपकारादिवश उन्हें वचन और कायसे कोई कार्य करना ही पड़े तो उसे अनासक्ति पूर्वक करें---उसमें अपने चित्तको अधिक न लगावें। ऐसा करनेसे वे अपने आत्मस्वरूपसे च्युत नहीं हो सकेंगे और न उनकी शान्ति ही भंग हो सकेगी ॥५०॥

अनासक्त हुआ अन्तरात्मा आत्मज्ञानको ही बुद्धिमें धारण करे---शरीरादिकको नहीं, यह कैसे हो सकता है ? उसे बतलाते हैं—

यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति यन्नियतेन्द्रियः।
अन्तः पश्यामि सानन्दं तदस्तु ज्योतिरुत्तमम् ॥५१॥

अन्वयार्थ---अन्तरात्माको विचारना चाहिये कि (यत्) जो कुछ शरीरादि बाह्य पदार्थ (इन्द्रियैः) इन्द्रियोंके द्वारा (पश्यामि) मैं देखता हूँ। (तत्) वह (मे) मेरा स्वरूप (नास्ति) नहीं है, किन्तु (नियतेन्द्रियः) इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे रोककर स्वाधीन करता हुआ (यत्) जिस (उत्तमं) उत्कृष्ट अतीन्द्रिय (सानन्दं ज्योतिः) आनन्दमय ज्ञान प्रकाशको (अन्तः) अंतरंगमें (पश्यामि) देखता हूँ---अनुभव करता हूँ (तत् मे) वही मेरा वास्तविक स्वरूप (अस्तु) होना चाहिये।

भावार्थ—जब अन्तरात्मा भेदज्ञानकी दृष्टिसे इन्द्रियगोचर

बाह्य शरीरादि पदार्थोंको अपना रूप नहीं मानता किन्तु उस परमानन्दमय अतीन्द्रिय ज्ञानप्रकाशको ही अपना स्वरूप समझने लगता है जिसे वह इन्द्रिय व्यापारको रोककर अन्तरंगमें अवलोकन करता है,तब उसका मन सहज ही में शरीरादि बाह्य पदार्थोंसे हट जाता है—वह उनकी आराधना नहीं करता किंतु अपने उक्त स्वरूपका ही आराधन किया करता है—उसीको अधिकांशमें अपनी बुद्धिका विषय बनाये रखता है ॥५१॥

यदि आनन्दमय ज्ञान ही आत्माका स्वरूप है तो इन्द्रियोंको रोककर आत्मानुभव करने वालेको दुःख कैसे होता है, वह बतलाते हैं।

सुखमारब्धयोगस्य बहिर्दुःखमथात्मनि ।
बहिरेवासुखं सौख्यमध्यात्मं भावितात्मनः ॥५२॥

अन्वयार्थ—(आरब्धयोगस्य) जिसने आत्मभावनाका अभ्यास करना अभी शुरू किया है उस मनुष्यको—अपने पुराने संस्कारोंकी वजहसे (बहिः) बाह्य विषयोंमें (सुखं) सुख मालूम होता है (अथ) प्रत्युत इसके (आत्मनि) आत्मस्वरूपकी भावनामें (दुःखं) दुखप्रतीत होता है। किन्तु (भावितात्मनः)यथावत् आत्मस्वरूपको जानकर उसकी भावनाके अच्छे अभ्यासीको (बहिः एव) बाह्य विषयोंमें ही (असुखं) दुःख जान पड़ता है और (अध्यात्म) अपने आत्माके स्वरूपचिंतनमें ही (सौख्यम्) सुखका अनुभव होता है।

भावार्थ—वास्तवमें आत्मानुभव तो सुखका ही कारण है और इन्द्रिय-विषयानुभव दुःखका; परन्तु जिन्हें अपने आत्माका यथेष्ट ज्ञान नहीं हुआ, जो अपने वास्तविक सुखस्वरूपको पहचानते ही नहीं और जिन्होंने आत्मभावनाका अभ्यास अभी प्रारंभ ही किया है उन्हें अपने इन्द्रिय-विषयोंको निरोधकर आत्मानुभवन करनेमें कुछ कष्ट जरूर होता है और पूर्व संस्कारों-के वश विषय-सुख रुचता भी है, जो बहुत कुछ स्वाभाविक ही है। आत्माकी भावना करते-करते जब किसी काअभ्यास परि-पक्व हो जाता है और यह सुदृढ निश्चय हो जाता है कि सुख मेरे आत्माका ही स्वरूप है—वह आत्मासे बाहर दूसरे पदार्थोंमें कहीं भी नहीं है, तब उसकी हालत पलट जाती है—वह अपने आत्मस्वरूपके चिन्तनमें ही परमसुखका अनुभव करने लगता है और उसे बाह्य इन्द्रिय-विषय दुःखकारी तथा आत्मविस्मृतिके कारण जान पड़ते हैं, और इसलिए वह उनसे अलग अथवा अलिप्त रहना चाहता है ॥५२॥

अब वह आत्मस्वरूपकी भावना किस तरह करनी चाहिये उसे बतलाते हैं—

तद्ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत् ।
येनाऽविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत् ॥५३॥

अन्वयार्थ—(तत् ब्रूयात्) उस आत्मस्वरूपका कथन करे—उसे दूसरोंको बतलावे (तत् परान् पृच्छेत्) उस आत्मस्वरूपको

दूसरे आत्मानुभवी पुरुषोंसे–विशेष ज्ञानियोंसे–पूछे (तत् इच्छेत्) उस आत्मस्वरूपकी इच्छा करे––उसकी प्राप्तिको अपना इष्ट बनाये और (तत्परः भवेत्) उस आत्मस्वरूपकी भावनामें सावधान हुआ आदर बढ़ावे (येन) जिससे (अविद्यामयं रूपं) यह अज्ञानमय बहिरात्मरूप (त्यक्त्वा) छूटकर (विद्यामयं व्रजेत्) ज्ञानमय परमात्मस्वरूपकी प्राप्ति होवे।

भावार्थ—किसीका इकलौता प्रियपुत्र यदि खो जावे अथवा बिना कहे घर से निकल जावे तो वह मनुष्य जिस प्रकार उसकी ढूँढ खोज करता है, दूसरों पर उसके खोजानेकी बात प्रकट करता है, जानकारोंसे पूछता है कि कहीं उन्होंने उसे देखा है क्या? उसे पाजानेकी तीव्र इच्छा रखता है और बड़ी उत्सुकताके साथ उसकी बाट देखता रहता है––एक मिनटके लिए भी उसका पुत्र उसके चित्तसे नहीं उतरता। उसी प्रकार आत्मस्वरूपके जिज्ञासुओं तथा उसकी प्राप्तिके इच्छुक पुरुषोंको चाहिए कि वे बराबर आत्मस्वरूपकी खोजके लिए दूसरोंसे आत्मस्वरूपकी ही बात किया करें, विशेष ज्ञानियोंसे आत्माकी विशेषताओंको पूछा करें, आत्मस्वरूपकी प्राप्तिकी निरन्तर भावना भाएं और एक-मात्र उसीमें अपनी लौ लगाये रक्खें। ऐसा होने पर उनकी अज्ञानदशा दूर हो जायगी––बहिरात्मावस्था मिट जायगी और वे परमात्मपदको प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकेंगे ॥५३॥

यदि कोई कहे कि वाणी और शरीरसे भिन्न तो आत्माका

कोई अलग अस्तित्व है नहीं, तब आत्माकी चर्चा करे—भावना करे इत्यादि कहना युक्त नहीं, ऐसी आशंका करने वालोंके प्रति आचार्य कहते हैं—

शरीरे वाचि चात्मानं सन्धत्ते वाक्शरीरयोः ।
भ्रान्तोऽभ्रान्तः पुनस्तत्त्वं पृथगेषांनिबुध्यते ॥५४॥

अन्वयार्थ—(वाक् शरीरयोः भ्रान्तः) वचन और शरीरमें जिसकी भ्रान्ति हो रही है—जो उनके वास्तविक स्वरूपको नहीं समझता ऐसा बहिरात्मा (वाचि शरीरे च) वचन और शरीरमें—(आत्मानं सन्धत्ते) आत्माका आरोपण करता है अर्थात् वचनको तथा शरीरको आत्मा मानता है (पुनः) किन्तु (अभ्रान्तः) वचन और शरीरसे आत्माकी भ्रांति न रखनेवाला ज्ञानी पुरुष (एषां तत्त्वं) इन शरीर और वचनके स्वरूपको (पृथक्) आत्मासे भिन्न (निबुध्यते) जानता है ।

भावार्थ—वास्तवमें शरीर और वचन पुद्गलकी रचना हैं, मूर्तिक हैं, जड हैं, आत्मस्वरूपसे विलक्षण हैं । इसमें आत्मबुद्धि रखना अज्ञान है । किन्तु बहिरात्मा चिर-मिथ्यात्वरूप कुसंस्कारोंके वश होकर इन्हें आत्मा समझता है, जोकि उसका भ्रम है । अन्तरात्माको जड और चैतन्यके स्वरूपका यथार्थ बोध होता है, इसीसे शरीरादिकमें उसकी आत्मपनेकी भ्रांति नहीं होती—वह शरीरको शरीर, वचनको वचन और आत्माको आत्मा समझता है, एकको दूसरेके साथ मिलाता नहीं ।।५४।।

इस प्रकार आत्मस्वरूपको न समझनेवाला बहिरात्मा जिन बाह्य विषयोंमें आसक्तचित्त होता है उनमें से कोई भी उसका उपकारक नहीं है, ऐसा कहते हैं—

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु यत्क्षेमङ्करमात्मनः ।
तथापि रमते बालस्तत्रैवाज्ञानभावनात् ॥५५॥

अन्वयार्थ—(इन्द्रियार्थेषु) पांचों इन्द्रियोंके विषयमें (तत्) ऐसा कोई पदार्थ (न अस्ति) नहीं है (यत्) जो (आत्मनः) आत्माका (क्षेमंकर) भला करने वाला हो । (तथापि) तो भी (बालः) यह अज्ञानी बहिरात्मा (अज्ञानभावनात्) चिरकालीन मिथ्यात्वके संस्कारवश (तत्रैव) उन्हीं इन्द्रियोंके विषयोंमें (रमते) आसक्त रहता है ।

भावार्थ—तत्त्वदृष्टिसे यदि विचार किया जाय तो ये पांचों ही इन्द्रियोंके विषय क्षणभंगुर हैं, पराधीन हैं, विषम हैं, बंधके कारण हैं, दुःखस्वरूप हैं और बाधासहित हैं—कोई भी इनमें आत्माके लिये सुखकर नहीं, फिर भी यह अज्ञानी जीव उन्हींसे प्रीति करता है, उन्हींकी सम्प्राप्तिमें लगा रहता है और रात दिन उन्हींका राग आलापता है । यह सब अज्ञानभावको उत्पन्न करने वाले मिथ्यात्व-संस्कारका ही माहात्म्य है ॥५५॥

उस अनादिकालीन मिथ्यात्वके संस्कारवश बहिरात्माओंकी दशा किस प्रकारकी होती है, उसे बतलाते हैं—

चिरं सुषुप्तास्तमसि मूढात्मानः कुयोनिषु ।
अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जाग्रति ॥५६॥

अन्वयार्थ—(मूढात्मानः) ये मूर्ख अज्ञानी जीव (तमसि) मिथ्यात्वरूपी अन्धकारके उदयवश (चिरं) अनादिकालसे (कुयोनिषु) नित्यनिगोदादिक कुयोनियोंमें (सुषुप्ताः) सो रहे हैं—अतीव जडताको प्राप्त हो रहे हैं । यदि कदाचित् संज्ञी प्राणियोंमें उत्पन्न होकर कुछ जागते भी हैं तो (अनात्मीयात्मभूतेषु मम अहम्) अनात्मीयभूत स्त्री-पुत्रादिकमें 'ये मेरे हैं' और अनात्म-भूत शरीरादिकोंमें 'मैं ही इन रूप हूँ' (इति जाग्रति) ऐसा अध्य-वसाय करने लगते हैं ।

भावार्थ—नित्यनिगोदादिक निंद्य पर्यायोंमें यह जीव ज्ञानकी अत्यन्त हीनता-वश चिरकाल तक दुःख भोगता है । कदाचित् संज्ञी पंचेन्द्रिय-पर्याय प्राप्त कर कुछ थोड़ा सा ज्ञान प्राप्त करता भी है तो अनादिकालीन मिथ्यात्वके संस्कारवश जो आत्मीय नहीं ऐसे स्त्री पुत्रादिकको ये मेरे हैं ऐसे आत्मीय मान-कर और जो आत्मभूत नहीं ऐसे शरीरादिको 'यह मैं ही हूँ' ऐसे आत्मभूत मानकर अहंकार ममकारके चक्करमें फँस जाता है और उसके फलस्वरूप राग-द्वेषको बढ़ाता हुआ संसार-परि-भ्रमण कर महादुःखित होता है ॥ ५६ ॥

अतः बहिरात्म-भावका परित्याग कर अपने तथा परके शरीरको इस रूपमें अवलोकन करे, ऐसा बतलाते हैं—

पश्येन्निरंतरं देहमात्मनोऽनात्मचेतसा ।
अपरात्मधियाऽन्येषामात्मतत्त्वे* व्यवस्थितः ॥५७॥

अन्वयार्थ--अन्तरात्माको चाहिये कि (आत्मतत्त्वे) अपने आत्मस्वरूपमें (व्यवस्थितः) स्थित होकर (आत्मनः देहं) अपने शरीरको (अनात्मचेतसा) 'यह शरीर मेरा आत्मा नहीं' ऐसी अनात्मबुद्धिसे (निरन्तरं पश्येत्) सदा देखे-अनुभव करे और (अन्येषां) दूसरे प्राणियोंके शरीरको (अपरात्मधिया) 'यह शरीर परका आत्मा नहीं' ऐसी अनात्मबुद्धिसे (पश्येत्) सदा अवलोकन करे ।

भावार्थ—अन्तरात्माको चाहिए कि पदार्थके स्वरूपको जैसाका तैसा जाने, अन्यमें अन्यका आरोपण न करे । अनादि कालसे आत्माकी शरीरके साथ एकत्वबुद्धि हो रही है, उसका मोह दूर होना कठिन जानकर आचार्यमहोदय बार-बार अनेक युक्तियोंसे उसी बातको समझाकर बतलाते हैं—उनका अभिप्राय यही है कि सयुक्त होने पर भी विवक्षा-भेदसे, पुद्गलको पुद्गल और आत्माको आत्मा समझना चाहिये तथा कर्मकृत औपाधिक भावोंको कर्मकृत ही मानना चाहिये । आत्माका किसी शरीररूप विभाव पर्यायमें स्थिर होना उसकी कर्मोपाधि-जनित अवस्था है—स्वभाव नहीं । शरीरको आत्मा मानना ग्रहको ग्रहवासी अथवा वस्त्रको वस्त्रधारी माननेके समान भ्रम है ॥५७॥

---

* 'आत्मतत्त्वव्यवस्थित.' इति पाठान्तरं 'ग' प्रतौ ।

इस प्रकार आत्मतत्त्वका स्वयं अनुभव करके ज्ञातात्म-पुरुष (स्वानुभवमग्न अन्तरात्मा) मूढात्माओं (जड़बुद्धियों) को आत्म-तत्त्व क्यों नहीं बतलाते, जिससे वे भी आत्मस्वरूपके ज्ञायक बनें ऐसी आशंका करनेवालोंके प्रति आचार्य कहते हैं—

अज्ञापितं न जानन्ति यथा मां ज्ञापितं तथा।
मूढात्मानस्ततस्तेषां वृथामे ज्ञापनश्रमः ॥५८॥

अन्वयार्थ—स्वात्मानुभवमग्न अन्तरात्मा विचारता है कि (यथा) जैसे (मूढात्मानः) ये मूर्ख अज्ञानी जीव (अज्ञापितं) बिना बताए हुए (मां) मेरे आत्मस्वरूपको (न जानन्ति) नहीं जानते हैं। (तथा) वैसे ही (ज्ञापितं) बतलाये जाने पर भी नहीं जानते हैं। (ततः) इसलिये (तेषां) उन मूढ पुरुषोंको (मे ज्ञापन-श्रमः) मेरा बतलानेका परिश्रम (वृथा) व्यर्थ है, निष्फल है।

भावार्थ—जो ज्ञानी जीव अन्तर्मुखी होते हैं वे बाह्य विषयों-में अपने चित्तको अधिक नहीं भ्रमाते—उन्हें तो अपने आत्माके चिन्तन और मननमें लगे रहना ही अधिक रुचिकर होता है। मूढ़ात्माओंके साथ आत्म-विषयमें मग़ज़-पच्ची करना उन्हें नहीं भाता। वे इस प्रकार जड़ात्माओंके साथ टक्कर मारनेके अपने परिश्रमको व्यर्थ समझते हैं और समझते हैं कि इस तरह मूढ़ा-त्माओंके साथ उलझे रहकर कितने ही ज्ञानीजन अपने आत्महित साधनसे वंचित रह जाते हैं। आत्महित साधन सर्वोपरि मुख्य है, उसे इधर-उधरके चक्करमें पड़कर भुलाना नहीं चाहिये ॥५८॥

और भी वह अन्तरात्मा विचारता है—

यद् बोधयितुमिच्छामि तन्नाहं यदहं पुनः ।
ग्राह्यं तदपि नान्यस्य तत्किमन्यस्य बोधये ॥५६॥

अन्वयार्थ—(यत्) जिस विकल्पाधिरूढ आत्मस्वरूपको अथवा देहादिकको (बोधयितुं) समझाने-बुझानेकी (इच्छामि) मैं इच्छा करता हूँ—चेष्टा करता हूँ (तत्) वह (अहं) मैं नहीं हूँ—आत्माका वास्तविक स्वरूप नहीं हूँ । (पुनः) और (यत्) जो ज्ञानानन्दमय स्वयं अनुभव करने योग्य आत्मस्वरूप (अहं) मैं हूँ (तदपि) वह भी (अन्यस्य) दूसरे जीवोंके (ग्राह्यं न) उपदेश द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं है—वह तो स्वसंवेदनके द्वारा अनुभव किया जाता है (तत्) इसलिए (अन्यस्य) दूसरे जीवोंको (किं बोधये) मैं क्या समझाऊँ ?

भावार्थ—तत्त्वज्ञानी अन्तरात्मा अपने उपदेशकी व्यर्थताको सोचता हुआ पुनः विचारता है कि—जिस आत्मस्वरूपको शब्दों द्वारा मैं दूसरोंको बतलाना चाहता हूँ वह तो सविकल्प है—आत्माका शुद्ध स्वरूप नहीं है; और जो आत्माका वास्तविक शुद्ध स्वरूप है वह शब्दों द्वारा बतलाया नहीं जा सकता-स्वसंवेदनके द्वारा ही अनुभव एवं ग्रहण किये जानेके योग्य है; तब दूसरोंको मेरे उपदेश देनेसे क्या नतीजा ? ॥५६॥

आत्मतत्त्वके जैसे-तैसे समझाये जानेपर भी बहिरात्माका अनुराग होना संभव नहीं; क्योंकि मोहके उदयसे बाह्य पदार्थोंमें

ही उसका अनुराग होता है, इसी विचारको आगे प्रस्तुत करते हैं—

बहिस्तुष्यति मूढात्मा पिहितज्योतिरन्तरे ।
तुष्यत्यन्तः प्रबुद्धात्मा बहिर्व्यावृत्तकौतुकः ॥६०॥

अन्वयार्थ—(अन्तरे पिहितज्योतिः) अन्तरङ्गमें जिसकी ज्ञानज्योति मोहसे आच्छादित हो रही है—जिसे स्वरूपका विवेक नहीं ऐसा (मूढात्मा) बहिरात्मा (बहिः) बाह्य शरीरादि पर-पदार्थोंमें ही (तुष्यति) संतुष्ट रहता है—आनन्द मानता है; किन्तु (प्रबुद्धात्मा) मिथ्यात्वके उदयाभावसे प्रबोधको प्राप्त होगया है आत्मा जिसका ऐसा स्वरूप विवेकी अन्तरात्मा (बहिर्व्यावृत्त-कौतुकः) बाह्यशरीरादि पदार्थोंमें अनुरागरहित हुआ (अन्तः) अपने अन्तरंग आत्मस्वरूपमें ही (तुष्यति) संतोष धारण करता है—मग्न रहता है ।

भावार्थ—मूढात्मा और प्रबुद्धात्माकी प्रवृत्तिमें बड़ा अन्तर होता है। मूढात्मा मोहोदयके वश महा अविवेकी हुआ समझाने पर भी नहीं समझता और बाह्य विषयोंमें ही संतोष मानता हुआ फंसा रहता है। प्रत्युत इसके, प्रबुद्धात्माको अपने आत्मस्वरूपमें लीन रहनेमें ही आनन्द आता है और इसीसे वह बाह्य विषयोंसे अपने इन्द्रिय-व्यापारको हटाकर प्रायः उदासीन रहता है ॥६०॥

किसी कारण अन्तरात्मा शरीरादिको वस्त्राभूषणादिसे अलंकृत और मंडित करनेमें उदासीन होता है, उसे बतलाते हैं—

न जानन्ति शरीराणि सुख-दुःखान्यबुद्धयः ।
निग्रहानुग्रहधियं तथाप्यत्रैव कुर्वते ॥६१॥

अन्वयार्थ—अन्तरात्मा विचारता है—(शरीराणि) ये शरीर (सुख-दुःखानि न जानन्ति) जड़ होनेसे सुखों तथा दुःखोंको नहीं जानते हैं (तथापि) तो भी [ये] जो जीव (अत्रैव) इन शरीरोंमें ही (निग्रहानुग्रहधियं) उपवासादि द्वारा दंडरूप निग्रहकी और अलंकारादि द्वारा अलंकृत करने रूप अनुग्रहकी बुद्धि (कुर्वते) धारण करते हैं [ते] वे जीव (अबुद्धयः) मूढ़बुद्धि हैं—बहिरात्मा हैं ।

भावार्थ—अन्तरात्मा विचारता है कि जब ये शरीर जड़ है—इन्हें सुख-दुःखका कोई अनुभव नहीं होता और न ये किसीके निग्रह या अनुग्रहको ही कुछ समझते हैं तब इनमें निग्रहानुग्रहकी बुद्धि धारण करना मूढ़ता नहीं तो और क्या है ? उसका यह विचार ही उसे शरीरोंको वस्त्राभूषणादिसे अलंकृत और मंडित करनेमें उदासीन बनाये रखता है-वह उनकी अनावश्यक चिन्ताको अपने हृदयमें स्थान ही नहीं देता ॥६१॥

शरीरादिकमें जब तक आत्मबुद्धिसे प्रवृत्ति रहती है तभी तक संसार है और जब वह प्रवृत्ति मिट जाती है तब मुक्तिकी प्राप्ति हो जाती है, ऐसा दर्शाते हुए कहते हैं—

स्वबुद्धया यावद्गृह्णीयात् कायवाक्चेतसां त्रयम् ।

संसारस्तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः ॥६२॥

अन्वयार्थ—(यावत्) जब तक (कायवाक्चेतसां त्रयम्) शरीर, वचन और मन इन तीनोंको (स्वबुद्ध्या) आत्मबुद्धिसे (गृह्णीयात्) ग्रहण किया जाता है (तावत्) तब तक (संसारः) संसार है (तु) और जब (एतेषां) इन मन, वचन, कायका (भेदाभ्यासे) आत्मासे भिन्न होनेरूप अभ्यास किया जाता है तब (निर्वृतिः) मुक्तिकी प्राप्ति होती है ।

भावार्थ—जब तक इस जीवकी मन-वचन-कायमें आत्मबुद्धि बनी रहती है—इन्हें आत्माके ही अंग अथवा अंश समझा जाता है—तबतक यह जीव संसारमें ही परिभ्रमण करता रहता है। किन्तु जब उसकी यह भ्रमबुद्धि मिट जाती है और वह शरीर तथा वचनादिको आत्मासे भिन्न अनुभव करता हुआ अपने उस अभ्यासमें दृढ़ हो जाता है तभी वह संसार बंधनसे छूटकर मुक्तिको प्राप्त होता है ॥६२॥

शरीरादिक आत्मासे भिन्न हैं—उनमें जीव नहीं—ऐसा भेद-ज्ञानका अभ्यास दृढ़ हो जाने पर अन्तरात्मा शरीरकी दृढतादिक बनने पर आत्माकी दृढतादिक नहीं मानता, इस बातको आगेके चार श्लोकोंमें बतलाते हैं ।

घने वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न घनं मन्यते तथा ।
घने स्वदेहेप्यात्मानं न घनं मन्यते बुधः ॥६३॥

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार (वस्त्रे घने) गाढ़ा वस्त्र पहन लेनेपर (बुधः) बुद्धिमान् पुरुष (आत्मानं) अपनेको-अपने शरीरको (घनं) गाढ़ा अथवा दृष्ट (न मन्यते) नहीं मानता है (तथा) उसी प्रकार (स्वदेहेऽपि घने) अपने शरीरके भी गाढ़ा अथवा पुष्ट होनेपर (बुधः) अन्तरात्मा (आत्मानं) अपने जीवात्माको (घनं न मन्यते) पुष्ट नहीं मानता है ॥६३॥

*जीर्णे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न जीर्णं मन्यते तथा ।
जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मानं न जीर्णं मन्यते बुधः ॥६४॥

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार (वस्त्रे जीर्णे) पहने हुए वस्त्रके जीर्ण-बोदा-होनेपर (बुधः) बुद्धिमान पुरुष (आत्मानं) अपनेको-अपने शरीरको (जीर्णं न मन्यते) जीर्ण नहीं मानता है (तथा) उसी प्रकार (स्वदेहे अपि जीर्णे) अपने शरीरके भी जीर्ण होजानेपर (बुधः) अन्तरात्मा (आत्मानं) अपने जीवात्माको (जीर्णं न मन्यते) जीर्ण नहीं मानता है ॥६४॥

+ नष्टे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न नष्टं मन्यते तथा ।

---

* जिण्णि वत्थि जेम बुह देहु ण मण्णइ जिण्णु ।
देहि जिण्णिं णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ जिण्णु ॥२-१८१॥
—परमात्मप्रकाशे, योगीन्द्रदेवः

+ वत्थु पणट्ठइ जेम बुहु देहु ण मण्णइ णट्ठु ।
णट्ठे देहे णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ णट्ठु ॥२-१८०॥
—परमात्मप्रकाशे, योगीन्द्रदेवः

नष्टे स्वदेहेऽप्यात्मानं न नष्टं मन्यते बुधः ॥६५॥

अन्वयार्थ—(यथा) जिस तरह (वस्त्रे नष्टे) कपड़ेके नष्ट हो जानेपर (बुधः) बुद्धिमान पुरुष (आत्मानं) अपने शरीरको (नष्टं न मन्यते) नष्ट हुआ नहीं मानता है (तथा) उसी तरह (बुधः) अन्तरात्मा (स्वदेहे अपि नष्टे) अपने शरीरके नष्ट हो जानेपर (आत्मानं) अपने जीवात्माको (नष्टं न मन्यते) नष्ट हुआ नहीं मानता है ॥६५॥

*रक्ते वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न रक्तं मन्यते तथा।
रक्ते स्वदेहेऽप्यात्मानं न रक्तं मन्यते बुधः ॥६६॥

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार (वस्त्रे रक्ते) पहना हुआ वस्त्र लाल होनेपर (बुधः) बुद्धिमान पुरुष (आत्मानं) अपने शरीरको (रक्तं न मन्यते) लाल नहीं मानता है (तथा) उसी तरह (स्वदेहे अपि रक्ते) अपने शरीरके भी लाल होनेपर (बुधः) अन्तरात्मा (आत्मानं) अपने जीवात्माको (रक्तं न मन्यते) लाल नहीं मानता है ॥६६॥

भावार्थ—शरीरके साथ वस्त्रकी जैसी स्थिति है वैसी ही आत्माके साथ शरीर की है। पहनेजानेवाले वस्त्रके सुदृढ़-पुष्ट, जीर्ण-शीर्ण, नष्ट-भ्रष्ट अथवा लाल आदि किसी रंगका होनेके

---

* रत्ते वत्थे जेम बुहु देहु ण मण्णइ रत्तु।
देहे रत्ति णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ रत्तु ॥ २-७८ ॥
—परमात्मप्रकाशे, योगीन्द्रदेवः

कारण जिस प्रकार कोई भी समझदार मनुष्य अपने शरीरको सुदृढ़-पुष्ट, जीर्ण-शीर्ण, नष्ट-भ्रष्ट अथवा लाल आदि रंगका नहीं मानता है, उसी प्रकार शरीरके सुदृढ़-पुष्ट, जीर्ण-शीर्ण-नष्ट-भ्रष्ट या लाल आदि रंगका होनेपर कोईभी ज्ञानी मनुष्य अपने आत्माको सुदृढ़-पुष्ट, जीर्ण-शीर्ण, नष्ट-भ्रष्ट या लाल आदि रंगका नहीं मानता है। विवेकी अन्तरात्माकी प्रवृत्ति शरीरके साथ वस्त्र-जैसी होती है, इसीसे एक वस्त्रको उतारकर दूसरा वस्त्र पहननेवालेकी तरह उसे मृत्युके समय कोई विषाद या रंज भी नहीं होता ॥६३-६४-६५-६६॥

इस प्रकार शरीरादिकसे भिन्न आत्माकी भावना करनेवाले अन्तरात्माको जब ये शरीरादिक काष्ठ-पाषाणादिके खण्ड-समान प्रतिभासित होने लगते हैं—उनमें चेतनाका अंश भी उसकी प्रतीतिका विषय नहीं रहता—तब उसको मुक्तिकी योग्यता प्राप्त होती है। इसी बातको आगे दिखलाते हैं—

यस्य सस्पन्दमाभाति निःस्पन्देन समं जगत् ।
अप्रज्ञमक्रियाभोगं स शमं याति नेतरः ॥६७॥

अन्वयार्थ—(यस्य) जिस ज्ञानी जीवको (सस्पन्दं जगत्) अनेक क्रियाएँ-चेष्टाएं करता हुआ शरीरादिरूप यह जगत (निस्पन्देन समं) निश्चेष्ट काष्ठ-पाषाणादिके समान (अप्रज्ञं) चेतनारहित जड और (अक्रियाभोगं) क्रिया तथा सुखादि-

अनुभवरूप भोगसे रहित (आभाति) मालूम होने लगता है (सः) वह पुरुष (अक्रियाभोगं शमं याति) परमवीतरागतामय उस शान्ति-सुखका अनुभव करता है जिसमें मन-वचन-कायका व्यापार नहीं और न इन्द्रिय-द्वारोंसे विषयका भाग ही किया जाता है (इतरः न) उससे विलक्षण दूसरा बहिरात्मा जीव उस शान्ति-सुखको प्राप्त नहीं कर सकता है ।

भावार्थ—जिस समय अन्तरात्मा आत्मस्वरूपका चिन्तन करते-करते अपनेमें स्थिर हो जाता है कि उसे यह क्रियात्मक संसार भी लकड़ी पत्थर आदिकी तरह स्थिर तथा चेष्टा-रहित-सा जान पड़ता है—उसकी क्रियाओंका उसपर कोई असर नहीं होता—तभी वह वीतरागभावको प्राप्त होता हुआ शान्ति सुखका अधिकारी होता है ।

अब बहिरात्मा भी इसी प्रकार शरीरादिसे भिन्न आत्माको क्या जानता नहीं ? इसीको बतलाते हैं—

शरीरकंचुकेनात्मा संवृतज्ञानविग्रहः ।
नात्मानं बुध्यते तस्माद्भ्रमत्यतिचिरं भवे ॥६८॥

अन्वयार्थ—(शरीरकंचुकेन) कार्माणशरीररूपी कांचलीसे (संवृतज्ञानविग्रहः आत्मा) ढका हुआ है ज्ञानरूपी शरीर जिसका ऐसा बहिरात्मा (आत्मानं) आत्माके यथार्थ स्वरूपको (न बुध्

नहीं जानता है (तस्मात्) उसी अज्ञानके कारण (अतिचिरं) बहुत काल तक (भवे) संसारमें (भ्रमति) भ्रमण करता है ।

भावार्थ—इस लोक में 'कंचुक' शब्द उस आवरणका द्योतक है जो शरीरका यथार्थ बोध नहीं होने देता; सर्प-शरीरके ऊपरकी कांचली जिस प्रकार सर्पके रंगरूपादिका ठीक बोध नहीं होने देती उसी प्रकार आत्माका ज्ञानशरीर जब दर्शनमोहनीयके उदयादिरूप कार्माण वर्गणाओंसे आच्छादित हो जाता है तब आत्माके वास्तविक रूपका बोध नहीं होने पाता और इस अज्ञानताके कारण रागादिकका जन्म होकर चिरकाल तक संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है ।

यहांपर इतना और भी जान लेना चाहिये कि कांचलीका दृष्टान्त एक स्थूल दृष्टान्त है । कांचली जिस प्रकार सर्प-शरीरके ऊपरी भाग पर रहती है उसी प्रकारका सम्बन्ध कार्माण-शरीरका आत्माके साथ नहीं है । संसारी आत्मा और कार्माण-शरीरका ऐसा सम्बन्ध है जैसे पानीमें नमक मिल जाता है अथवा कत्था और चूना मिला देनेसे जैसे उनकी लालपरिणति हो जाती है । कर्मपरमाणुओंका आत्मप्रदेशोंके साथ एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध होता है, इसी कारण दोनोंके गुण विकृत रहते हैं तथा दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे बहिरात्मा जीव आत्मस्वरूपको समझाये जाने पर भी नहीं समझता है—आत्माके वास्तविक चिदानंदस्वरूपका अनुभव उसे नहीं होता । इसी मिथ्यात्व एवं अज्ञानभावके कारण

यह जीव अनादिकालसे संसारचक्रमें भ्रमण करता आरहा है और उस वक्त तक बराबर भ्रमण करता रहेगा जबतक उसका यह अज्ञानभाव नहीं मिटेगा ॥६८॥

यदि बहिरात्मा जीव आत्माके यथार्थ स्वरूपको नहीं पहिचानते हैं, तो फिर वे किसको आत्मा जानते हैं ? इसी बातको आगे बतलाते हैं—

प्रविशद्गलतां व्यूहे देहेऽणूनां समाकृतौ ।
स्थितिभ्रान्त्या प्रपद्यन्ते तमात्मानमबुद्धयः ॥६९॥

अन्वयार्थ—(अबुद्धयः) अज्ञानी बहिरात्मा जीव (प्रविशद्-गलतां अणूनां व्यूहे देहे) ऐसे परमाणुओंके समूहरूप शरीरमें जो प्रवेश करते रहते हैं और बाहर निकलते रहते हैं (समाकृतौ) शरीरकी आकृतिके समानरूपमें बने रहने पर (स्थितिभ्रांत्या) कालांतर—स्थायित्व तथा एकक्षेत्रमें स्थिति होनेके कारण शरीर और आत्माको एक समझनेके रूप जो भ्रांति होती है उससे (तम्) उस शरीरको ही (आत्मानं) आत्मा (प्रपद्यते) समझ लेते हैं।

भावार्थ—यद्यपि शरीर ऐसे पुद्गल परमाणुओंका बना हुआ है जो सदा स्थिर नहीं रहते—समय-समयपर अगणित परमाणु शरीरसे बाहर निकल जाते हैं और नये-नये परमाणु शरीरके भीतर प्रवेश करते हैं, फिर भी चूँकि आत्मा और शरीरका एक क्षेत्रावगाह सम्बंध है और परमाणुओंके इस निकल जाने

तथा प्रवेश पानेपर बाह्य आकृतिमें कोई विशेष भेद नहीं पड़ता—वह प्रायः ज्योंकी त्यों ही बनी रहती है—इससे मूढात्माओंको यह भ्रम हो जाता है कि यह शरीर ही मैं हूँ—मेरा आत्मा है। उसी भ्रमके कारण मूढ़ बहिरात्मा प्राणी शरीरको ही अपना रूप (आत्मस्वरूप) समझने लगते हैं। आभ्यन्तर आत्मतत्त्व तक उनकी दृष्टि ही नहीं पहुँचती ॥६९॥

ऐसी हालतमें आत्माका यथार्थ स्वरूप जाननेकी इच्छा रखने वालोंको चाहिये कि वह शरीरसे भिन्न आत्माकी भावना करें, ऐसा दर्शाते हैं—

*गौरः स्थूलः कृशो वाऽहमित्यङ्गेनाविशेषयन् ।
आत्मानं धारयेन्नित्यं केवलज्ञप्तिविग्रहम् ॥७०॥

अन्वयार्थ—(अहं) मैं (गौरः) गोरा हूँ (स्थूलः) मोटा हूँ (वा कृशः) अथवा दुबला हूँ (इति) इस प्रकार (अंगेन) शरीरके साथ (आत्मानं) अपनेको (अविशेयन्) एकरूप न करते हुए (नित्यं) सदा ही (आत्मानं) अपने आत्माको (केवलज्ञप्तिविग्रहम्) केवलज्ञानस्वरूप अथवा रूपादिरहित उपयोगशरीरी (धारयेत्) अपने चित्तमें धारण करे ॥७०॥

भावार्थ—गोरापन, कालापन, मोटापन, दुबलापन आदि

---

* हउँ गोरउ हउँ सामलउ हउँ जि विभिण्णउ वण्णु ।
हउँ तणु-अंगउँ थूलु हउँ एहउँ मुढउ मण्णु ॥ ८० ॥
—परमात्म प्रकाशे, योगीन्द्रदेवः

अवस्थाएँ पुद्गलकी हैं---पुद्गलसे भिन्न इनका अस्तित्व नहीं है। आत्मा इन शरीरके धर्मोंसे भिन्न एक ज्ञायकस्वरूप है। अतः आत्मपरिज्ञानके इच्छुकों को चाहिये कि वे अपने आत्माको इन पुद्गलपर्यायोंके साथ एकमेक (अभेदरूप) न करे, बल्कि इन्हें अपना रूप न मानते हुए अपनेको रूपादिरहित केवलज्ञानस्वरूप समझें। इसीका नाम भेदविज्ञान है ॥७०॥

जो इस प्रकार आत्माकी एकाग्रचित्तसे भावना करता है उसीको मुक्तिकी प्राप्ति होती है अन्यको नहीं, ऐसा दिखाते हैं—

मुक्तिरेकान्तिकी तस्य चित्ते यस्याचला धृतिः।
तस्य नैकान्तिकी मुक्तिर्यस्य नास्त्यचला धृतिः॥७१॥

अन्वयार्थ---(यस्य) जिस पुरुषके (चित्ते) चित्तमें (अचला) आत्मस्वरूपकी निश्चल (धृतिः) धारणा है (तस्य) उसकी (एकान्तिकी मुक्तिः) नियमसे मुक्ति होती है। (यस्य) जिस पुरुषकी (अचलाधृतिः नास्ति) आत्मस्वरूपमें निश्चल धारणा नहीं है (तस्य) उसकी (एकान्तिकी मुक्तिः न) अवश्यम्भाविनी मुक्ति नहीं होती है ॥७१॥

भावार्थ—जब यह जीव आत्मस्वरूपमें डाँवाडोल न रहकर स्थिर हो जाता है तभी मुक्तिकी प्राप्ति कर सकता है। आत्मस्वरूपमें स्थिरताके बिना मुक्तिकी प्राप्ति होना असंभव है ॥७१॥

चित्तकी निश्चलता तभी हो सकेगी जब लोक-संसर्गका

परित्याग कर आत्मस्वरूपका संवेदन एवं अनुभव किया जावेगा-अन्यथा नहीं हो सकेगी; इसी बातको आगे प्रकट करते हैं—

जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः ।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ॥७२॥

अन्वयार्थ—(जनेभ्यो) लोगोंके संसर्गसे (वाक्) वचनकी प्रवृत्ति होती है—चित्त चलायमान होता है (तस्मात्) चित्तकी चंचलतासे (चित्तविभ्रमाः भवन्ति) चित्तमें नाना प्रकारके विकल्प उठने लगते हैं—मन क्षुभित हो जाता है (ततः) इसलिये (योगी) योगमें संलग्न होनेवाले अन्तरात्मा साधुको चाहिये कि वह (जनैः संसर्गं त्यजेत्) लौकिक जनोंके संसर्गका परित्याग करे—खासकर ऐसे स्थानपर योगाभ्यास करने न बैठे जहांपर कुछ लौकिकजन जमा हों अथवा उनका आवागमन बना रहता हो ।

भावार्थ—आत्मस्वरूपमें स्थिरताके इच्छुक मुमुक्षु पुरुषोंको चाहिये कि वे लौकिक जनोंके संसर्गसे अपनेको प्रायः अलग रखें, क्योंकि लौकिकजन जहाँ जमा होते हैं वहाँ वे परस्परमें कुछ-न-कुछ बातचीत किया करते हैं, बोलते हैं और शोर तक मचाते हैं । उनकी इस वचनप्रवृत्तिके श्रवणसे चित्त चलायमान होता है और उसमें नाना प्रकारके संकल्प-विकल्प उठने लगते हैं, जो आत्मस्वरूपकी स्थिरतामें बाधक होते हैं—आत्माको अपना अन्तिम ध्येय सिद्ध करने नहीं देते ॥७२॥

तब क्या मनुष्योंका संसर्ग छोड़कर जंगलमें निवास करना चाहिये ? इस शंकाका निराकरण करते हुए कहते हैं--

ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासोऽनात्मदर्शिनाम् ।
दृष्टात्मनां निवासस्तु विविक्तात्मैव निश्चलः ॥७३॥

अन्वयार्थ--(अनात्मदर्शिनां) जिन्हें आत्माकी उपलब्धि-उसका दर्शन अथवा अनुभव नहीं हुआ ऐसे लोगोंके लिये (ग्रामः अरण्यम्) यह गाँव है, यह जंगल है (इति द्वेधा निवासः) इस प्रकार दो तरहके निवासकी कल्पना होती है (तु) किन्तु (दृष्टात्मनां) जिन्हें आत्मस्वरूपका अनुभव हो गया है ऐसे ज्ञानी पुरुषोंके लिये (विविक्तः) रागादि रहित विशुद्ध एवं (निश्चलः) चित्तकी व्याकुलता रहित स्वरूपमें स्थिर (आत्मा एव) आत्माही (निवासः) रहनेका स्थान है ।

भावार्थ--जो लोग आत्मानुभवसे शून्य होते हैं उन्हींका निवास-स्थान गाँव तथा जंगलमें होता है—कोई गांवको अपनाता है तो दूसरा जंगलसे प्रेम रखता है । गांव और जंगल दोनों ही बाह्य एवं परवस्तुएँ हैं । मात्र जंगलका निवास किसीको आत्मदर्शी नहीं बना देता । प्रत्युत इसके, जो आत्मदर्शी होते हैं उनका निवासस्थान वास्तवमें वह शुद्धात्मा होता है जो वीत-रागताके कारण चित्तकी व्याकुलताको अपने पास फटकने नहीं देता और इसलिये उन्हें न तो ग्रामवाससे प्रेम होता है और न

उनके निवाससे ही—वे दोनोंको ही अपने आत्मस्वरूपसे बहिर्भूत समझते हैं और इसलिए किसीमें भी आसक्तिका रखना अथवा उसे अपना (आत्माका) निवासस्थान मानना उन्हें इष्ट नहीं होता। वे तो शुद्धात्मस्वरूपको ही अपनी विहारभूमि बनाते हैं और उसीमें सदा रमे रहते हैं। ग्रामका निवास उन्हें आत्मदर्शी-से अनात्मदर्शी नहीं बना सकता ॥७३॥

अनात्मदर्शी और आत्मदर्शी होनेका फल क्या है, उसे दिखाते हैं—

देहान्तरगतेर्बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना।
बीजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥७४॥

अन्वयार्थ—(अस्मिन् देहे) कर्मोदयवश ग्रहण किये हुए इस शरीरमें (आत्मभावना) आत्माकी जो भावना है—शरीरको ही आत्मा मानना है—वही (देहान्तरगतेः) अन्य शरीर ग्रहणरूप भवान्तरप्राप्तिका (बीज) कारण है और (आत्मनि एव) अपनी आत्मामें ही (आत्मभावना) आत्मकी जो भावना है—आत्माको ही आत्मा मानना है—वह (विदेहनिष्पत्तेः)शरीरके सर्वथा त्याग रूप मुक्तिका (बीजं) कारण है।

भावार्थ—जो जीव कर्मोदयजन्य इस जड़ शरीरको ही आत्मा समझता है और इसीसे देह-भोगोंमें आसक्त रहता है, वह चिरकाल तक नये-नये शरीर धारण करता हुआ संसारपरिभ्रमण

करता है और इस तरह अनन्त कष्टोंको भोगता है। प्रत्युत इस-के, आत्माके निजस्वरूपमें ही जिसकी आत्मत्वकी भावना है वह जीव शीघ्र ही कर्मबन्धनसे छूटकर मुक्तिको प्राप्त हो जाता है और सदाके लिए अपने निराबाध सुखस्वरूपमें मग्न रहता है ॥ ७४ ॥

यदि ऐसा है, तब मुक्तिको प्राप्त करानेके लिए हेतुभूत कोई दूसरा गुरु तो होगा ? ऐसो आशंका करने वालेके प्रति कहते हैं—

नयत्यात्मानमात्मैव जन्म निर्वाणमेव च॥ ।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः॥७५॥

अन्वयार्थ–(आत्मा एव) आत्मा ही (आत्मानं) आत्मा-को (जन्म नयति) देहादिकमें दृढ़ात्मभावनाके कारण जन्म-मरण-रूप संसारमें भ्रमण कराता है (च) और (निर्वाणमेव नयति) आत्मामें ही आत्मबुद्धि के प्रकर्षवश मोक्ष प्राप्त कराता है (तस्मात्) इसलिये (परमार्थतः) निश्चयसे (आत्मनः गुरुः) आत्माका गुरु (आत्मा एव) आत्मा ही है (अन्यः न अस्ति) दूसरा कोई गुरु नहीं है।

भावार्थ——हितोपदेशक सद्गुरुओंका हितकर उपदेश सुन-कर भी जब तक यह जीव अपने आत्माको नहीं पहचानता और

※ 'वा' इति पाठान्तरं 'ग' पुस्तके ।

अंतरंग रागादिक शत्रुओं एवं कषाय-परिणति पर विजय प्राप्त कर स्वयं अपने उद्धारका यत्न नहीं करता तब तक बराबर संसाररूपी कीचड़में ही फँसा रहता है और जन्ममरणादिके असह्य कष्टोंको भोगता रहता है। परन्तु जब इस जीवकी भव-स्थिति सन्निकट आती है, दर्शनमोहका उपशम-क्षयोपशम होता है, उस समय सद्गुरुओंके उपदेशके बिना भी यह जीव अपने आत्मस्वरूपको पहचान लेता है और रागद्वेषादिरूप कषायभाव एवं विभावपरिणतिको त्याग करके स्वयं कर्मबन्धनसे छूट जाता है। इसलिये परमार्थिकदृष्टिसे तो खुद आत्मा ही अपना गुरु है—दूसरा नहीं ॥७५॥

शरीरमें आत्मबुद्धि रखनेवाला बहिरात्मा मरणके संनिकट आनेपर क्या करता है, उसे बतलाते हैं—

दृढात्मबुद्धिर्देहादावुत्पश्यन्नाशमात्मनः ।
मित्रादिभिर्वियोगं च बिभेति मरणाद्भृशम् ॥७६॥

अन्वयार्थ—(देहादौ दृढात्मबुद्धिः) शरीरादिकमें जिसकी आत्मबुद्धि दृढ हो रही है ऐसा बहिरात्मा (आत्मनः नाशम्) शरीरके छूटनेरूप अपने मरण (च) और (मित्रादिभिः वियोगं) मित्रादि-सम्बन्धियोंके वियोगको (उत्पश्यन्) देखता हुआ (मरणात्) मरनेसे (भृशम्) अत्यन्त (बिभेति) डरता है।

भावार्थ—फटे-पुराने कपड़ेको उतार कर नवीन वस्त्र पहनने

में जिस प्रकार कोई दुःख नहीं होता, उसी प्रकार एक शरीरको छोड़कर दूसरा नया शरीर धारण करनेमें कोई कष्ट न होना चाहिए। परन्तु यह अज्ञानी जीव मोहके तीव्रउदयवश जब शरीरको ही आत्मा समझ लेता है और शरीर सम्बन्धी स्त्री-पुत्र-मित्रादि परपदार्थोंको आत्मीय मान लेता है तब मरणके समुपस्थित होने पर उसे अपना (अपने आत्मा का) नाश और आत्मीय जनोंका वियोग दीख पड़ता है और इसलिए वह मरने से बहुत ही डरता है ॥७६॥

जिसकी आत्मस्वरूपमें ही आत्मबुद्धि है ऐसा अन्तरात्मा मरणके समुपस्थित होनेपर क्या करता है उसे बतलाते हैं—

आत्मन्येवात्मधीरन्यां शरीरगतिमात्मनः ।
मन्यते निर्भयं त्यक्त्वा वस्त्रं वस्त्रांतरग्रहम् ॥७७॥

अन्वयार्थ—(आत्मनिः एव आत्मधीः) आत्मस्वरूपमें ही जिसकी दृढ़ आत्मबुद्धि है ऐसा अन्तरात्मा (शरीरगतिं) शरीरके विनाशको अथवा बाल-युवा आदिरूप उसकी परिणतिको (आत्मनः अन्यां) अपने आत्मासे भिन्न (मन्यते) मानता है—शरीरके उत्पाद विनाशमें अपने आत्माका उत्पाद-विनाश नहीं मानता—और इस तरह मरणके अवसरपर (वस्त्रं त्यक्त्वा वस्त्रान्तरग्रहम् इव) एक वस्त्रको छोड़कर दूसरा वस्त्र ग्रहण करने की तरह (निर्भयं मन्यते) निर्भय रहता है ॥७७॥

भावार्थ--अन्तरात्मा स्व-परके भेदका यथार्थ ज्ञाता होता है, अतएव पुद्गलके विविध परिणामोंसे खेद खिन्न नहीं होता। शरीरादि पुद्गलमय द्रव्योंको वह अपने नहीं समझता। इसीलिये शरीररूपी झोंपड़ीका विनाश समुपस्थित होनेपर भी उसे आकुलता नहीं सताती। वह तो निर्भय हुआ अपने आत्मस्वरूपमें मग्न रहता है और शरीरके त्याग ग्रहणको वस्त्रके त्याग ग्रहणके समान समझता है ॥७७॥

इस प्रकार वही आत्मबोधको प्राप्त होता है जो व्यवहारमें अनादरवान है--अनासक्त है--और जो व्यवहारमें आदरवान् है—आसक्त है--वह आत्मबोधको प्राप्त नहीं होता।

व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्ताश्चात्मगोचरे ॥७८॥

अन्वयार्थ--(यः) जो कोई (व्यवहारे) प्रवृत्ति-निवृत्यादिरूप लोकव्यवहारमें (सुषुप्तः) सोता है- अनासक्त एवं अप्रयत्नशील रहता है (सः) वह (आत्मगोचरे) आत्माके विषयमें (जागर्ति) जागता है —आत्मानुभवमें तत्पर रहता है (च) और जो (अस्मिन् व्यवहारे) इस लोक व्यवहारमें (जागर्ति) जागता है--उसकी साधनामें तत्पर रहता है वह (आत्मगोचरे) आत्मा-

---

* जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ॥ ३१ ॥
मोक्षप्राभृते, कुन्दकुन्दः।

के विषयमें (सुषुप्त:) होता है—आत्मानुभवका कोई प्रयत्न नहीं करता है।

भावार्थ—जिस प्रकार एक म्यानमें दो तलवारें नहीं रह सकतीं उसी प्रकार आत्मामें एक साथ दो विरुद्ध परिणतियां भी नहीं रह सकतीं, आत्मासक्ति और लोकव्यवहारासक्ति ये दो विरुद्ध परिणतियां हैं। जो आत्मानुभवनमें आसक्त हुआ आत्माके आराधनमें तत्पर होता है वह लौकिक व्यवहारोंसे प्रायः उदासीन रहता है—उनमें अपने आत्माको नहीं फँसाता। और जो लोकव्यवहारोंमें अपने आत्माको फँसाए रखता है—उन्हींमें सदा दत्तावधान रहता है—वह आत्माके विषयमें बिल्कुल बेखबर रहता है—उसे अपने शुद्धस्वरूपका कोई अनुभव नहीं हो पाता॥७८॥

जो अपने आत्मस्वरूपके विषयमें जागता है—उसकी ठीक सावधानी रखता है—वह मुक्तिको प्राप्त करता है, ऐसा कहते हैं—

आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा दृष्ट्वा देहादिकं बहिः।
तयोरन्तरविज्ञानादाभ्यासादच्युतो भवेत् ॥७९॥

अन्वयार्थ—(अन्तरे) अन्तरंगमें (आत्मानम्) आत्माके वास्तविक स्वरूपको (दृष्ट्वा) देखकर और (बहिः) बाह्यमें (देहादिकं) शरीरादिक परभावोंको (दृष्ट्वा) देखकर (तयोः)

आत्मा और शरीरादिक दोनोंके (अन्तरविज्ञानात्) भेदविज्ञानसे तथा (अभ्यासात्) अभ्यास द्वारा उस भेदविज्ञानमें दृढ़ता प्राप्त करनेसे (अच्युतो भवेत्) यह जीव मुक्त हो जाता है।

भावार्थ--जब इस जीवको आत्मस्वरूपका दर्शन होजाता है और यह शरीरादिकको अपने आत्मासे भिन्न परपदार्थ समझने लगता है तब इसकी परिणति पलट जाती है—बाह्य विषयोंसे हट-कर अन्तर्मुखी हो जाती है—और तब यह अपने उपयोगको इधर उधर इन्द्रिय विषयोंमें न भ्रमाकर आत्माराधनकी ओर एकाग्र करता है, आत्मसाधनके अपने अभ्यासको बढ़ाता है और उस अभ्यासमें दृढता सम्पादन करके अपने सम्यग्दर्शनादि गुणोंका पूर्ण विकास कर लेता है। फिर उसका आत्मस्वरूपसे पतन नहीं होता--वह उसमें बराबर स्थिर रहता है। इसीका नाम अच्युत (मोक्ष) पदकी प्राप्ति है ॥७९॥

शरीर और आत्माका जिसे भेदविज्ञान होगया है ऐसे अन्तरात्माको यह जगत योगाभ्यासकी प्रारम्भावस्थामें कैसा दिखाई देता है और योगाभ्यासकी निष्पन्नावस्थामें कैसा प्रतीत होता है उसे बतलाते हैं—

पूर्वं दृष्टात्मतत्त्वस्य विभात्युन्मत्तवज्जगत् ।
स्वभ्यस्तात्मधियःपश्चात् काष्ठपाषाणरूपवत् ॥८०॥

अन्वयार्थ--(दृष्टात्मतत्त्वस्य) जिसे आत्मदर्शन हो गया है ऐसे योगी जीवको (पूर्वं) योगाभ्यासकी प्राथमिक अवस्थामें

(जगत्) यह सब प्राणिसमूह (उन्मत्तवत्) उन्मत्त-सरीखा (विभाति) मालूम होता है किन्तु (पश्चात्) बादको जब योगकी निष्पन्नावस्था हो जाती है तब (स्वभ्यस्तात्मधियः) आत्मस्वरूपके अभ्यासमें परिपक्वबुद्धि हुए अन्तरात्माको (काष्ठपाषाणरूपवत्) यह जगत् काठ और पत्थरके समान चेष्टारहित मालूम होने लगता है।

भावार्थ—अपने शरीरसे भिन्नरूप जब आत्माका अनुभव होता है तब योगकी प्रारम्भिक दशा होती है, उस समय योगी अन्तरात्माको यह जगत् स्वरूपचिन्तनसे विकल होनेके कारण शुभाऽशुभ चेष्टाओंसे युक्त और नाना प्रकारके बाह्य विकल्पोंसे घिरा हुआ उन्मत्त—जैसा मालूम पड़ता है। बादको योगमें निष्णात होनेपर जब आत्मानुभवका अभ्यास खूब दृढ हो जाता है—बाह्यविषयोंमें उसकी परिणति नहीं जाती—तब, परम उदासीन भावका अवलम्बन न लेते हुए भी, जगद्विषयक चिन्ताका अभाव हो जानेके कारण उसे यह जगत--काष्ठ--पाषाण—जैसा निश्चेष्ट जान पड़ता है। यह सब भेदविज्ञान और अभ्यास--अनभ्यासका माहात्म्य है ॥ ८० ॥

यदि कोई शंका करे कि 'स्वभ्यस्तात्मधियः' यह पद जो पूर्वश्लोकमें दिया है वह व्यर्थ है—आत्मतत्त्वके अभ्यासमें परिपक्व होनेकी कोई जरूरत नहीं—क्योंकि शरीर और आत्माके स्वरूपके जाननेवालोंसे आत्मा शरीरसे भिन्न है ऐसा सुननेसे

अथवा स्वयं दूसरोंको उस स्वरूपका प्रतिपादन करनेसे मुक्ति हो जायगी, इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं—

शृण्वन्नप्यन्यतः कामं वदन्नपि कलेवरात् ।
नात्मानं भावयेद्भिन्नं यावत्तावन्न मोक्षभाक् ॥८१॥

अन्वयार्थ—आत्माका स्वरूप (अन्यतः) उपाध्याय आदि गुरुओंके मुखसे (कामं) खूब इच्छानुसार (शृण्वन्नपि) सुनने पर तथा (कलेवरात्) अपने मुखसे (वदन्नपि) दूसरोंको बतलाते हुए भी (यावत्) जब तक (आत्मानं) आत्मस्वरूपकी (भिन्नं) शरीरादि परपदार्थोंसे भिन्न (न भावयेत्) भावना नहीं की जाती। (तावत्) तब तक (मोक्षभाक् न) यह जीव मोक्षका अधिकारी नहीं हो सकता ॥ ८१ ॥

भावार्थ—जीव और पुद्गलके स्वरूपको सुनकर तोतेकी तरहसे रट लेने और दूसरोंको सुना देने मात्रसे मुक्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। मुक्तिकी प्राप्तिके लिए आत्माको शरीरादिसे भिन्न अनुभव करनेकी खास ज़रूरत है। जब तक भावनाके बल पर यह अभ्यास दृढ़ नहीं होता तब तक कुछ भी आत्मकल्याण नहीं बन सकता ॥८१॥

भेदविज्ञानकी भावनामें प्रवृत्त हुए अन्तरात्माको क्या करना चाहिये, उसे बतलाते हैं—

तथैव भावयेद्देहाद्व्यावृत्यात्मानमात्मनि ।
यथा न पुनरात्मानं देहे स्वप्नेऽपि योजयेत् ॥८२॥

अन्वयार्थ—अन्तरात्माको चाहिए कि वह (देहात्) शरीरसे (आत्मानं) आत्माको (व्यावृत्य) भिन्न अनुभव करके (आत्मनि) आत्मामें ही (तथैव) उस प्रकारसे (भावयेत्) भावना करे (यथा पुनः) जिस प्रकार से फिर (स्वप्नेऽपि) स्वप्नमें भी (देहे) शरीरकी उपलब्धि होनेपर उसमें (आत्मानं) आत्माको (न योजयेत्) योजित न करे। अर्थात् शरीरको आत्मा न समझ बैठे।

भावार्थ—मोहकी प्रबलता-जन्य चिरकालका अज्ञान संस्कार जब हृदय से निकल जाता है तब स्वप्नमें भी इस जड़ शरीरमें आत्माकी बुद्धि नहीं होती। अतः उक्त संस्कारको दूर करनेके लिये भेदविज्ञानकी निरंतर भावना करनी चाहिये ॥ ८२ ॥

जिस प्रकार परम उदासीन अवस्थामें स्व-परका विकल्प त्यागने योग्य होता है उसी प्रकार व्रतोंके पालनेका विकल्प भी त्याज्य है। क्योंकि—

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः ।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ॥ ८३ ॥

अन्वयार्थ - (अव्रतैः) हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहरूप पांच अव्रतोंके अनुष्ठानसे (अपुण्यम्) पापका बंध होता है और (व्रतैः) अहिंसादिक पांच व्रतोंके पालनेसे (पुण्यं) पुण्यका बंध होता है (तयोः) पुण्य और पाप दोनों कर्मोंका (व्ययः) जो विनाश है और वही (मोक्षः) मोक्ष है (ततः) इसलिये (मोक्षार्थी)

मोक्षके इच्छुक भव्य पुरुषको चाहिये कि(अव्रतानि इव) अव्रतोंकी तरह (व्रतानि अपि) व्रतोंको भी (त्यजेत्) छोड़ देवे ।

भावार्थ---मोक्षार्थी पुरुषको मोक्षप्राप्तिके मार्गमें जिस प्रकार पंच अव्रत विघ्नस्वरूप हैं उसी प्रकार पाँच व्रत भी बाधक हैं, क्योंकि लोहेकी बेड़ी जिस प्रकार बन्धकारक है उसी प्रकार सोने की बेड़ी भी बंधकारक है । दोनों प्रकारकी बेड़ियोंका अभाव होने पर जिस प्रकार लोकव्यवहार में मुक्ति (आजादी) समझी जाती है उसी प्रकार परमार्थमें भी व्रत और अव्रत दोनोंके अभावसे मुक्ति मानी गई है । अतः मुमुक्षुको अव्रतोंकी तरह व्रतोंको भी छोड़ देना चाहिये ।।८३।।

अब उनके छोड़नेका क्रम बतलाते हैं--

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः ।
त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः ।।८४।।

अन्वयार्थ--(अव्रतानि) हिंसादिक पंच अव्रतोंको (परित्यज्य) छोड़ करके (व्रतेषु) अहिंसादिक व्रतोंमें (परिनिष्ठितः) निष्ठावान् रहे अर्थात् उनका दृढ़ताके साथ पालन करे, बादको (आत्मनः) आत्माके (परमं पदं) रागद्वेषादिरहित परम वीतराग-पदको (प्राप्य) प्राप्त करके (तान अपि) उन व्रतोंको भी (त्यजेत्) छोड़ देवे ।।८४।।

भावार्थ---प्रथम तो हिंसादिक पंच पापरूप अशुभ प्रवृत्तिको छोड़कर अहिंसादिक व्रतोंके अनुष्ठानरूप शुभ प्रवृत्ति करनी

चाहिये। साथ ही; अपना लक्ष शुद्धोपयोगकी ओर ही रखना चाहिये। जब आत्माके परमपदरूप शुद्धोपयोगकी–परमवीत-रागतामय क्षीणकषायनामक गुणस्थानकी––सम्प्राप्ति हो जावे तब उन व्रतोंको भी छोड़ देना चाहिये। लेकिन जब तक वीत-राग दशा न हो जावे तबतक व्रतोंका अवलम्बन रखना चाहिये, जिससे अशुभकी ओर प्रवृत्ति न हो सके ॥८४॥

किस प्रकार अव्रतों और व्रतोंके विकल्पको छोड़नेपर परमपदकी प्राप्ति होगी, उसे बतलाते हैं–

यदन्तर्जल्पसंपृक्तमुत्प्रेक्षाजालमात्मनः ।
मूलं दुःखस्य तन्नाशे शिष्टमिष्टं परं पदम् ॥८५॥

अन्वयार्थ–(अन्तर्जल्पसंपृक्तं) अंतरंगमें वचन व्यापारको लिये हुए (यत् उत्प्रेक्षाजालं) जो अनेक प्रकारकी कल्पनाओंका जाल है वही (आत्मनः) आत्माके (दुःखस्य) दुःखका (मूलं) मूल कारण है (तन्नाशे) उस विविध संकल्प विकल्परूप कल्पनाजालके विनाश होनेपर (इष्टं) अपने प्रिय हितकारी (परमं पदं शिष्टं) परमपदकी प्राप्ति कही गई है।

भावार्थ––यह जीव अपने चिदानन्दमय परम अतीन्द्रिय अविनाशी निर्विकल्प स्वरूपको भूलकर जब तक बाह्यविषयोंको अपनाता हुआ दुःखोंके मूलकारण अन्तर्जल्परूपी अनेक संकल्प-विकल्पोंके जालमें फँसा रहता है—मन-ही-मन कुछ गुन गुनाता अथवा हवासे बातें करता है—तब तक इसको परमपदकी प्राप्ति

नहीं हो सकती और न कोई सुख ही मिल सकता है। सुखमय परमपदकी प्राप्ति उसीको होती है जो अन्तर्जल्परूपी उत्प्रेक्षाजाल-का सर्वथा त्याग करके अपने ही चैतन्य चमत्काररूप विज्ञानघन आत्मामें लीन हो जाता है ॥८५॥

उस उत्प्रेक्षाजालका नाश करनेके लिये उद्यमी मनुष्य किस क्रमसे उसका नाश करे, उसे बतलाते हैं—

अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायणः ।

परात्मज्ञानसम्पन्नः स्वयमेव परो भवेत् ॥८६॥

अन्वयार्थ—(अव्रती) हिंसादिक पंच अव्रतों-पापोंमें अनुरक्त हुआ मानव (व्रतं आदाय) व्रतोंको ग्रहण करके, अव्रतावस्थामें होनेवाले विकल्पोंका नाश करे,तथा (व्रती) अहिंसादिक व्रतोंका धारक (ज्ञानपरायणः) ज्ञानभावनामें लीन होकर ,व्रतावस्थामें होने वाले विकल्पोंका नाश करे और फिर अरहंत-अवस्थामें (परात्मज्ञानसम्पन्नः) केवलज्ञानसे युक्त होकर (स्वयमेव) स्वयं ही-बिना किसीके उपदेशके (परः भवेत्) परमात्मा होवे—सिद्ध-स्वरूपको प्राप्त करे।

भावार्थ—विकल्पजालको जीतकर सिद्धि प्राप्त करनेका क्रम अव्रतीसे व्रती होना, व्रतीसे ज्ञानभावनामें लीन होना,ज्ञानभावना-में लीन होकर केवलज्ञानको प्राप्त करना और केवलज्ञानसे संपन्न होकर सिद्धपदको प्राप्त करना है ॥८६॥

जिस प्रकार व्रतोंका विकल्प मोक्षका कारण नहीं उसी प्रकार लिंगका विकल्प भी मोक्षका कारण नहीं हो सकता, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

लिङ्गं देहाश्रितं दृष्टं देहएवात्मनो भवः ।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिङ्गकृताग्रहाः ॥८७॥

अन्वयार्थ—(लिङ्ग) जटा धारण करना अथवा नग्न रहना आदि वेष (देहाश्रितं दृष्टं) शरीरके आश्रित देखा जाता है (देह एव) और शरीर ही (आत्मनः) आत्माका (भवः) संसार है (तस्मात्) इसलिये (ये लिङ्गकृताग्रहाः) जिनको लिङ्गका ही आग्रह है—बाह्य वेष धारण करनेसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है ऐसी हठ है (ते) वे पुरुष (भवात्) संसारसे (न मुच्यन्ते) नहीं छूटते हैं ॥८७॥

भावार्थ—जो जीव केवल लिंग अथवा बाह्य वेषको ही मोक्ष-का कारण मानते हैं वे देहात्मदृष्टि हैं और इसलिये मुक्तिको प्राप्त नहीं हो सकते। क्योंकि लिंगका आधार देह है और देह ही इस आत्माका संसार है—देहके अभावमें संसार रहता नहीं। जो लिंगके आग्रही हैं—लिंगको ही मुक्तिका कारण समझते हैं—संसारको अपनाये हुए हैं, और जो संसारके आग्रही होते हैं—उसीकी हठ पकड़े रहते हैं—वे संसारसे नहीं छूट सकते ॥८७॥

जो ऐसा कहते हैं कि 'वर्णोंका ब्राह्मण गुरु है, इसलिए

वही परमपद के योग्य है' वे भी मुक्तिके योग्य नहीं हैं, ऐसा बतलाते हैं—

जातिर्देहाश्रिता दृष्टा देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये जातिकृताग्रहाः ॥८८॥

अन्वयार्थ—(जातिः) ब्राह्मण आदि जाति (देहाश्रिता दृष्टा) शरीरके आश्रित देखी गई है (देह एव) और शरीर ही (आत्मनः भवः) आत्माका संसार है (तस्मात्) इसलिये (ये) जो जीव (जातिकृताग्रहाः) मुक्ति की प्राप्तिके लिये जातिका हठ पकड़े हुए हैं (तेऽपि) वे भी (भवात्) संसारसे (न मुच्यन्ते) नहीं छूट सकते हैं।

भावार्थ–लिंगकी तरह जाति भी देहाश्रित है और इस लिए जातिका दुराग्रह रखने वाले भी मुक्तिको प्राप्त नहीं हो सकते। उनका जाति-विषयक आग्रह भी संसारका ही आग्रह है और इसलिए वे संसारसे कैसे छूट सकते हैं?—नहीं छूट सकते ॥८८॥

तब तो ब्राह्मण आदि जातिविशिष्ट मानव ही साधुवेष धारणकर मुक्ति प्राप्त कर सकता है, ऐसा कहने वालोंके प्रति कहते हैं—

जातिलिंगविकल्पेन येषां च समयाग्रहः।
तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः ॥८९॥

अन्वयार्थ---(येषां) जिन जीवोंका (जातिलिंगविकल्पेन) जाति और वेषके विकल्प से मुक्ति होती है ऐसा (समयाग्रहः) आगम-सम्बन्धी आग्रह है--ब्राह्मण आदि जातिमें उत्पन्न होकर अमुक वेष धारण करनेसे ही मुक्ति होती है ऐसा आगमानुबन्धि हठ है (ते अपि) वे पुरुष भी (आत्मनः) आत्माके (परमं पद) परमपदको (न प्राप्नुन्त्येव) प्राप्त नहीं कर सकते हैं--संसारसे मुक्त नहीं हो सकते हैं ।

भावार्थ---जिनका ऐसा आग्रह है कि अमुक जातिवाला अमुक वेष धारण करे तभी मुक्तिकी प्राप्ति होती है ऐसा आगममें कहा है, वे भी मुक्तिको प्राप्त नहीं हो सकते; क्योंकि जाति और लिंग दोनों ही जब देहाश्रित हैं और देह ही आत्माका संसार है तब संसारका आग्रह रखने वाले उससे कैसे छूट सकते हैं ? ।। ८९ ।।

उस परमपदकी प्राप्तिके लिये ब्राह्मणादिजातिविशिष्ट शरीरमें निर्ममत्वको सिद्ध करनेके लिये भोगोंको छोड़ देने पर भी अज्ञानी जीव मोहके वश होकर शरीरमें ही अनुराग करने लग जाते हैं, ऐसा कहते हैं—

यत्त्यागाय निवर्तन्ते भोगेभ्यो यदवाप्तये ।
प्रीतिं तत्रैव कुर्वन्ति द्वेषमन्यत्र मोहिनः ॥९०॥

अन्वयार्थ---[यत्त्यागाय] जिस शरीरके त्यागके लिये--उससे ममत्व दूर करनेके लिये---और (यद् अवाप्तये) जिस परम-

वीतराग पदको प्राप्त करनेके लिये [भोगेभ्यः] इन्द्रियोंके भोगोंसे (निवर्तन्ते) निवृत्त होते हैं अर्थात् उनका त्याग करते हैं (तत्रैव) उसी शरीर और इन्द्रियोंके विषयोंमें (मोहिनः) मोही जीव (प्रीतिं कुर्वन्ति) प्रीति करते हैं और (अन्यत्र) वीतरागता आदि-के साधनोंमें (द्वेषं कुर्वन्ति) द्वेष करते हैं ॥९०॥

भावार्थ—मोहकी बड़ी ही विचित्र लीला है। जिस शरीर से ममत्व हटानेके लिये भोगोंसे निवृत्ति धारणकी जाती है—संयम ग्रहण किया जाता है—उसीसे मोही जीव पुनः प्रीति करने लगता है और जिस वीतरागभावकी प्राप्ति के लिये भोगोंसे निवृत्ति धारण की जाती है—संयमका आश्रय लिया जाता है—उसीसे मोही जीव द्वेष करने लगता है। ऐसी हालतमें मोहपर विजय प्राप्त करनेके लिये बड़ी ही सावधानी की जरूरत है और वह तभी बन सकती है जब साधककी दृष्टि शुद्ध हो। दृष्टिमें विकार आते ही सारा खेल बिगड़ जाता है—अपकारीको उप-कारी और उपकारीको अपकारी समझ लिया जाता है ॥९०॥

मोही जीवोंके शरीरमें दर्शनव्यापारका विपर्यास किस प्रकार होता है, उसे दिखलाते हैं—

अनन्तरज्ञः संधत्ते दृष्टिं पंगोर्यथाऽन्धके ।
संयोगात् दृष्टिमङ्गेऽपि संधत्ते तद्वदात्मनः ॥९१॥

अन्वयार्थ—(अनन्तरज्ञः) भेदज्ञान न रखने वाला पुरुष (यथा) जिस प्रकार (संयोगात्) संयोगके कारण भ्रममें पड़-

कर—संयुक्त हुए लंगडे और अंधेकी क्रियाओंको ठीक न समझकर (पङ्गोर्दृष्टि) लंगड़ेकी दृष्टिको (अन्धके) अन्धे पुरुषमें (संधत्ते) आरोपित करता है—यह समझता है कि अन्धा स्वयं देखकर चल रहा है—(तद्वत्) उसी प्रकार (आत्मनः दृष्टिं) आत्माकी दृष्टिको (अङ्गेऽपि) शरीरमें भी (सन्धत्ते) आरोपित करता है—यह समझने लगता है कि यह शरीर ही देखता जानता है।

भावार्थ—एक लंगड़ा अन्धेके कँधे पर चढ़ा जा रहा है और ठीक मार्गसे चलनेके लिये उस अन्धेको इशारा करता जाता है, मार्ग चलनेसे दृष्टि लंगड़ेकी और पद टांगे अन्धेकी काम करती हैं। इस भेदको ठीक न जानने वाला कोई पुरुष यदि यह समझले कि यह अन्धा ही कैसी सावधानीसे देखकर चल रहा है तो वह जिस प्रकार उसका भ्रम होगा उसी प्रकार शरीरारूढ आत्माकी दर्शनादिक क्रियाओंको न समझकर उन्हें शरीरकी मानना भी भ्रम है और इसका कारण आत्मा और शरीर दोनोंका एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध है। आत्मा और शरीरके भेदको ठीक न समझने वाला बहिरात्मा ही ऐसे भ्रमका शिकार होता है॥ ९१॥

संयोग की ऐसी अवस्थामें अन्तरात्मा क्या करता है, उसे बतलाते हैं—

दृष्टभेदो यथा दृष्टिं पङ्गोरन्धे न योजयेत्।
तथा न योजयेद्देहे दृष्टात्मा दृष्टिमात्मनः॥९२॥

अन्वयार्थ--(दृष्टभेदः) जो लंगड़े और अन्धेके भेदका तथा उनकी क्रियाओंको ठीक समझता है वह (यथा) जिस प्रकार (पंगोर्दृष्टिं) लंगड़ेकी दृष्टिको अन्धे पुरुषमें (न योजयेत्) नहीं जोड़ता--अन्धेको मार्ग देखकर चलने वाला नहीं मानता-(तथा) उसी प्रकार (दृष्टात्मा) आत्माको शरीरादि परपदार्थोंसे भिन्न अनुभव करने वाला अन्तरात्मा (आत्मनः दृष्टिं) आत्माकी दृष्टिको—उसके ज्ञानदर्शन-स्वभावको (देहे) शरीरमें (न योजयेत्) नहीं जोड़ता है—शरीरको ज्ञाता-दृष्टा नहीं मानता है।

भावार्थ--जिस पुरुषको अन्धे और लंगड़ेका भेद ठीक मालूम होता है ऐसा समझदार मनुष्य जिस प्रकार दोनोंके संयुक्त होने पर भ्रममें नहीं पड़ता—अन्धेको दृष्टिहीन और लंगड़ेको दृष्टिवान् समझता है—उसीप्रकार भेदविज्ञानी पुरुष आत्मा और शरीरके संयोगवश भ्रम में नहीं पड़ता--शरीरको चेतनारहित जड और आत्माको ज्ञानदर्शनस्वरूप ही समझता है, कदाचित् भी शरीरमें आत्माकी कल्पना नहीं करता ॥ ९२ ॥

बहिरात्मा और अन्तरात्माको कौनसी अवस्था भ्रमरूप और कौनसी भ्रमरहित मालूम होती है उसे बतलाते हैं—

सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव विभ्रमोऽनात्मदर्शिनाम् ।
विभ्रमोऽक्षीणदोषस्य सर्वावस्थाऽऽत्मदर्शिनः ॥ ९३

अन्वयार्थ--(अनात्मदर्शिनाम्) आत्मस्वरूपका वास्तविक परिज्ञान जिन्हें नहीं है ऐसे बहिरात्माओंका (सुप्तोन्मत्तादि

अवस्था एव) केवल सोने व उन्मत्त होनेकी अवस्था ही (विभ्र-मः) भ्रमरूप मालूम होती है । किन्तु(आत्मदर्शिनः) आत्मानुभवी अन्तरात्माको (अक्षीणदोषस्य) मोहाक्रान्त बहिरात्माकी (सर्वावस्थाः) सर्व ही अवस्थाएँ–सुप्त और उन्मत्तादि अवस्थाओंकी तरह जाग्रत, प्रबुद्ध और अनुन्मत्तादि अवस्थाएँ भी––(विभ्रमः) भ्रमरूप मालूम होती है ।

द्वितीय अर्थ—टीकाकारने 'ऽनात्मदर्शिनां' पदको 'न आत्म-दर्शिनां' ऐसा मानकर और 'सर्वावस्थात्मदर्शिनां' को एक पद रख कर तथा 'एव' का अर्थ 'भी' लगाकर जो दूसरा अर्थ किया है वह इस प्रकार है––

आत्मदर्शी पुरुषोंकी सुप्त व उन्मत्त अवस्थाएँ भी भ्रमरूप नहीं होतीं; क्योंकि दृढ़तर अभ्यासके कारण उनका चित्त आत्म-रससे भीगा रहता है––स्वरूपसे उनकी च्युति नहीं होती—इन्द्रियोंकी शिथिलता या रोगादिके वश उन्हें कदाचित् मूर्छा भी आजाती है तो भी उनका आत्मानुभवरूप संस्कार नहीं छूटता––वह बराबर बना ही रहता है । किन्तु अक्षीणदोष बहिरात्माके, जो बाल युवादि सभी अवस्थारूप आत्माको अनुभव करता है, वह सब विभ्रम होता है ।

भावार्थ––जिनको आत्मस्वरूपका ज्ञान नहीं है उनको केवल सुप्त व उन्मत्त जैसी अवस्थाएं ही भ्रमस्वरूप मालूम होती हैं किन्तु आत्मदर्शियोंको मोहके वशीभूत हुए रागी पुरुषोंकी सभी

अवस्थाएं भ्रमरूप जान पड़ती है—भले ही वे जागृत, प्रबुद्ध तथा अनुन्मत्त-जैसी अवस्थाएं ही क्यों न हों। वास्तवमें बहिरात्मा और अन्तरात्माकी अवस्थामें बड़ा भेद है—अन्तरात्मा आत्मस्वरूपमें सदा जाग्रत रहता है, जब कि बहिरात्माकी इससे विपरीत दशा होती है ॥६३॥

यदि कोई कहे कि बाल वृद्धादि सर्व अवस्थारूप आत्माको मानने वाला सम्पूर्ण शास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त कर लेनेसे निद्रारहित हुआ मुक्तिको प्राप्त हो जायेगा, तो उसके प्रति आचार्य कहते हैं—

विदिताशेषशास्त्रोऽपि न जाग्रदपि मुच्यते ।
देहात्मदृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते ॥६४

अन्वयार्थ—(देहात्मदृष्टिः) शरीरमें आत्मबुद्धि रखनेवाला बहिरात्मा (विदिताशेषशास्त्रः अपि) सम्पूर्ण शास्त्रोंका जानने वाला होनेपर भी तथा (जाग्रत् अपि) जागता हुआ भी (न मुच्यते) कर्मबन्धनसे नहीं छूटता है। किन्तु (ज्ञातात्मा) जिसने आत्माके स्वरूपको देहसे भिन्न अनुभव कर लिया है ऐसा विवेकी अन्तरात्मा) (सुप्तोन्मत्तः अपिः) सोता और उन्मत्त हुआ भी (मुच्यते) कर्मबन्धनसे मुक्त होता है—विशिष्टरूपसे कर्मोंकी निर्जरा करता है।

भावार्थ—अनेक शास्त्रोंके जानने तथा जाग्रत रहनेपर भी भेदविज्ञान एवं देहसे आत्माको भिन्न करनेकी रुचिके बिना मुक्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। देहात्मदृष्टिका शास्त्रज्ञान तोतेकी राम-राम रटनके समान भाववासनाके बिना आत्महितका साधक

नहीं हो सकता। प्रत्युत इसके, भेद-विज्ञानी होने पर सुप्त और उन्मत्त-जैसी अवस्थाएँ भी आत्माका कोई विशेष अहित नहीं कर सकतीं; क्योंकि दृढतर अभ्यासके वश उन अवस्थाओंमें भी आत्मस्वरूप संवेदनसे च्युति न होनेके कारण विशिष्टरूपसे कर्मनिर्जरा होती रहती है, और यह कर्मनिर्जराही बन्धनका पर्यवसान एवं मुक्तिका निशान है। अतएव भेदविज्ञानको प्राप्त करके उसमें अपने अभ्यासको दृढ़ करना सर्वोपरि मुख्य और उपादेय है ॥ ९४ ॥

सुप्तादि अवस्थाओंमें भी स्वरूप संवेदन क्योंकर बना रहता है, इस बातको स्पष्ट करते हैं--

यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते ।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते ॥९५॥

अन्वयार्थ---(यत्र एव) जिस किसी विषय में (पुंसः) पुरुषको (आहितधीः) दत्तावधानरूप बुद्धि होती है (तत्रैव) उसी विषयमें उनको (श्रद्धा जायते) श्रद्धा उत्पन्न होजाती है और (यत्र एव) जिस विषयमें (श्रद्धा जायते) श्रद्धा उत्पन्न होजाती है (तत्रैव) उस विषयमें ही (चित्तं लीयते) उसका मन लीन हो जाता है---तन्मय बन जाता है।

भावार्थ---जिस विषयमें किसी मनुष्यकी बुद्धि संलग्न होती है—खूब सावधान रहती है—उसीमें आसक्ति बढ़ कर उसकी श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है, और जहां श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है

वहीं चित्त लीन रहता है। चित्तकी यह लीनताही सुप्त और उन्मत्त-जैसी अवस्थाओं में मनुष्यको उस विषयकी ओरसे हटने नहीं देती—सोतेमें भी वह उसीके स्वप्न देखता है और पागल होकर भी उसीकी बातें किया करता है ॥९५॥

अब चित्त कहाँपर अनासक्त होता है, उसे बतलाते हैं—

यत्रानाहितधीः पुंसः श्रद्धा तस्मान्निवर्तते ।
यस्मान्निवर्तते श्रद्धा कुतश्चित्तस्य तल्लयः ॥९६॥

अन्वयार्थ (यत्र) जिस विषयमें (पुंसः) पुरुषकी (अनाहितधीः) बुद्धि दत्तावधानरूप नहीं होती (तस्मात्) उससे (श्रद्धा) रुचि (निवर्तते) हट जाती है—दूर हो जाती है (यस्मात्) जिससे (श्रद्धा) रुचि (निवर्तते) हट जाती है (चित्तस्य) चित्तकी (तल्लयः कुतः) उस विषयमें लीनता कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं होती।

भावार्थ—जिस विषयमें किसी मनुष्य की बुद्धि संलग्न नहीं होती—भले प्रकार सावधान नहीं रहती—उसमेंसे अनासक्ति बढ़कर श्रद्धा उठ जाती है, और जहाँसे श्रद्धा उठ जाती है वहाँ चित्तकी लीनता नहीं हो सकती। अतः किसी विषयमें आसक्ति न होनेका रहस्य बुद्धिको उस विषयकी ओर अधिक न लगाना ही है—बुद्धिका जितना कम व्यापार उस तरफ किया जायगा और उसे अहितकारी समझकर जितना कम योग दिया जायगा उतनी ही उस विषयसे अनासक्ति होती जायगी और फिर सुप्त

तथा उन्मत्त अवस्था हो जाने पर भी उस ओर चित्तकी वृत्ति नहीं जायगी ॥९६॥

जिस विषयमें चित्तलीन होना चाहिये वह ध्येय दो प्रकार का है—एक भिन्न, दूसरा अभिन्न। भिन्नात्मा ध्येयमें लीनताका फल क्या होगा, उसे बतलाते हैं—

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः।
वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ॥९७॥

अन्वयार्थ--(आत्मा) यह आत्मा (भिन्नात्मानं) अपनेसे भिन्न अर्हन्त सिद्धरूप परमात्माकी (उपास्य) उपासना-आराधना करके (तादृशः) उन्हींके समान (परः भवति) परमात्मा हो जाता है (यथा) जैसे (भिन्ना वर्तिः) दीपकसे भिन्न अस्तित्व रखनेवाली बत्ती भी (दीपं उपास्य) दीपककी आराधना करके उसका सामीप्य प्राप्त करके (तादृशी) दीपक स्वरूप (भवति) होजाती है।

भावार्थ—जिसमें चित्तको लगाना चाहिये ऐसा आत्मध्येय दो प्रकारका है—एक तो स्वयं अपना आत्मा, जिसे अभिन्न ध्येय कहते हैं; और दूसरा वह भिन्न आत्मा जिसमें आत्मगुणोंका पूर्ण विकास हो गया हो, जैसे अर्हन्त-सिद्धका आत्मा, और जिसे भिन्नध्येय समझना चाहिये। ऐसे भिन्न ध्येयकी उपासनासे भी आत्मा परमात्मा बन जाता है। इसको समझानेके लिए बत्ती और दीपकका दृष्टान्त बड़ा ही सुन्दर दिया गया है। बत्ती अपना अस्तित्व और व्यक्तित्व भिन्न रखते हुए भी जब दीपककी उपा-

सनामें तन्मय होती है—दीपकका सामीप्य प्राप्त करती है—तो जल उठती है और दीपकस्वरूप बन जाती है। यही भिन्नात्मध्येयरूप अर्हन्त-सिद्धकी उपासनाका फल है ॥९७॥

अब अभिन्नात्माकी उपासनाका फल बतलाते हैं—

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा।
मथित्वाऽऽत्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरु ॥९८॥

अन्वयार्थ—(अथवा) अथवा (आत्मा) यह आत्मा (आत्मानम्) अपने चित्स्वरूपको ही (उपास्य) चिदानन्दमय रूपसे आराधन करके (परमः) परमात्मा (जायते) हो जाता है (यथा) जैसे (तरुः) बांसका वृक्ष (आत्मानं) अपनेको (आत्मैव) अपनेसे ही (मथित्वा) रगडकर (अग्निः) अग्निरूप (जायते) हो-जाता है।

भावार्थ—जिस प्रकार बांसका वृक्ष बांसके साथ रगड़ खाकर अग्निरूप हो जाता है उसी प्रकार यह आत्मा भी आत्माके आत्मीय गुणोंकी आराधना करके परमात्मा बन जाता है। बांसके वृक्षमें जिस प्रकार अग्नि शक्तिरूपसे विद्यमान होती है और अपने ही बांसरूपके साथ घर्षणका निमित्त पाकर प्रकट होती है उसी प्रकार आत्मामें भी पूर्णज्ञानादि गुण शक्तिरूपसे विद्यमान होते हैं और वे आत्माका आत्माके साथ संघर्ष होनेपर प्रकट होजाते हैं। अर्थात् जब आत्मा आत्मीय गुणोंकी प्राप्तिके लिये अपने अन्य बाह्याभ्यंतर संकल्प-विकल्परूप व्यापारोंसे उपयोगको हटाकर

स्वरूप-चिंतनमें एकाग्र कर देता है तो उसके वे गुण प्रकट हो-जाते हैं—उस संघर्षसे ध्यानरूपी अग्नि प्रकट होकर कर्मरूपी ईंधनको जला देती है। और तभी वह आत्मा परमात्मा बन जाता है ॥९८॥

अब उक्त अर्थका उपसंहार करके फल दिखाते हुए कहते हैं—

इतीदं भावयेन्नित्यमवाचांगोचरं पदम् ।
स्वतएव तदाप्नोति यतो नावर्तते पुनः ॥९९॥

अन्वयार्थ—(इति) उक्त प्रकारसे (इदं) भेद-अभेदरूप आत्मस्वरूपकी (नित्यं) निरन्तर (भावयेत्) भावना करनी चाहिए। ऐसा करनेसे (तत्) उस (अवाचांगोचरं पदं) अनिर्वचनीय परमात्म पदको (स्वत एव) स्वयं ही यह जीव (आप्नोति) प्राप्त होता है (यतः) जिस पदसे (पुनः) फिर (न आवर्तते) लौटना नहीं होता है—पुनर्जन्म लेकर संसारमें भ्रमण करना नहीं पड़ता है।

भावार्थ—आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिए आत्मस्वरूपके पूर्ण विकाशको प्राप्त हुए अर्हन्त और सिद्ध परमात्माका हमें निरन्तर ध्यान करना चाहिये—तद्रूप होनेकी भावनामें रत रहना चाहिये—अथवा अपने आत्माको आत्मस्वरूपमें स्थिर करनेका दृढ़ अभ्यास करना चाहिये। ऐसा होने पर ही उस

वचन-अगोचर अतीन्द्रिय परमात्मपदकी प्राप्ति हो सकेगा, जिसे प्राप्त करके फिर इस जीवको दूसरा जन्म लेकर संसारमें भटकना नहीं पड़ता—वह सदाके लिए अपने ज्ञानानन्दमें मग्न रहता है और सब प्रकारके दुःखोंसे छूट जाता है ॥९९॥

वह आत्मा पृथ्वी जल अग्नि वायु इन चार तत्त्वरूप जो शरीर है उससे भिन्न किसी दूसरे तत्त्वरूप सिद्ध नहीं होता है, ऐसा चार्वाक मत वाले मानते हैं, तथा आत्माके सदा स्वरूपकी उपलब्धि संवेदना बनी रहनेसे वह सदा ही मुक्त है, ऐसा सांख्य लोगोंका मत है, इन दोनोंको लक्ष करके उनके प्रति आचार्य कहते हैं—

अयत्नसाध्यं निर्वाणं चित्तत्त्वं भूतजं यदि ।
अन्यथा योगतस्तस्मान्न दुःखं योगिनां क्वचित् ।१००

अन्वयार्थ—(चित्तत्त्वम्) चेतना लक्षणवाला यह जीव तत्त्व (यदि भूतजं) यदि भूतज है—चार्वाकमतके अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुरूप भूतचतुष्टयसे उत्पन्न हुआ है अथवा सांख्यमतके अनुसार सहज शुद्धात्मस्वरूपसे उत्पन्न है—उस शुद्धात्मस्वरूपके संवेदना द्वारा लब्धात्मरूप है, तो (निर्वाणं) मोक्ष (अयत्नसाध्यं) यत्नसे सिद्धहोने वाला नहीं रहेगा । अर्थात् चावार्कमतकी अपेक्षा, जो कि शरीरके छूट जानेपर आत्मामें किसी विशिष्टावस्थाकी प्राप्तिका अभाव बतलाता है, मरणरूप शरीरका विनाश होनेसे आत्माका अभाव हो जायगा और यही अभाव

बिना यत्नका निर्वाण होगा, जो इष्ट नहीं हो सकता। और सांख्यमतकी अपेक्षा स्वभावसे ही सदा शुद्धात्मस्वरूपका लाभ मान लेनेसे मोक्षके लिये ध्यानादिक कोई उपाय करनेकी भी आवश्यकता नहीं रहेगी, और इस तरह निरुपाय मुक्तिकी प्रसिद्धि होनेसे बिना यत्नके ही निर्वाण होना ठहरेगा जो उस मतके अनुयायियोंको भी इष्ट नहीं है। (अन्यथा) यदि चैतन्य आत्मा भूतचतुष्टयजन्य तथा सदा शुद्धात्मस्वरूपका अनुभव करने वाला नित्यमुक्त नहीं है। तो फिर (योगतः) योगसे स्वरूप संवेदनात्मक चित्तवृत्तिके निरोधका दृढ़ अभ्यास करनेसे ही निर्वाणकी प्राप्ति होगी (तस्मात्) चूँकि वस्तुतत्त्वकी ऐसी स्थिति है इसलिये (योगिनां) निर्वाणके लिये प्रयत्नशील योगियोंको (क्वचित्) किसीभी अवस्थामें–दुर्द्धरानुष्ठानके करने तथा छेदन-भेदनादिरूप उपसर्गके उपस्थित होनेपर–(दुःखं न) कोई दुःख नहीं होता है।

भावार्थ—आत्मतत्त्व यद्यपि चेतनामय नित्य पदार्थ है परंतु अनादिकर्मपुद्गलोंके सम्बन्धसे विभावपरिणतिरूप परिणम रहा है और अपने स्वरूपमें स्थिर नहीं है। ध्यानादि सत्प्रयत्न द्वारा उस परिणतिका दूर होना ही स्वरूपमें स्थिर होना है और उसीका नाम निर्वाण है। चार्वाककी कल्पनानुसार यह जीवात्मा भूतचतुष्टयजन्य नहीं है। भूतचतुष्टयजन्य अनित्य शरीरका आत्मा मानना भ्रम तथा मिथ्या है और ऐसा माननेसे शरीरका नाश होनेपर आत्माका स्वतः अभाव हो जाना ही

निर्वाण ठहरेगा, जो किसी तरह भी इष्ट नहीं हो सकता। ऐसा कौन बुद्धिमान है जो स्वयं ही अपने नाशका प्रयत्न करे? इसी तरह सांख्यमतकी कल्पनाके अनुसार आत्मा सदा ही शुद्ध-बुद्ध तथा स्वरूपोपलब्धिको लिये हुए नित्य मुक्तस्वरूप भी नहीं है। ऐसा माननेपर निर्वाणके लिये ध्यानादिके अनुष्ठानका कोई प्रयोजन तथा विधान नहीं बन सकेगा। सांख्यमतमें निर्वाणके लिये ध्यानादिका विधान है और इसलिए सदा शुद्धात्मस्वरूपकी उपलब्धिरूप मुक्तिकी वह कल्पना निःसार जान पड़ती है। जब ये दोनों कल्पनाएं ठीक नहीं हैं तब जैनमतकी उक्त मान्यता-को मानना ही ठीक होगा, और उसके अनुसार योग-साधनाद्वारा स्वरूपसंवेदनात्मक चित्तवृत्तिके निरोधका दृढ़ अभ्यास करके सकल विभावपरिणतिको हटाते हुए शुद्धात्मस्वरूपमें स्थितिरूप निर्वाणका होना बन सकेगा। इस आत्मसिद्धिके सदुद्देश्यको लेकर जो योगीजन योगाभ्यासमें प्रवृत्त होते हैं वे स्वेच्छासे अनेक दुर्द्धर तपश्चरणोंका अनुष्ठान करते हुए खेदखिन्न नहीं होते और न दूसरोंके किये हुए अथवा स्वयं बन आए हुए उपसर्गोंपर दुःख ही मानते हैं ऐसी घटनाओंके घटनेपर वे बराबर अपने साम्य-भावको स्थिर रखते हैं ॥१००॥

यदि कोई कहे कि मरणस्वरूप विनाशके समुपस्थित होनेपर उत्तर-कालमें आत्माका सदा अस्तित्व कैसे बन सकता है? ऐसा कहने वालोंके प्रति आचार्य कहते हैं—

स्वप्ने दृष्टे विनष्टेऽपि न नाशोऽस्ति यथात्मनः ।
तथा जागरदृष्टेऽपि विपर्यासाविशेषतः ॥१०१॥

अन्वयार्थ - (स्वप्ने) स्वप्नकी अवस्थामें (दृष्टे विनष्टे अपि) प्रत्यक्ष देखे जानेवाले शरीरादिके विनाश होनेपर भी (यथा) जिस प्रकार (आत्मनः) आत्माका (नाशः न अस्ति) नाश नहीं होता है (तथा) उसी प्रकार (जागरदृष्टे अपि) जाग्रत अवस्थामें भी दृष्ट शरीरादिकका विनाश होने पर आत्माका नाश नहीं होता है । (विपर्यासाविशेषतः) क्योंकि दोनोंही अवस्थाओंमें जो विपरीत प्रतिभास होता है उसमें परस्पर कोई भेद नहीं है ।

भावार्थ--आत्मा वास्तवमें सत् पदार्थ है और सत्का कभी नाश नहीं होता-पर्यायें जरूर पलटा करती हैं । स्वप्नमें शरीरका नाश होनेपर जिस प्रकार आत्माके नाशका भ्रम हो जाता है किन्तु आत्माका नाश नहीं होता उसी प्रकार जाग्रत अवस्थामें भी शरीर पर्यायके विनाशसे जो आत्माका विनाश समझ लिया जाता है वह भ्रम ही है-दोनों ही अवस्थाओंमें होने वाले भ्रम समान हैं—एकको भ्रम मानना और दूसरेको भ्रम माननेसे इनकार करना ठीक नहीं हैं । वस्तुतः झोंपड़ीके जलने पर जैसे तद्गत आकाश नहीं जलता वैसे ही शरीरके नष्ट होने पर आत्मा भी नष्ट नहीं होता है । आत्मा एक अखंड और अविनाशी पदार्थ है उसके खण्ड तथा विनाशकी कल्पना करना ही नितान्त मिथ्या है ॥ १०१ ॥

जब इस प्रकार आत्मा अनादि निधन प्रसिद्ध है तो उसकी मुक्तिके लिये दुर्द्धर तपश्चरणादिके द्वारा कष्ट उठाना व्यर्थ है; क्योंकि मात्र ज्ञानभावनासे ही मुक्तिकी सिद्धि होती है, ऐसी आशंका करनेवालोंके प्रति आचार्य कहते हैं—

* अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ ।
तस्माद्यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः ॥१०२॥

अन्वयार्थ—(अदुःखभावितं ज्ञानं) जो भेदविज्ञान दुःखोंकी भावनासे रहित है—उपार्जनके लिये कुछ कष्ट उठाये बिना ही सहज सुकुमार उपाय-द्वारा बन आता है—वह (दुःखसन्निधौ) परिषह-उपसर्गादिक दुःखोंके उपस्थित होने पर (क्षीयते) नष्ट हो जाता है। (तस्मात्) इसलिए (मुनिः) अन्तरात्मा योगीको (यथाबलं) अपनी शक्तिके अनुसार (दुःखैः) दुःखोंके साथ (आत्मानं भावयेत्) आत्माकी शरीरादिसे भिन्न भावना करनी चाहिये।

भावार्थ—जबतक योगी कायक्लेशादि तपश्चरणोंका अभ्यास करके कष्टसहिष्णु नहीं होता तबतक उसका ज्ञानाभ्यास शरीर-से भिन्न आत्माका अनुभवन- भी स्थिर रहनेवाला नहीं होता। वह दुःखोंके आजानेपर विचलित हो जाता है और सारा भेद-

---

* सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि ।
तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेहिं भावए ॥ ६२ ॥
—मोक्षप्राभृते, कुन्दकुन्दः

विज्ञान भूल जाता है । इसलिये ज्ञानभावनाके साथ कष्ट-सहन-का अभ्यास होना चाहिये, जिससे उपार्जन किया हुआ ज्ञान नष्ट न होने पावे ॥१०२॥

यदि आत्मा शरीरसे सर्वथा भिन्न है तो फिर आत्माके ठहरने पर शरीर कैसे ठहरता है ? ऐसा पूछनेवालेके प्रति कहते हैं---

प्रयत्नादात्मनो वायुरिच्छाद्वेषप्रवर्तितात् ।
वायोः शरीरयन्त्राणि वर्तन्ते स्वेषु कर्मसु ॥१०३॥

अन्वयार्थ---(आत्मनः) आत्माके (इच्छाद्वेषप्रवर्तितात् प्रयत्नात्) राग और द्वेषकी प्रवृत्तिसे होनेवाले प्रयत्नसे (वायुः) वायु उत्पन्न होती है---वायुका संचार होता है (वायोः) वायुके संचारसे (शरीरयंत्राणि) शरीररूपी यंत्र (स्वेषु कर्मसु) अपने अपने कार्य करनेमें (वर्तन्ते) प्रवृत्त होते हैं ।

भावार्थ—पूर्वबद्ध कर्मोंके उदयसे आत्मामें राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं, राग-द्वेषकी उत्पत्तिसे मन-वचन-कायकी क्रियारूप जो प्रयत्न उत्पन्न होता है, उससे आत्माके प्रदेश चंचल होते हैं, आत्म-प्रदेशोंकी चंचलतासे शरीरके भीतरकी वायु चलती है और उस वायुके चलनेसे शरीररूपी यंत्र अपना अपना कार्य करनेमें प्रवृत्त होते हैं । यदि कोई कहे कि शरीरोंकी यंत्रोंके साथ क्या कोई समान-धर्मता है जिसके कारण उन्हें यंत्र कहा जाता है तो इसके उत्तरमें इतना ही जान लेना चाहिये कि काष्ठादिके बनाये

हुए हाथी घोड़े आदिरूप कलदार खिलोने जिस प्रकार दूसरोंकी प्रेरणाको पाकर हिलने-चलने लग जाते हैं—अर्थात् अपनेसे किये जाने योग्य नाना प्रकारकी क्रियाओंमें प्रवृत्त होते हैं, उसी प्रकार शरीरके अंग-उपांग भी वायुकी प्रेरणासे अपने योग्य कर्मोंके करनेमें प्रवृत्त होते हैं। दोनों ही इस विषयमें समान हैं ॥१०३॥

उन शरीर-यंत्रोंकी आत्मामें आरोपना-अनारोपना करके जड़-विवेकी जीव क्या करते हैं, उसे बतलाते हैं—

तान्यात्मनि समारोप्य साक्षाण्यास्तेऽसुखं जडः ।
त्यक्त्वाऽरोपं पुनर्विद्वान् प्राप्नोति परमं पदम् ॥१०४

अन्वयार्थ—(जड) मूर्ख बहिरात्मा (साक्षाणि) इन्द्रियोंसहित (तानि) उन औदारिकादि शरीरयन्त्रोंको (आत्मनि समारोप्य) आत्मामें आरोपण करके—मैं गोरा हूँ, मैं सुलोचन हूँ इत्यादि रूपसे उनके आत्मत्वकी कल्पना करके—(असुखं आस्ते) दुःख भोगता रहता है (पुनः) किन्तु (विद्वान्) ज्ञानी अन्तरात्मा (आरोपं त्यक्त्वा) शरीरादिकमें आत्माकी कल्पनाको छोड़कर (परमं पदं) परमपदरूप मोक्षको (प्राप्नोति) प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—मूढ बहिरात्मा कर्मप्रेरित शरीर और इंद्रियोंकी क्रियाओंको अपने आत्माकी ही क्रियायें समझता है, और इस तरह भ्रममें पड़कर विषय-कषायोंके जालमें फँसता हुआ अपनेको दुखी बनाता है। प्रत्युत इसके, विवेकी अंतरात्मा ऐसा न करके

शरीर और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको आत्मासे भिन्न अनुभव करता है और इस तरह विषय-कषायोंके जालमें न फँसकर कर्म-बन्धनसे छूटता हुआ परमात्मपदको प्राप्त करके सदाके लिये परमानन्दमय हो जाता है ॥१०४॥

आत्मा उस आरोपको कैसे छोड़ता है उसे बतलाते हैं—अथवा श्री पूज्यपाद आचार्य अपने ग्रन्थका उपसंहार करके फल प्रदर्शित करते हुए कहते हैं–

मुक्त्वा परत्र परबुद्धिमहंधियं च,
संसारदुःखजननीं जननाद्विमुक्तः ।
ज्योतिर्मयं सुखमुपैति परात्मनिष्ठ-
स्तन्मार्गमेतदधिगम्य समाधितंत्रम् ॥१०५॥

अन्वयार्थ—(तन्मार्गं) उस परमपदकी प्राप्तिका उपाय बतलाने वाले (एतत् समाधितंत्रम्) इस समाधितन्त्रको—परमात्मस्वरूप संवेदनकी एकाग्रताको लिए हुए जो समाधि उसके प्रतिपादक इस 'समाधितन्त्र' नामक शास्त्रको (अधिगम्य) भले प्रकार अनुभव करके (परात्मनिष्ठः) परमात्माकी भावनामें स्थिर चित्त हुआ अन्तरात्मा (संसारदुःखजननीं) चतुर्गतिरूप संसारके दुःखोंको उत्पन्न करनेवाली (परत्र) शरीरादिपरपदार्थोंमें (अहं धियं परबुद्धिं च) जो स्वात्मबुद्धि तथा परात्मबुद्धि है उसको (मुक्त्वा) छोड़कर (जननाद्विमुक्तः) संसारसे मुक्त होता हुआ (ज्योतिर्मयं

सुखं) ज्ञानात्मक सुखको (उपैति) प्राप्त कर लेता है ।

भावार्थ—इस पद्यमें, ग्रंथके विषयका उपसंहार करते हुए, श्री पूज्यपाद आचार्यसे उस बुद्धिको संसारके समस्त दुःखोंकी जननी बतलाया है, जो शरीरादि परपदार्थोंमें स्वात्मा-परात्माका आरोप किए हुए है—अर्थात् अपने शरीरादिको अपना आत्मा और परके शरीरादिको परका आत्मा समझती है । ऐसी दुःख-मूलक बुद्धिका परित्याग कर जो जीवात्मा परमात्मामें निष्ठावान होता है—परमात्माके स्वरूपको अपना स्वरूप समझकर उसके आराधनमें तत्पर एवं सावधान होता है—वह संसारके बन्धनोंसे छूटता हुआ केवलज्ञानमय परम सुखको प्राप्त होता है । साथ ही, यह भी बतलाया है कि यह 'समाधितंत्र' ग्रन्थ उक्त परमसुख अथवा परमपदकी प्राप्तिका मार्ग है—उपाय प्रदर्शित करने वाला है । इसको भले प्रकार अध्ययन तथा अनुभव करके जीवनमें उतारनेसे वह प्राप्ति सुखसाध्य हो जाती है और इस तरह इस ग्रंथकी भारी उपयोगिताको प्रदर्शित किया है ॥१०५॥

अंतिम मङ्गल-कामना

जिनके भक्ति-प्रसादसे, पूर्ण हुआ व्याख्यान ।
सबके उर मंदिर बसो, पूज्यपाद भगवान ॥१॥
पढ़ें सुनें सब ग्रन्थ यह, सेवें अति हित मान ।
आत्म-समुन्नति-बीज जो, करो जगत कल्यान ॥२॥

श्रीमद्देवनन्द्यपरमनाम पूज्यपादस्वामी विरचित

इष्टोपदेश

(मङ्गलाचरण)

परमब्रह्म परमात्मा, पूर्ण-ज्ञानघन-लीन ।
वंदों परमानन्दमय, कर्म विभाव-विहीन ॥१॥

पूज्यपाद मुनिराजको, नमन करूँ मनलाय ।
स्वात्म-सम्पदाके निमित, टीका करूं बनाय ॥२॥

ग्रन्थके आदिमें ग्रंथकर्ता पहले यह विचारकर, कि जो जिसके गुणोंकी प्राप्तिका इच्छुक है वह उन गुणोंसे युक्त पुरुष विशेषको नमस्कार करता है, चूंकि इस इष्टोपदेश नामक ग्रन्थके कर्ता आचार्य पूज्यपाद परमात्मगुण प्राप्तिके इच्छुक हैं अतः सिद्ध परमात्माको नमस्कार करते हैं :—

यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मणः ।
तस्मै संज्ञानरूपाय नमोऽस्तु परमात्मने ॥१॥

अर्थ—समस्त कर्मोंके अभावसे—ज्ञानावरणादि अष्टकर्मोंका मूलतः सर्वथा क्षय हो जानेसे—जिसे स्व स्वरूपकी प्राप्ति हो गई है—जिसे स्वयं शुद्ध चैतन्यस्वरूप स्वात्माकी उपलब्धि हो गई है—उस सम्यग्ज्ञान स्वरूप परमात्माके लिये—कर्मोंके विनाश

और रागादि विकारोंके सर्वथा अभावसे सूक्ष्मत्वादि अशेष पदार्थोंको युगपत् साक्षात्कार करने वाला सम्पूर्ण बोध (केवल ज्ञान) जिसे प्राप्त हो गया है उस परम निरंजन परमात्माके लिये नमस्कार हो—वह सदा जयवंत रहे।

भावार्थ--आत्माके शुद्ध चैतन्यरूप निश्चल परिणाम-को यहां स्वभाव बतलाया गया है। इस स्वभावकी प्राप्ति कर्मों-के सर्वथा अभावसे होती है। तपश्चरणादि सुयोग्य साधनोंके अनुष्ठानसे ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और रागद्वेषादि भावकर्मोंका जब सर्वथा क्षय हो जाता है तब आत्मा अपने सम्यग्ज्ञानस्वरूप उस चिदानन्द विज्ञानघन टंकोत्कीर्ण ज्ञायकरूप स्व-स्वभावको प्राप्तकर लेता है जो अनादिकालसे विस्मृत हो रहा था। चूंकि ग्रन्थकर्ता आचार्य पूज्यपाद उसी स्व स्वरूपकी प्राप्तिके अभिलाषी हैं। अतः उन्होंने उसे ही नमस्कार किया है; क्योंकि जो पुरुष जिस गुणकी प्राप्तिका अभिलाषी होता है वह उस गुण विशिष्ट पुरुष विशेषको नमस्कार करता है। जिस तरह अश्व विद्या और धनुर्विद्या आदि कलाओंके जिज्ञासु (जाननेके इच्छुक) पुरुष तत् तत् कलाविज्ञ पुरुषोंका अभिवादन करता है—उनमें आदर-सत्कारका भाव प्रकट करता है उसी तरह शुद्धात्माके अभिलाषी मुमुक्षुजन भी कर्मावरणसे रहित शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, सम्यग्ज्ञान-रूप सिद्ध परमात्माके लिये नमस्कार करते हैं ॥१॥

स्वस्वरूपकी स्वयं प्राप्ति--सम्यक्त्वादि अष्टगुणोंकी अभि-

व्यक्तिरूप चिदानन्द स्वरूपकी उपलब्धि--बिना किसी दृष्टान्तके कैसे हो सकती है ? इस शंकाका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं :—

योग्योपादानयोगेन दृषदः स्वर्णता मता*।
द्रव्यादिस्वादिसंपत्तावात्मनोऽप्यात्मता मता ॥२॥

अर्थ--जिस तरह सुवर्णरूप पाषाणमें कारण,योग्य उपादानरूप कारणके सम्बन्धसे पाषाण (पत्थर) सुवर्ण हो जाता है,उसी तरह द्रव्यादि चतुष्टयरूप-सुद्रव्य, सुक्षेत्र, सुकाल, और स्वभावरूप--सुयोग्य सम्पूर्ण सामग्रीके विद्यमान होनेपर निर्मल चैतन्य स्वरूप आत्माकी उपलब्धि हो जाती है ।

भावार्थ--जिस प्रकार खानसे निकलने वाले सुवर्णपाषाणमें सुवर्णरूप परिणमनमें कारणभूत सुयोग्य उपादानके सम्बन्धसे और बाह्यमें सुवर्णकारके द्वारा ताडन, तापन घर्षणादि प्रयोगों के द्वारा जिस तरह पाषाणसे सुवर्ण अलग हो जाता है—उसमें अब पत्थरका व्यवहार न होकर सुवर्णपनेका व्यवहार होने लगता है । ठीक उसी तरह अनादिकालसे कर्ममलसे कलंकित संसारी आत्मा भी द्रव्य, क्षेत्र कालादि सुयोग्य साधनोंकी उपलब्धिसे अनशनादि बाह्य आभ्यन्तर तप, दशलक्षणधर्म अनि-

---

* अइसोहण जोएणं सुद्धं हेमं हवेइ जह तहय ।
कालाईलद्धीए अप्पा परमप्पओ हवदि ॥२४॥
—मोक्षपाहुडे कुन्दकुन्दः ।

त्यादि द्वादश भावना, परीषह जय और चारित्र आदिके सम्यक् अनुष्ठान द्वारा आत्मध्यान रूप निश्चल अग्निके प्रयोगसे कर्मरूपी ईंधनके भस्म होने पर आत्मा भी स्वसिद्धिको---स्वात्मोपलब्धि-को---प्राप्त कर लेता है—आत्मा परमात्मा हो जाता है।

अहिंसादि व्रतोंके सम्यक् अनुष्ठानसे स्वरूपकी प्राप्ति होती है यह सुनिश्चित सिद्धान्त है। यदि सुद्रव्यादि चतुष्टय रूप सामग्रीसे ही स्व-स्वरूपकी उपलब्धि हो जायगी, तब अहिंसादि-व्रतोंका अनुष्ठान व्यर्थ हो जायगा। इस शंकाका समाधान करते हुए आचार्य महोदय कहते हैं कि स्व-स्वरूपकी प्राप्तिमें व्रतादिक निरर्थक नहीं हैं उनके यथावत् पालनसे अशुभ-कर्मोंका निरोध होता है, पुरातन् कर्मोंकी निर्जरा होती है। और शुभोपयोगरूप परिणति होनेसे पुण्यकर्मका संचय होता है जिससे स्वर्गादि इष्ट सुखकी प्राप्ति अनायास हो जाती है। अतः द्रव्यादि चतुष्टय रूप सम्पत्तिके रहते हुए भी व्रतोंका पालन निरर्थक नहीं है, इसी बातको और भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वत नारकं*।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥३॥

अर्थ—जिस प्रकार छायामें बैठकर अपने दूसरे साथी की

---

* वर वयतवेहि सग्गो या दुक्खंहोउ गिरइ इयरेहि।
छायातवट्ठियाणं पडिवालं ताण गुरुभेयं ॥२५॥
मोक्षपाहुडे कुन्दकुन्दः

राह देखने वाले पुरुषको छाया शांति प्रदान करती है और धूपमें बैठकर अपने साथीकी राह देखने वालेको कष्ट प्राप्त होता है। उसी प्रकार व्रतोंके अनुष्ठानसे स्वर्गादि सुखोंके साथ मोक्ष प्राप्त होता है और अव्रतोंसे नरक दुःख भोगना पड़ता है पश्चात् मुक्ति प्राप्त होती है। अतएव व्रतोंका आचरण करना ही श्रेष्ठ है अव्रती रहना ठीक नहीं।

भावार्थ - ऊपर यह शंका की गई थी कि जब द्रव्यादि चतुष्टयरूप सामग्रीसे ही स्व-स्वरूपकी उपलब्धि हो जायगी तब व्रतादिकका अनुष्ठान व्यर्थ ठहरेगा। ग्रन्थकार महोदयने उस शंका समाधान करते हुए बतलाया है कि व्रतोंका अनुष्ठान एवं आचरण व्यर्थ नहीं होता; क्योंकि अव्रती रहनेसे अनेक प्रकारके पापोंका उपार्जन होता रहता है और हिताहितके विवेकसे शून्य होता हुआ मिथ्यात्वादि कार्योंमें प्रवृत्ति करने लगता है जिससे अशुभ कर्मोंका बन्ध होता रहता है और उसके विपाकसे फिर नरकादि दुर्गतियोंमें घोर कष्ट उठाना पड़ते हैं। किन्तु अहिंसादि व्रतोंके अनुष्ठानसे नरकादि दुर्गतियोंके वे घोर कष्ट नहीं भोगने पड़ते। क्योंकि वह हित अहितके विवेकसे सदा जागरूक रहता है, पापसे भयभीत रहता है और स्वरूपकी प्राप्तिकी ओर सावधान रहता है और उनके विपाक स्वरूप स्वर्गादिसुखोंके साथ वह मुक्तिका भी पात्र हो जाता है।

जिस तरह छाया और आतपमें महान् अन्तर है—भेद है—

छायामें बैठकर राह देखने वालेको शान्ति और आतपवालेको दुःखका अनुभव होता है। उसी तरह व्रताचरणसे स्वर्गादि सुख और अव्रताचरणसे- हिंसादिपापरूपप्रवृत्तिसे—केवल दुःख ही भोगना पड़ता है। अतः अव्रती रहनेकी अपेक्षा व्रती होना अच्छा है, क्योंकि व्रतोंसे पापकर्मोंका निरोध होता है, पुण्यकर्मका संचय होता है और सत्तामें स्थित पूर्वबद्धकर्मकी निर्जरा होती है।

अब शिष्य पुनः प्रश्न करता है कि हे भगवन्! मोक्षसुख तो दूरवर्ती है—दीर्घकालमें प्राप्त होगा—किन्तु व्रताचरणसे सांसारिक सुख जल्दी सिद्ध हो सकता है और उसके सिद्ध होने पर उसकी आत्मामें भक्ति, विशुद्धभाव और अन्तरंग अनुराग नहीं होगा, जो मोक्षसुखका साधक है; क्योंकि मोक्षसुखकी साधक सुद्रव्यादि सम्पत्ति अभी दूरवर्ती है और मध्यमें मिलनेवाला स्वर्गादिकका सुख व्रतानुष्ठानसे सहजही प्राप्त हो जाता है। अतः आत्मशक्ति, आत्मानुराग और आत्मध्यानादिकी फिर कोई आवश्यकता नहीं है। इस शंकाका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि व्रतादिकका आचरण निरर्थक नहीं है और न आत्मभक्ति आत्मानुराग ही अनुपयोगी है। इसी बातको और भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं :—

यत्र भावः शिवं दत्ते द्यौः कियद्दूरवर्तिनी*।
यो नयत्याशु गव्यूतिं कोशार्द्धे किं स सीदति ॥४॥

---

* जो जाइ जोयणसयं दियहेणेक्केण लेइ गुरुभारं।

अर्थ—जो मनुष्य किसी भारको स्वेच्छासे शीघ्र दो कोश ले जाता है वह उस भारको आधा कोश ले जानेमें कभी खिन्न अथवा खेदित नहीं होता—वह आधे कोशको कुछ भी न समझ कर उस भारको शीघ्र ले जाता है। उसी तरह जिस भावमें मोक्ष सुख प्राप्त कराने या देनेकी सामर्थ्य है उससे स्वर्गसुखकी प्राप्ति कुछ भी दूरवर्ती नहीं है अर्थात् वह सहज ही प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—जो मनुष्य बलशाली एवं साहसी होता है वह सुगम और दुर्गम दोनों प्रकारके कार्योंको सहज ही सम्पन्न कर सकता है। वह सुगम कार्योंकी अपेक्षा कठिन कार्योंके सम्पन्न करनेमें अपनी असमर्थता कभी अनुभव नहीं करता और न वह कभी खेद ही मानता है। वह तो उसे प्रेम और उत्साहके साथ उस भारको उठा लेता है। उसी तरह आत्माके जिस शुद्धोपयोगरूप आत्मपरिणाममें चिरसंचितकर्म-कालिमाको दग्धकर स्वसिद्धिको—स्वात्मोपलब्धिको—प्राप्त करादेनेकी सामर्थ्य है, उससे स्वर्गादि सुखकी प्राप्ति सहजही हो जाती है। अथवा किसान जिस तरह धान उत्पन्न करनेके लिए बीज बोता है, किन्तु धानके साथ उसे भूसा अनायास ही मिल जाता है। उसी तरह जिसके तपश्चरण-रूप आत्म-साधनामें इतना बल अथवा सामर्थ्य है कि उससे

सो कि कोसद्धं पिहु ण सक्कए जाहु भुवणयले ॥११॥

—मोक्षपाहुडे कुन्दकुन्दः

चिरसंचित कर्म-कालिमा भी क्षणमात्रमें दूर हो जाती है तब उससे इन्द्रियजन्य सुखका मिलना क्या दुर्लभ हो सकता है—नहीं हो सकता ?

आत्म-सुखकी प्राप्तिमें सुद्रव्य सुक्षेत्रादि योग्यसामग्री भी प्रबल कारण है उससे मोक्षरूप महान् कार्यके साथ साधारण स्वर्गादिकका सुख भी प्राप्त हो जाता है, किन्तु अल्पशक्ति वाले व्रताचरणसे स्वर्ग सुख ही मिल सकता है मोक्ष सुख नहीं, अतः ज्ञानीके आत्मभक्ति आदि प्रशस्तकार्योंमें कभी प्रमाद नहीं होता और न वह कभी अव्रतादिमें प्रवृत्ति ही करता है; क्योंकि अव्रतों-से नरकादि दुःखोंको प्राप्त होगा और व्रताचरणसे स्वर्ग सुखके साथ आत्म-लाभ होगा। अतएव वह तो व्रताचरणके साथ सुद्रव्यादि सामग्रीकी प्राप्तिका भी प्रयत्न करता है। आत्मभक्ति अथवा आत्मध्यानसे स्वर्गसुख व मोक्षसुख दोनोंकी प्राप्ति होती है ऐसा तत्त्वानुशासनमें कहा है—

"गुरुपदेशमासाद्य ध्यायमानः समाहितः।
अनंतशक्तिरात्मायं मुक्तिं भुक्तिं च यच्छति" ॥१९६॥
"ध्यातोऽर्हत्सिद्धरूपेण चरमांगस्य मुक्तये।
तद्ध्यानोपात्त पुण्यस्य स एवान्यस्य मुक्तये" ॥१९७॥

जो योगी गुरुके उपदेशानुसार आत्मध्यान करते हैं उन्हें अनन्तशक्तिवाला यह आत्मा मोक्षसुख अथवा स्वर्गसुख प्रदान करता है। चरम शरीरी मनुष्य जिस समय इस आत्माका अर्ह-

न्त अथवा सिद्ध रूपसे ध्यान करता है उस समय उसे मोक्ष सुख मिलता है। किन्तु चरम शरीरीको छोड़कर जो मनुष्य अर्हन्त सिद्ध रूपसे आत्माका ध्यान एवं चिन्तन करता है उस समय उसे स्वर्ग सुख मिलता है। इससे स्पष्ट है कि जब व्रतानुष्ठानके साथ उग्र तपश्चर्या और आत्मध्यानादिसे सर्वथा आत्म-विशुद्धि हो जाती है तब आत्मा परमात्मा हो जाता है। और जब आत्म-विशुद्धिके साथ उस आत्मध्यानादिसे ऐसे पुण्य कर्मका संचय होता है जिससे चक्रवर्त्यादिकी विभूति अथवा स्वर्ग सुखका लाभ होता है। यद्यपि व्रताचरणसे साक्षात् स्वर्गादि सुखकी प्राप्ति होती है, मोक्षकी नहीं, तो भी व्रतोंके अनुष्ठान बिना स्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती। अतएव व्रतोंका आचरण कभी निरर्थक नहीं हो सकता और न आत्मध्यानादि ही अनुपयोगी है।

व्रताचरण और आत्मभक्तिसे जब स्वर्ग सुखकी सिद्धि हो गई तब वहाँ जानेपर क्या क्या फल प्राप्त होते हैं? इस शंकाका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं:-

हृषीकजमनातंकं दीर्घकालोपलालितम्।
नाके नाकौकसां सौख्यं नाके नाकौकसामिव ॥५॥

अर्थ---देवगण स्वर्गमें इन्द्रियजन्य और आतंक रहित शत्रु आदिके द्वारा होनेवाले दुखसे रहित—बहुत दीर्घकालतक-तेतीस सागर पर्यंत—भोगनेमें आनेवाले अनन्योपम सुखका—देवोंके सुखके समान उसका - आस्वादन करते हैं।

भावार्थ--सुख आत्माका गुण है उसका विकास कर्मोंके सर्वथा अभावसे होता हैं। जब तक आत्मा सांसारिक झंझटों और कर्मबन्धजनित परतन्त्रताका अनुभव करता रहता है तब तक उस अनाकुल आत्मोत्थ अव्याबाध सुखका उसे अनुभव नहीं हो पाता है। परन्तु वेदनीयकर्म इस आत्मिक सुखका प्रबल विरोधी है इसके क्षयोपशमसे जो कुछ भी साता परिणति होती है संसारीजीव उसे ही अज्ञानसे वास्तविक सुख समझ लेते हैं। व्रतादि अनुष्ठानसे मन्दकषायवश जो पुण्यका संचय होता है उससे स्वर्गादिजन्य सातापरिणतिरूप इन्द्रियजनित सुख दीर्घकाल तक भोगनेमें आता है, परन्तु अनाकुल लक्षणरूप वास्तविक सुख इससे विलक्षण है, उसमें इन्द्रियोंकी आवश्यकता नहीं रहती, और न कालकी सीमा ही है, वह पराश्रित (पराधीन) भी नहीं है, न क्षणभंगुर है, और न कर्मबन्धनका कारण ही है, और न किसी दुःखके साथ उसका संमिश्रण (मेल) ही है, इसी कारण स्वर्गादिके सुखोंको हेय और वास्तविक आत्मोत्थ सुखको उपादेय बतलाया है। और इसी कारण ग्रन्थकर्ता आचार्यने देवोंके सुखको देवोंके सुखके समान ही बतलाया है जिससे यह स्पष्ट है कि वास्तविक सुखकी उपमा इस इन्द्रियजनित सुखके साथ घटित नहीं होती; क्योंकि इन्द्रिय जनित सुख नश्वर है और दुःखके साथ संमिश्रित है—मिला हुआ है ॥५॥

इस प्रकार सांसारिक और आत्म-सुखका स्वरूप निर्दिष्ट

करने पर भी यदि कदाचित् कोई भ्रमवश दोनों सुखोंमें कोई भेद न करता हुआ हठसे सांसारिक सुखको ही वास्तविक सुख समझे ऐसे शिष्यकी भ्रान्ति-प्रबोधनार्थ आचार्य कहते हैं :—

वासनामात्रमेवैतत्सुखं दुःखं च देहिनां ।
तथाह्युद्वेजयंत्येते भोगा रोगा इवापदि ॥६॥

अर्थ—संसारी जीवोंका इंद्रिय जनित सुख वासना मात्रसे उत्पन्न होनेके कारण दुःख रूपही है;क्योंकि आपत्तिकालमें रोग जिस तरह चित्तमें उद्वेग (घबराहट) उत्पन्न कर देते हैं उसी तरह भोग भी उद्वेग करने वाले हैं।

भावार्थ यह पदार्थ मेरा उपकारी है अतएव इष्ट है और यह पदार्थ अनुपकारी होनेसे अनिष्ट है इस प्रकारके विभ्रमसे जो कोई आत्माका संस्कार है उसे वासना कहते हैं। संसारी जीव इसी वासनाके कारण भोगोंसे उत्पन्न होनेवाले बाधित, विषम और पराश्रित इन्द्रिय जनित सुखमें भ्रमसे वास्तविक सुखकी कल्पना कर लेते हैं। जिस प्रकार आपद्कालमें ज्वरादिक रोग चित्तको उद्वेगित (दुःखित) कर देते हैं,उसी तरह इन भोगोंसे भी चित्तमें उद्वेग (घबराहट) उत्पन्न हो जाता है कहा भी है :—

मुचांगं ग्लपयस्यलं क्षिप [illegible]ोऽवक्षश्च विद्भात्यदो ।
दूरे धेहि न हृष्य एष किमभूरन्या न वेत्सि क्षणम् ॥

स्थेयं चेद्धि निरुद्धि गामिति तवोद्योगे द्विषः स्त्रीक्षिप-
त्याश्लेषक्रमुकांगरागललितालापैर्विधित्सू रतिम् ॥"

भोग उद्वेग जनक हैं,इस विषयके स्पष्टीकरणार्थ टीकाकार द्वारा उद्धृत एक पद्य ऊपर दिया गया है उसका भाव यह है कि—'पति पत्नी परस्पर अपने सुखमें रत थे कि इतनेमें अकस्मात् अर्थ संकटादिकी कोई ऐसी भारी घटना घटी, जिससे पति चिन्तित होकर रति-सुखसे कुछ उदास हो रहा था, तब पत्नी आलिंगनकी इच्छासे अंगोंको इधर उधर चलाती हुई राग वश अनेक ललित वचनोंसे रति करना चाहती है। तब पति उससे कहता है कि तू मेरे अंगोंको छोड़;क्योंकि तू आतापकारिणी है। तू हटजा, इससे मेरी छाती उत्पीड़ित होती है। दूर चली जा, इससे मुझे हर्ष नहीं होता,तब पत्नी ताना मारती हुई कहती है कि क्या अन्यसे प्रीति करली है। तब फिर पति कहता है कि तू समयको नहीं देखती है। यदि धैर्य है तो अपने उद्योगसे इन्द्रियोंको वशमें रख, इस तरह कहता हुआ वह पत्नीको दूर फेंक देता है। मनके व्यथित होनेपर भोग भी उद्वेग उत्पन्न कर देते हैं। और भी कहा है—

"रम्यं हर्म्यं चन्दनं चंद्रपादा वेणुर्वीणा यौवनस्था युवत्यः।
नैते रम्याक्षुत्पिपासार्दितानां सर्वारम्भस्तन्दुलाप्रस्थमूलाः ॥"

जो मनुष्य भूख-प्याससे पीड़ित है—दुखी है—उन्हें सुन्दर महल, चन्दन, चन्द्रमाकी किरणें, वेणु, वीनबाजा और युवती-स्त्रियाँ रमणीय मालूम नहीं होते; क्योंकि जीवोंके सभी आरंभ

तन्दुलप्रस्थ मूल होते हैं–घरमें चावल विद्यमान हैं तो ये उपरोक्त सभी बातें सुन्दर प्रतीत होती हैं अन्यथा नहीं। और भी कहा है–

आतपे धृतिमता सह वध्वा यामिनीविरहिणा विहगेन।
सेहिरे न किरणा हिमरश्मेर्दुःखिते मनसि सर्वमसह्यम् ॥

'जो पक्षी धूपमें अपनी प्यारी प्रियाके साथ उड़ता फिरता था परन्तु उसे धूपका कष्ट मालूम नहीं होता था, रात्रिको जब उस पक्षीका अपनी प्राणप्यारीके साथ वियोग हो गया तब उसे चन्द्रमाकी शीतल किरणें भी अच्छी नहीं लगतीं, क्योंकि मनके दुःखित होने पर सभी चीजें असह्य होजाती हैं।' चूंकि इन्द्रिय-जन्य सुख वासनामात्र अथवा कल्पनासे जायमान है अतः उसमें वास्तविक सुखकी कल्पना करना व्यर्थ है। इसके सिवाय, जो वस्तु अभी थोड़े समय पहले सुखकर प्रतीत होती थी वही अब कुछ समय बाद दुखकर प्रतीत होने लगती है जो सांसारिक भोगोपभोग अथवा सांसारिक सुख,सुखरूप-सा बन रहा था वही कुछ समय बाद आकुलता (दुःख) में परिणत होजाता है। किन्तु वास्तविक निराकुल सुख कभी भी आकुलतारूप परिणत नहीं होता, वह अनन्तकालतक अपने उसी स्वरूपमें स्थिर रहता है, क्योंकि उसमेंसे जरा, मरण, इष्ट वियोग, अनिष्टसंयोग, श्वास और ज्वरादि रोगोंका सर्वथा विनाश होगया है, वह कर्मोंके सर्वथा क्षयसे उत्पन्न हुआ आत्मोत्थ और अव्याबाध है।

उसमें परके संमिश्रणका (पराधीनता) अभाव है, वह अपने ही आश्रित है।

यदि सुख और दुःख वासनामात्रसे उत्पन्न होते हैं तो फिर उनकी प्रतीति क्यों नहीं होती ? इस शंकाका समाधान करते हुए ग्रंथकार कहते हैं:—

मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते न हि ।
मत्तःपुमान्पदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः ॥७॥

अर्थ—जिस तरह मादक कोदों खानेसे उन्मत्त (पागल) हुआ पुरुष पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप नहीं जानता उसी प्रकार मोहनीय कर्मके द्वारा आच्छादित ज्ञान भी पदार्थोंके वास्तविक स्वरूपको नहीं जान सकता।

भावार्थ—मादक पदार्थोंका पान करनेसे जिसतरह मनुष्यका हेय और उपादेय-विषयक विवेक नष्ट हो जाता है—उसे पदार्थ-का यथार्थ परिज्ञान नहीं रहता, वह उन्मत्ततावश कभी स्त्रीको मां और मांको स्त्री भी कहने लगता है,ठीक उसी तरह मोहनीय कर्मके उदयसे जीव भी अपने चिदानन्द स्वरूपको भूल जाता है और उसे हेयोपादेयका भी यथार्थ विवेक नहीं रहता—अपनेसे सर्वथा भिन्न धनादि सम्पदामें और स्त्री पुत्र मित्रादिके शरीर-में भी आत्मत्वकी कल्पना करने लगता है—उन्हें अपने मानने लगता है, और अत्यन्त दुःखकर सांसारिक भोगोंको भी सुखकर

मानने लगता है इस तरह मोहादिके उदय से उसे आत्मा भी अनेक प्रकारका प्रतिभासित होने लगता है। कहा भी है :-

मलविद्धमणेर्व्यक्तिर्यथा नैकप्रकारतः।
कर्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथा नैकप्रकारतः॥

जिस तरह मलके सम्बन्धसे मणिके अनेक रूप दीखने लगते हैं। उसी तरह कर्मोंके सम्बन्धसे आत्मा भी अनेक प्रकार का दीखने लगता है किन्तु जब मणिसे वह मल दूर हो जाता है तब उसका वह निर्मल स्वरूप स्पष्ट अनुभवमें आने लगता है। उसी तरह जब आत्मासे समस्त कर्मोंका सम्बन्ध छूट जाता है- वह अपने चिदानन्द स्वरूपको पा लेता है-तब वह एक अखंड चैतन्यस्वरूप ही अनुभवमें आता है। अस्तु,

यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आत्मा तो अमूर्त है और कर्म मूर्तिक तथा जड़ हैं। तब अमूर्तिक आत्माका मूर्तिक कर्मोंसे बन्ध कैसे होता है ? इस प्रश्नका उत्तर आचार्यने उक्त पद्यके 'यथा मदनकोद्रवैः' वाक्य द्वारा दिया है जिसमें बतलाया गया है कि- जिस तरह मादक कोदों खानेसे पुरुष उन्मत्त हो जाता है-उसका अतीन्द्रिय ज्ञान भी मूर्छित हो जाता है। अथवा शराब मूर्तिक है पर वह बोतलको नशा नहीं करती, किन्तु उसके पान करने वाले पुरुषको वह पागल बना देती है उस समय उसे हेयोपादेयका कुछ भी विवेक नहीं रहता- उसका ज्ञान मूर्छित हो जाता है। ठीक इसी प्रकार मोह, अज्ञान

और असंयमादि विभावभावोंसे आत्मा अपने स्वरूपसे च्युत हो जाता है, और विकारी होनेसे कर्मोंसे बंध जाता है। वास्तवमें आत्मा अनादिकालसे खानसे निकलने वाले स्वर्ण पाषाणके समान किट्टमा कालिमादिरूप अन्तरंगबाह्य मलोंसे मलिन है—कर्मबन्धके कारण मूर्तिक जैसा बन रहा है इसीसे वह मूर्त कर्मोंसे बन्धको प्राप्त होता रहता है, किन्तु जब आत्मा शुद्ध स्वर्णके समान उभयमलोंसे मुक्त हो जाता है फिर वह कभी भी कर्मोंसे नहीं बंधता।

मोहोदय से आत्मा अपने स्वरूपसे च्युत हो जाता है, विवेकके विनाशसे उसे पदार्थका ठीक परिज्ञान नहीं होता, वह बहिरात्मदशामें रहकर परपदार्थोंमें आत्म कल्पना करने लगता है। स्त्री पुत्र मित्रादिके शरीरोंको भी उनकी आत्मा मानने लगता है। इस तरह जीवकी यह दशा तब तक बनी रहती है जब तक कि वह अन्तरात्मा आत्मज्ञानी नहीं बन जाता। और बहिरात्मपनेको छोड़कर परमात्मपदका साधन नहीं करता, जब वह आत्म-साधना करने लग जाता है तब शीघ्र ही स्वपदको प्राप्त कर लेता है।

वस्तु का वास्तविक स्वभाव न जान सकनेके कारण क्या फल होता है? इसी भावको व्यक्त करते हुए आचार्य कहते हैं:-

वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः।
सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते ॥८॥

अर्थ—वस्तु के वास्तविक स्वभावसे अनभिज्ञ यह मूढ प्राणी अपने चैतन्यस्वरूपसे सर्वथा भिन्नस्वभावरूप शरीर, घर, धन, स्त्री, पुत्र, मित्र और शत्रु आदि पदार्थोंको अपने मानने लगता है—इन्हें आत्मीय समझने लगता है।

भावार्थ—मोहोदयसे यह जीव अपने स्वरूपको भूल जाता है- उसे भले बुरेका कुछ भी परिज्ञान नहीं रहता—मैं कौन हूँ ? मेरा क्या स्वरूप है ? और संसारके इन धनादि दूसरे पदार्थोंसे मेरा क्या सम्बन्ध है ? क्या ये सभी पदार्थ मेरी आत्मासे भिन्न हैं—मेरे नहीं हैं। फिर मैं इन्हें अपने क्यों मान रहा हूँ। पर मोहसे मूढ प्राणीका ध्यान इस ओर नहीं जाता और न वह कभी इन विकल्पोंकी ओर ध्यान ही देता है वह तो परमें आत्म-कल्पना करनेमें ही अपनेको सुखी अनुभव करता है।

इसी बातको ग्रन्थकार दृष्टान्त द्वारा उसे और भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं:-

दिग्देशेभ्यः खगा एत्य संवसंति नगे नगे।
स्व स्वकार्यवशाद्यांति देशे दिक्षु प्रगे प्रगे ॥६॥

अर्थ—जिस तरह पक्षीगण पूर्वादि दिशाओं और अंग, बंग, कलिंग आदि देशोंसे आकर वृक्षों पर निवास करते हैं। और प्रातःकाल होते ही अपने अपने कार्य सम्पादनके लिये इच्छानु-सार देशों और दिशाओंमें चले जाते हैं।

भावार्थ--पक्षी गण जिस तरह रात हो जाने पर नाना-देशों और पूर्वादि दिशाओंसे आकर वृक्ष पर बसेरा लेते हैं और प्रातःकाल होते ही अपने अपने कर्म करनेके लिये इच्छानुसार यत्र तत्र चले जाते हैं, उसी प्रकार यह संसारी जीव अपने अपने कर्मानुसार नरक तिर्यंचादि गतियोंमें आकर जन्म लेते हैं और पूर्वोपार्जित शुभाशुभ कर्मोंका फल भोगते रहते हैं, और आयुकर्मके समाप्त होते ही इस पर्यायको छोड़कर दूसरी पर्यायोंमें चले जाते हैं। अथवा जिस तरह अनेक देशों और दिशाओंसे आए हुए यात्री गण एक ही धर्मशाला तथा सरायमें बसते हैं और प्रातःकाल होते ही सब अपने अपने अभीष्ट स्थानोंको चले जाते हैं। उसी तरह पूर्वोपार्जित कर्मोदयसे यह जीव विभिन्न गतियोंसे आ आकर एक कुटुम्ब रूपी सरायमें इकट्ठे होते हैं और स्वकीय शुभाशुभकर्मोंका फल भोगते रहते हैं और फिर कर्मोदयवश अन्य गतियोंमें चले जाते हैं। अतएव वस्तु स्वरूपको जानकर पर पदार्थोंमें आत्मत्व बुद्धिका परित्याग करना ही श्रेयस्कर है।

अहित भावको व्यक्त करने वालों पर जो द्वेष भाव होता है उसे दूर करनेके लिये दृष्टान्त द्वारा समझाते हुए कहते हैं :-

विराधकः कथं हंत्रे जनाय परिकुप्यति।
त्र्यंगुलं पातयन्पद्भ्यां स्वयं दंडेन पात्यते ॥१०॥

अर्थ—जिस तरह कचड़ा या मिट्टी आदि काटने वाला पुरुष आंगुराको—कचडा और मिट्टी काटनेके लिये प्रयुक्त किए जानेवाले फावड़ेको—मिट्टी आदि काटनेके लिए नीचे गिराता है और स्वयं भी उसके साथ नीचे गिर जाता है—उसे नम्र होना पड़ता है— उसी प्रकार जो मनुष्य विराधक है—दूसरेका अपकार करता है, मारता है—वह स्वयं भी दूसरे से—अपकार किये गए मनुष्यके द्वारा—मारा जाता है तब वह उस पर क्रोध क्यों करता है ?

भावार्थ—आंगुरा—फावड़ेके समान एक अस्त्र—का प्रयोग करनेवाले मनुष्यको जिस तरह मिट्टी या कचड़ा काटनेके लिये उसके साथ स्वयं भी नीचे जाना या झुकना पड़ता है; क्योंकि उसका काष्ठदण्ड छोटा होता है, उसी प्रकार दूसरेका अपकार करनेवाले मनुष्यको बदलेमें स्वयं ही उस दूसरे मनुष्यके द्वारा जिसका अपकार किया गया था, अपकार किया जाता है कहा भी है :—

'सुखं वा यदि वा दुःखं येन यच्च कृतं भुवि ।
अवाप्नोति स तत्तस्मादेष मार्गः सुनिश्चितः' ॥

यह बात सुनिश्चित है कि जो मनुष्य दूसरेको सुख या दुख पहुंचाता है, उसे भी दूसरेके द्वारा सुख और दुख भोगना पड़ता है अतः अपकार करने वाले मनुष्यका बदलेमें अपकार करनेवाले पुरुष पर क्रोध करना व्यर्थ है, दूसरे यदि कोई अपना

अपकार करता है या उसमें निमित्त रूपसे प्रेरक होता है, तब यह सोचनेकी आवश्यकता है कि यह पुरुष जो मेरा अपकार करता है अथवा उसमें सहायक हो रहा है सो यह मेरे प्रत्युपकार का बदला दे रहा है फिर मुझे इसके प्रति रुष्ट होना उचित नहीं, किन्तु अपने किए हुए कर्मका फल समझ कर उसे समतासे सहनेका प्रयत्न करना चाहिए। अथवा अपकार करने वालेके प्रति ऐसा व्यवहार करना चाहिए जिससे वह अपने अपकारका लेना ही छोड़ दे और मध्यस्थभाव अपना ले।

अब शिष्य पुनः पूछता है कि हे भगवन्! दारादि इष्ट-पदार्थोंमें द्वेष करने वाला मनुष्य अपना क्या अहित करता है अथवा उसे क्या फल प्राप्त होता है इसी बातको स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं:—

रागद्वेषद्वयीदीर्घनेत्राकर्षणकर्मणा।
अज्ञानात्सुचिरं जीवःसंसाराब्धौ भ्रमत्यसौ॥ ११॥

अर्थ—यह लोकोक्ति है कि—जिस तरह मंदराचलको दीर्घनेत्राकर्षणके कारण बहुत काल तक समुद्रमें घूमना पड़ा था, उसी प्रकार यह जीव भी अज्ञानसे—देहादिकमें होने वाले आत्मविभ्रमसे—राग तथा द्वेष रूपी दीर्घ डोरीके कारण जिसके द्वारा दूध मथ कर मक्खन निकाला जाता है उस आक-

र्षण क्रिया से–चिरकाल तक द्रव्य, क्षेत्र,काल, भव और भावरूप पंच परावर्तन संसार समुद्रमें भ्रमण करता है।

विशेषार्थ–अन्य सम्प्रदायमें यह कथा प्रसिद्ध है कि जब मंदराचलको विशालनेत्र धारण करनेकी इच्छा हुई तब नारायन-ने नेतरीसे समुद्रका मन्थन किया,जिससे मंदराचलको बहुत काल तक संसार में घूमना पड़ा था। उसी प्रकार देहादिक परपदार्थों में होने वाले अज्ञानके कारण जो जीव रागद्वेषमें संलग्न रहते हैं, इष्ट अथवा प्रिय पदार्थोंमें प्रेम, अनिष्ट एवं अप्रिय पदार्थोंमें द्वेष रखते हैं वे चिरकाल तक संसार में जन्म मरणादिके अनेक कष्ट उठाते रहते हैं। क्योंकि राग और द्वेष दोनों ही सहयोगी हैं इनमें परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध भी पाया जाता है, द्वेषके विना राग नहीं रहता और राग विना अकेला द्वेष भी नहीं रहता, कहा भी है:–

यत्र रागः पदं धत्ते द्वेषस्तत्रैव निश्चयः।
उभावेतौ समालम्ब्य विक्रमत्यधिकं मनः॥

यह सुनिश्चित है कि जहां पर राग होता वहाँ द्वेष नियम-से रहता है। और जहाँ ये दोनों होते हैं वहां मन अत्यधिक विकारी हो जाता है–क्षोभको प्राप्त हो जाता है– अतएव जो मनुष्य यह दावा करते हैं कि हम दूसरों पर प्रेम ही करते हैं, द्वेष नहीं करते। यह उनकी भ्रामक कल्पना है; क्योंकि यदि आत्मामें प्रेम है किसी पर राग विद्यमान है तो कहना होगा कि

उसका किसी पदार्थ विशेष में द्वेष भी होगा। लोकमें जितने भी दोष हैं वे सब राग-द्वेष मूलक हैं। यदि आत्मामें राग-द्वेषकी सत्ता मौजूद है तो वहाँ दोषोंकी सत्ता विद्यमान ही है कहा भी है—

आत्मनि सति परसंज्ञा स्व-पर-विभागात्परिग्रहद्वेषौ ।
अनयोः संप्रतिबद्धाः सर्वे दोषाश्च जायंते ॥

क्योंकि जहाँ आत्मामें अपनेपनकी कल्पना है वहां पर संज्ञा रहती ही है। यह मेरा है और यह दूसरेका है इस तरह का स्व और परका विभाग है तो वहाँ पर नियमसे रागद्वेष है और जहाँ पर दोनों रहते हैं। वहां पर अन्य दोष अनायास ही आ जाते हैं, क्योंकि अन्य दोषोंकी उत्पत्तिका मूल कारण रग द्वेष है, सभी दोष राग और द्वेषसे परिपूर्ण हैं। जीवकी यह राग-द्वेष परम्परा ही संसार परिभ्रमणका कारण है इसीसे आचार्य कुन्दकुन्द ने संसार-भ्रमणके कारण रागद्वेष ही बतलाए हैं। जैसा कि पंचास्तिकाय के निम्न पद्यों से प्रकट है:—

"जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो हवदि गदि सुगदी ॥ १३५
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते।
ते हिं दु विसय गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥ १३६
जायदि जीवस्सेवं भावो संसार-चक्क-वालम्मि।
इदि जिणवरेहिं भणियं अणाइ णिहणो सणिहणो वा" १३

जो जीव संसार परिभ्रमण करता है उनके राग द्वेषादि परिणामोंकी उत्पत्ति होती रहती है। और उनके द्वारा शुभ अशुभ कर्मोंका आस्रव होता रहता है, अशुभ कर्मास्रवसे कुगति तथा शुभ कर्मास्रवसे सुगति मिलती है। गतियोंमें जानेके लिये शरीरकी प्राप्ति होती है, शरीरकी प्राप्तिसे इंद्रियोंकी प्राप्ति होती है और उनसे इंद्रियोंके स्पर्शादि विषयोंका ग्रहण होता है और विषय ग्रहणसे उनमें अच्छे-बुरेपनकी कल्पना जाग्रत होती है अर्थात् राग-द्वेष होने लगते हैं, और राग-द्वेष होनेसे संसारमें भ्रमण करना पड़ता है। इसी तरह यह जीव अनादि कालसे सदा संसारमें रुलता और दुःख उठाता रहता है। कभी इसे आत्माके वास्तविक सुखकी प्राप्ति नहीं होती। अतएव राग द्वेष सर्वथा हेय ही हैं।

अब शिष्य पुनः प्रश्न करता है कि हे भगवन्! यह जीव मोक्षमें तो सुखी रहता ही है किन्तु यदि संसारमें भी सुखी रहने लगे तो इसमें क्या दोष है? ऐसी स्थितिमें संसारको दुष्ट और त्याज्य नहीं कहना चाहिए। क्योंकि संसारके सभी जीव सुख चाहते हैं सो जब संसारमें भी सुख मिले तब फिर संत पुरुष उस संसार-छेदनका प्रयत्न क्यों करते हैं? इस शंका-के समाधानार्थ आचार्य कहते हैं:—

विपद्भवपदावर्ते पदिके वातिवाह्यते।
यावत्तावद्भवंत्यन्याः प्रचुरा विपदः पुरः ॥१२॥

अर्थ—संसाररूपी पगसे चलने वाले यंत्रमें उस घटी यंत्र दण्डके समान जब तक एक विपत्ति दूर होती है तब तक अन्य बहुतसी विपत्तियाँ आगे आकर उपस्थित हो जाती हैं—उन विपत्तियोंका कभी अन्त नहीं हो पाता।

भावार्थ—कुएँसे पैर चला कर जिसके द्वारा जल निकाला जाता है उस यंत्रका नाम पदावर्त है उस यंत्रके एक दण्डके घड़ों के रिक्त होते ही दूसरे घड़े सामने आ जाते हैं। ठीक उसी प्रकार यह संसार भी एक तरहका घटी यंत्र ही है इसमें जब तक एक विपत्ति दूर नहीं हो पाती, तब तक दूसरी अनेक नई आपत्तियाँ उपस्थित हो जाती हैं इस तरह इस संसारमें कभी साता कभी असाता बनी रहती है, एक भी समय यह जीव उससे मुक्त नहीं हो पाता। चाह-दाहकी भीषण ज्वालाएँ उत्पन्न होती रहती हैं और यह विकल हुआ उन्हींमें लिप्त रहता है इस तरह संसारमें सदा दुःख शोक आदि उपाधियाँ बराबर होती रहती हैं और यह जीव कभी भी वास्तविक आनन्दका आस्वाद नहीं कर पाता, पर यह मूर्ख जीव कर्मोदय वश, पर परिणतिके संयोगमें सुखकी कल्पना करने लगता है। यदि संसार परिभ्रमण करते हुए भी वास्तविक सुख मिलता होता तो तीर्थंकर और चक्रवर्त्यादिक महा पुरुष उस सांसारिक वैभवको कभी नहीं छोड़ते और न उस वैभवको असार एवं दुःखका कारण समझकर उसका परित्याग ही करते, जिसे छोड़कर वे दिगम्बर

साधु बन जाते हैं और घोर तपश्चर्या द्वारा आत्म-साधना करते हैं। इससे स्पष्ट है कि संसारके भोगादिक कभी सुखके कारण नहीं हो सकते ॥१२॥

संसारमें सभी जीव दुःखी नहीं होते, अनेक सम्पत्तिशाली भी दिखाई पड़ते हैं। अतएव सम्पत्तिशालियोंको तो सुखी मानना ही चाहिए। इसी शंकाके निरासार्थ आचार्य कहते हैं:—

दुरर्ज्येनासुरक्षेण नश्वरेण धनादिना।
स्वस्थं मन्यो जनः कोऽपि ज्वरवानिव सर्पिषा ॥१३॥

अर्थ—जिस तरह ज्वरसे पीड़ित मनुष्य ज्वरकी दाहको मिटानेके लिए घीका पानकर अपनेको स्वस्थ मानता है परन्तु वास्तवमें वह नीरोग अथवा स्वस्थ नहीं है और न घीके पानसे वह स्वस्थ हो ही सकता है किन्तु उल्टा दुःखी ही होता है उसी तरह अज्ञानी मनुष्य धन आदि इष्ट वस्तुओंके समागमसे अपनेको सुखी मानता है, पर वह वास्तवमें सुखी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि धनके उपार्जनमें अत्यन्त कष्ट होता है और उससे अधिक कष्ट उसके संरक्षणमें होता है—धन होजाने पर भी उसकी बड़ी कठिनतासे रक्षा हो पाती है, धन नश्वर है—देखते देखते नष्ट हो जाता है—लाखों करोड़ोंकी सम्पत्ति क्षणमात्रमें भस्म हो जाती है।

भावार्थ—धनादिक वस्तुएँ सुख दुःखकी जनक नहीं हैं केवल उनकी तृष्णा ही दुःखकी जनक है और उसकी आंशिक

पूर्ति सुखकी उत्पादिका कही जाती है, पर वास्तवमें धनादिक पदार्थ पर हैं वे सुख दुःखके जनक नहीं हो सकते उनमें हमारी आत्म-कल्पना ही सुख दुःखकी उत्पादिका है। कहा भी है:—

अर्थस्योपार्जने दुःखमर्जितस्य च रक्षणे।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं दुःखभाजनम्।

धनके उपार्जन करनेमें दुख होता है—धनलिप्सामें अनेक अयोग्य कार्य भी करने पड़ते हैं। और धन होजाने पर चोर आदिसे उसकी रक्षा करनेमें और भी अधिक कष्ट हो जाता है जब धनागम होता है—अर्थात् कदाचित् जब इच्छानुसार धनकी प्राप्ति हो जाती है तब तृष्णा और भी अधिक प्रबल हो उठती है और वह उससे दशगुणेकी प्राप्तिकी चाहमें लग जाता है और यदि संचित धन विवाहादि कार्योंमें खर्च होगया तो फिर उसकी रात दिन चिन्ता लगी रहती है कि वह धन कब और कैसे प्राप्त हो ? इस तरह धनकी आयमें और व्यय (विनाश) दोनों अवस्थाओंमें दुःख ही रहता है ऐसे उस धनके लिए धिक्कार है जो दुःखका कारण है। ऐसी हालतमें धन सुखका कारण कैसे हो सकता है ?

फिर भी शिष्य पूछता है कि हे भगवन् ! जब कि सम्पदा लोकमें महाकष्टकी उत्पादक है तो फिर लोग उसका परित्याग क्यों नहीं करते ? रात दिन उसके चक्करमें क्यों यत्र तत्र घूमते

फिरते हैं। इस शंकाका दृष्टान्तपूर्वक समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं:—

विपत्तिमात्मनो मूढः परेषामिव नेक्षते* ।
दह्यमानमृगाकीर्णं वनांतरतरुस्थवत् ॥१४॥

अर्थ—जिस तरह हिरण आदि अनेक जन्तुओंसे भरे हुए वनमें आग लग जाने पर वृक्षके ऊपर बैठे हुए उस मनुष्यके समान यह अज्ञानी जीव दूसरोंकी विपत्तिकी तरह अपनी विपत्ति-को नहीं देखता है।

भावार्थ—हिरण, सिंह और व्याघ्रादि अनेक जीवोंसे भरे हुए जंगलमें आग लग जाने पर उससे बचनेके लिए यदि कोई मनुष्य किसी ऊँचे वृक्षकी शाख पर बैठकर यह समझता है कि मैं ऊँचे वृक्ष पर बैठा हुआ हूँ अतएव यह अग्नि मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकती; परन्तु उस अज्ञानी जीवको यह पता नहीं होता कि जिस प्रकार इस जंगलके जीव मेरे देखते देखते जल रहे हैं उसी प्रकार थोड़ी देरमें मैं भी भस्म हो जाऊँगा। ठीक इसी प्रकार यह अज्ञ प्राणी धनादिकसे अन्य मनुष्य पर आई हुई विपत्तिका तो स्मरण करता है, परन्तु अपने लिये धनादिके समुपार्जन करनेमें थोड़ा भी विश्राम नहीं लेता और न उस संचित धनसे

---

* परस्येव न जानाति विपत्तिं स्वस्य मूढधीः ।
वने सत्वसमाकीर्णे दह्यमाने तरुस्थवत् ॥
—ज्ञानार्णवे शुभचन्द्रः

होनेवाली महान् विपत्तिका स्मरण ही करता है । अस्तु धनादि-के कारण यदि किसी मनुष्य पर कोई विपत्ति आई हुई देखे तो उसे धनकी आशा सर्वथा छोड़ देनी चाहिये ऐसा करनेसे वह उस आनेवाली विपत्तिसे अपनी रक्षा करनेमें तत्पर हो जाता है परन्तु वह उस धनाशाको नहीं छोड़ता, यही उसका अज्ञान है और उसे दुःखका जनक है । वह तो मद्यके नशेमें उन्मत्त हुए मनुष्यके समान अपने स्वरूपको भूलकर अपने हितका ध्यान नहीं रखता । उसी प्रकार धनी भी दूसरोंकी सम्पत्ति, घर आदि विनष्ट होते हुए देखकर भी कभी यह विचार नहीं करता कि यह कालाग्नि इस तरह मुझे भी नहीं छोड़ेगी । अतः मुझे अपना आत्महित करना ही श्रेयस्कर है ॥ १४ ॥

फिर भी शिष्य प्रश्न करता है कि हे भगवन् ! धनसे अनेक विपत्ति होने पर भी धनी लोग उन्हें क्यों नहीं देखते ? इस शंका-का समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि हे वत्स ! लोभके कारण धनी लोग सामने आई हुई विपत्तिको नहीं देखते हैं :—

आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं कालस्य निर्गमं ।
वांछतां धनिनामिष्टं जीवितात्सुतरां धनं ॥ १५ ॥

अर्थ—कालका बीतना, आयुका क्षय और धनकी वृद्धिका कारण है—ज्यों ज्यों काल व्यतीत होता जाता है त्यों त्यों जीवोंकी आयु कम होती जाती है और समुचित व्यापारादि साधनोंसे धनकी अभिवृद्धि भी होती चली जाती है । तो भी

धनी लोग कालका नाश होना अथवा व्यतीत होना अच्छा समझते हैं, क्योंकि धनियोंको धन अपने जीवनसे भी अधिक प्यारा है।

भावार्थ—अनादिकालसे इस आत्मा पर लोभकषायका तीव्र संस्कार जमा हुआ है। उसके कारण यह आत्मा धनको अपने जीवनसे भी अधिक प्रिय समझता है। यद्यपि कालका बीतना, और आयु का क्षय धनवृद्धिमें कारण है, फिर भी धनी लोग आयुकी कुछ भी पर्वाह नहीं करते, किन्तु धनवृद्धिकी लिप्सासे कालके बीतनेको श्रेयस्कर समझते हैं। यही कारण है कि धनी लोग धनादिसे समुत्पन्न विपत्तियोंका कोई विचार नहीं करते, यह सब लोभका ही प्रभाव है। यही कारण है कि धनी लोग धनाश्रित विपत्तियोंका ध्यान नहीं करते, यदि ध्यान होता भी है तो उसकी अभिवृद्धि और संरक्षण ही होता है, आगत विपदाका नहीं, यही लोभोदय जन्य अविवेकका माहात्म्य है॥ १५॥

अब शिष्य पुनः प्रश्न करता है कि धनके बिना पुण्यवृद्धिकी कारणभूत पात्रदान और देवपूजादि प्रशस्त क्रियाओंका अनुष्ठान करना संभव नहीं है, जब कि धन पुण्यबन्धका कारण है तब उसे निंद्य नहीं कहा जा सकता, इस कारण उसे प्रशस्त मानना ही चाहिए और जिस तिस प्रकारसे धनोपार्जन कर पात्रदानादि शुभ कर्मोंमें लगा कर पुण्य पैदा करना चाहिए। इस शंकाका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं:—

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः ।
स्वशरीरं स पंकेन स्नास्यामीति विलंपति ॥ १६ ॥

अर्थ-जो निर्धन मनुष्य पात्रदान, देवपूजा आदि प्रशस्त कार्योंके लिए अपूर्व पुण्यप्राप्ति और पापविनाशकी आशासे सेवा, कृषि और वाणिज्यादि कार्यों द्वारा धन उपार्जन करता है वह मनुष्य अपने निर्मल शरीर में 'नहा लूंगा' इस आशासे कीचड़ लपेटता है ।

भावार्थ-संसारके अधिकांश भोले प्राणियोंकी यह धारणा रहती है कि धन प्राप्तिके लिये यदि नीचसे नीच कार्य भी करना पड़े तो भी करके धन संचय कर लेना चाहिए, धन प्राप्तिसे जो पापास्रव होगा उसके बदलेमें उस धनको पात्रदान, देवपूजा, गुरुभक्ति, सेवा और परोपकार आदि सत्कार्योंमें लगाकर पुण्य प्राप्त कर लिया जावेगा । परन्तु यह धारणा ठीक नहीं है, क्योंकि जिस तरह किसी मनुष्यका शरीर निर्मल है फिर भी वह यह समझकर 'नहा लूंगा' इस आशयसे अपने शरीरमें कीचड़ लपेट लेता है । तो उसका यह कार्य ठीक नहीं कहा जा सकता । उसी तरह पापकरके धन संचय करनेवाला मनुष्य यह समझकर कि मैं अपने धनको दानादि अच्छे कार्योंमें खर्च कर दूंगा, कुत्सित मार्गोंसे धनादिका अर्जन करता है वह संसारमें अज्ञानी माना जाता है । क्योंकि इस प्रकारके कार्योंसे उस मनुष्यकी इष्टसिद्धि नहीं हो सकती । दूसरे यदि भाग्यवश कदाचित् धन

मिल भी जाता है तो वह पाप कार्योंमें ही लग जाता है अच्छे कार्योंमें उसके लगनेकी बहुत ही कम संभावना है। वास्तवमें धनका उपार्जन शुद्ध भावोंसे नहीं हो सकता, जैसा कि कहा भी है:-

शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते सतामपि न संपदः।
नहि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिंधवः ॥१॥

जिस तरह स्वच्छ एवं निर्मल जलसे नदियोंकी भरवारी नहीं होती---गंदले और मलिन जलसे ही वे परिपूर्ण होती हैं- उसी तरह सज्जनोंकी सम्पदा शुद्धमार्गसे कमाए हुए धनसे नहीं बढ़ती। धन संचयमें निंदितमार्गका आश्रय लेना ही पड़ता है फिर भी विवेकीजनोंका कर्तव्य है कि वे जहां तक बने विशुद्ध नीतिमार्गसे ही धनोपार्जन करें। और लोकमें जो निंदितमार्ग हैं उनसे धन कमाकर अच्छे कार्योंमें लगानेकी भावनाका परित्याग करें, क्योंकि यह भावना हितकारी नहीं है।

ज्ञानी तो ऐसा विचार करता है कि जब धनार्थी धनकी अप्राप्तिमें दुखी हैं और धनी अतृप्तिवश दुखी है। केवल अकिंचन मुनि ही सुखी हैं ? क्योंकि उनके धनाशा नहीं है। ऐसी स्थिति में धनकी प्राप्ति कैसे उपादेय हो सकती है ? जब तू निर्धन है तो धन संग्रहकी आकांक्षा मत कर; क्योंकि जिस धनको तू

---

१ अर्थिनो धनमप्राप्य धनिनोऽप्यवितृप्तितः
कष्टं सर्वेऽपि सीदन्ति परमेको मुनिः सुखी ॥६५
आत्मनुशासने गुणभद्रः

उपादेय और पुण्योत्पादक समझकर प्राप्त करनेकी इच्छा करता है, उसी धनको राजा महाराजा सेठ साहूकार अतृप्तिकारक, मोह-वर्धक और पापबन्धक जानकर त्याग कर देते हैं और संसारके इन पदार्थोंको छोड़कर उस वीतराग साधुवृत्तिको धारण करते हैं जो आत्मस्वातन्त्र्यकी प्राप्तिका प्रधान कारण है। अतः यदि तुझे भी आत्मसुख प्राप्तिकी इच्छा है तो तू भी अपनी विवेक-बुद्धिके कारण पर परपदार्थों में इष्ट अनिष्ट बुद्धिका परित्याग कर अपने स्वरूपको पहचाननेका यत्न कर ॥१६॥

केवल पुण्यकर्म उपार्जन करनेके कारण ही यदि धनको प्रशस्त माना जाय, ऐसा जो तूने कहा था वह ऊपर बताये हुए मार्गसे प्रशस्त नहीं हो सकता। तब केवल भोगोपभोगके लिए धनका साधन कैसे प्रशस्त हो सकता है? इस शंकाका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं :--

आरंभे तापकान्प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान् ।
अंते सुदुस्त्यजान् कामान् काम कः सेवते सुधीः ॥१७

अर्थ- भोग आरम्भमें—उत्पत्तिके समय अनेक संताप देते हैं—शरीर इन्द्रिय और मनको क्लेशके कारण हैं---और अनादि भोग्यद्रव्यके सम्पादन करनेमें भी कृष्यादि कारणोंसे अत्यन्त दुःख होता है और जब वे प्राप्त हो जाते हैं तब उनके भोगनेसे तृप्ति नहीं होती---पुनः पुनः भोगनेकी इच्छा बनी रहती है और चित्तमें व्यग्रता तथा घबड़ाहट होती रहती है इसलिये

अतृप्तिवश अनन्तकालमें भी भोगोंको छोड़नेका साहस नहीं होता। ऐसे अहितकर भोगोंको कौन विद्वान सेवन करेगा--कोई भी बुद्धिमान नहीं करेगा।

भावार्थ--आदि मध्य और अन्त इन तीनों अवस्थाओंमेंसे किसी एक अवस्थामें भी भोगोंमें सुख मिले तब भोगोंको अच्छा भी माना जाय; किन्तु उनमें तो सुखका लेश भी नहीं है; क्योंकि कृषि सेवा आदि अनेक कष्टकर कार्योंसे अनादि भोग्य पदार्थोंका सम्पादन होता है इसलिए उनके प्रारंभमें ही शरीर इन्द्रिय और मनको अत्यन्त कष्ट होता है। यदि कदाचित् भोग प्राप्तिसे सुखकी कल्पना की जाय तो भी वृथा ही है, क्योंकि अभिलषित भोगोंके प्राप्त होने पर भी तृष्णा नागन अपनी चपलतासे जगतको अशान्त बनाये रहती है। ज्यों ज्यों भोग भोगे जाते हैं त्यों त्यों तृष्णा बलवती होती जाती है और उन्हें बराबर भोगते रहने पर भी कभी तृप्ति नहीं होती, तथा अतृप्तिमें खेद एवं व्यग्रता होती है। किसी कविने ठीक कहा है:--

अपि संकल्पिताः कामाः संभवन्ति यथा यथा।
तथा तथा मनुष्याणां तृष्णा विश्वं विसर्पति॥

ज्यों ज्यों अभिलषित भोग प्राप्त होते जाते हैं और उनमें सुखकी कल्पना की जाती है त्यों त्यों तृष्णा भी बढ़ती जाती है और उनसे सदा अतृप्ति ही बनी रहती है। कदाचित् यह कहा जाय कि भोगोंके यथेष्ट भोग लेने पर मनुष्यकी तृष्णा शान्त हो

जायगी, और तृष्णा-शान्तिसे सन्तोष हो जायगा सो यह भी संभव नहीं है, क्योंकि अन्त समयमें अशक्ति होने पर भी भोग नहीं छोड़े जा सकते। भले ही वे हमें स्वयं छोड़ दें। पर भोगोंकी वृद्धिमें तृष्णा भी उतनी ही बढ़ती जाती है, फिर उनसे तृप्ति या सन्तोष नहीं होता। कहा भी है :-

दहनस्तृणकाष्ठसंचयैरपि तृप्येदुदधिनदीशतैः।
न तु कामसुखैः पुमानहो बलवत्ता खलु कापि कर्मणः॥

अग्निमें कितना तृण और काष्ठ क्यों न डाला जाय लेकिन तृप्ति नहीं होती, शायद वह तृप्त हो जाय, सैंकड़ों नदियोंसे भी समुद्रकी तृप्ति नहीं होती, यदि कदाचित् उसकी भी तृप्ति हो जाय, परन्तु भोगोंसे मनुष्य कभी तृप्त नहीं हो सकता। कर्म बड़ा ही बलवान है। और भी कहा है:—

तदात्व सुखसञ्ज्ञेषु भावेष्वज्ञोऽनुरज्यते।
हितमेवानुरुध्यंते प्रपरीक्ष्य परीक्षकः॥

अतएव जो मनुष्य मूढ़ है—हित अहितके विवेकसे शून्य हैं—वे भोग भोगते समय उन्हें सुखकारी समझ भोगोंमें अनुराग करते हैं—किन्तु जो मनुष्य परीक्षा प्रधानी हैं—हेयोपादेयके विवेकसे जिनका चित्त निर्मल है, वे इन दुःखदायी, क्षणिक विनाशी भोगोंकी ओर न झुककर हितकर मार्गका ही अनुसरण करते हैं।

यदि यह कहा जाय कि विद्वान लोग भी विषय भोगते देखे

जाते हैं उनकी भी विषयोंसे विरक्ति अथवा उदासीनता नहीं देखी जाती, और पुराणादि ग्रन्थोंमें भी उनके भोग भोगनेकी कथा सुनी जाती है। ऐसी स्थितिमें कौन विद्वान इनका उपभोग करेगा ? यह आपका उपदेश संगत नहीं जान पड़ता। और यह कहना भी ठीक नहीं है कि विद्वान् लोग भोग नहीं भोगते, इस शंकाका समाधान यह है कि यद्यपि भेदविज्ञानी पुरुष चारित्रमोहनीयकर्मके उदयसे भोगोंके छोड़नेमें सर्वथा असमर्थ हैं---वे उन्हें छोड़ नहीं सकते । पर उनका उनसे आन्तरिक राग नहीं होता, वे चारित्रमोहका मंद उदय होते ही उनका परित्याग कर देते हैं; क्योंकि श्रद्धामें उन्हें वे अप्रिय और अहितकर ही समझते हैं। परन्तु जिस तरह अज्ञानी भोगोंको हितकारी समझकर आसक्तिसे उनका सेवन करता है वैसा विवेकी जीव नहीं करते। वे तो उन्हें हेय ही समझते हैं। जिस तरह षट्रस व्यंजनमय सुस्वादु भोजन सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि करते हैं। पर उन दोनोंके स्वादोंमें और दृष्टिमें बड़ा ही अन्तर है । कदाचित् यदि दालमें नमक अधिक हो जाता है तो मिथ्यादृष्टि दालको खारी बतलाता है, जब कि सद्दृष्टि दालको खारा न बतलाकर खारापन नमकका बतलाता है इसीका नाम विवेक है।

दूसरे यदि ज्ञानी जीव सांसारिक भोग्य सामग्रीमें ही सुख मानते तो फिर उसका परित्याग ही क्यों करते। संसारमें अनेक प्राणी ऐसे हुए हैं जिन्होंने इस विभूतिको बिना भोगे ही जीर्ण

तृणके समान छोड़ दी और आप स्वयं आत्म-साधनामें तत्पर हुए। उदाहरणके लिए वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्व-नाथ और महावीर इन पाँच तीर्थंकरोंको ही ले लीजिए, उन्होंने भोगोंको बिना भोगे ही उन्हें कुमारअवस्थामें,छोड़कर और आत्म-साधना कर जगतका महान् उपकार किया है। आचार्य गुणभद्रने आत्मानुशासनमें कहा है—

आर्थिभ्यस्तृणवद् विचिन्त्य विषयान् कश्चिच्छ्रियं दत्तवान्,
पापां तामवितर्पिणीं विगणयन्नादात् परस्त्यक्तवान्।
प्रागेवाकुशलां विमृश्य सुभगोऽप्यन्यो न पर्य्यग्रही,
देते ते विदितोत्तरोत्तरवराः सर्वोत्तमस्त्यागिनः ॥१२॥

इस पद्यमें बतलाया है कि किसी मनुष्यने तो विषयभोगोंको तृणके समान समझकर अपनी लक्ष्मी अर्थिजनोंको दे दी, और अन्य किसीने उस धनादि सम्पत्तिको पापरूप तथा अन्यको न देने योग्य समझकर किसीको नहीं दी, किन्तु स्वयं ही उसका परित्याग कर दिया। अन्य किसी महापुरुषने उस विभूतिको पहले ही अकुशल (दुःखरूप) समझकर ग्रहण ही नहीं की। इन तीनों त्यागियोंमेंसे एक एक अपने अपने दूसरे त्यागीसे उत्तम है। पर वह सर्वोत्तम त्यागी है जिसने वैभवका ग्रहण ही नहीं किया। वज्रदन्त चक्रवर्तीके पुत्रोंने पिताके विरागी होने पर स्वयं भी उसी मार्गका अनुसरण किया; किन्तु दूसरोंके द्वारा भोगी हुई उस उच्छिष्ट सम्पदाका भोगना उचित नहीं समझा और पिताके

साथ ही दीक्षित हो गए। भोग भोगनेवालोंमें भी ऐसे महापुरुष हुए हैं जिन्हें कर्मोदयकी बरजोरीसे भोग तो भोगना पड़े,परन्तु अन्तरंगसे उनमें अत्यन्त उदासीनता रही, और राज्यकार्य करते हुए भी भाव विशुद्धिमें कोई अन्तर नहीं आने दिया, यही कारण है कि भरत चक्रवर्ती दीक्षा लेते ही उस केवलज्ञान रूप विभूतिके पात्र बने। अतः ज्ञानीके सम्बन्धमें यह कल्पना करना ठीक नहीं है कि वे भोगोंको भोगते ही हैं किन्तु उनका परित्याग नहीं करते। कहा भी है:—

इदं फलमियं क्रिया करणमेतदेष क्रमो,
व्ययोऽयमनुषंगजं फलमिदं दशेयं मम।
अयं सुहृदयं द्विषन् प्रयतिदेशकाला विमा—
विति प्रतिवितर्कयन् प्रयतते बुधो नेतरः॥

यह फल है, यह क्रिया है, यह कारण है, यह उसका क्रम है, यह हानि है और भोगोंके सम्बन्धसे यह फल प्राप्त होता है, यह मेरी दशा है, यह मित्र है, यह शत्रु है, यह देश और काल ऐसा है। इस तरहकी विचारपूर्णबुद्धि विद्वानकी ही होती है। अज्ञानीकी नहीं। अतएव ज्ञानी हेय बुद्धिसे भोगोंको भोगता हुआ भी जिस समय उसका चारित्रमोहनीयकर्म निर्बल हो जाता है—उसकी फलदानकी सामर्थ्य क्षीण हो जाती है—तब वह विषय-भोगोंका सर्वथा परित्याग कर देता है परन्तु अज्ञानी जीव ऐसा नहीं कर सकता, क्योंकि उसका उनके प्रति तीव्रराग है। वास्त-

वमें विषयसुख विषही है, जैसा कि किसी कविने कहा है :-

किमपीदं विषयमयं विषमतिविषयं पुमानयं येन ।
प्रसभमनभूय मनो भवे भवे नैव चेतयते ॥

विषयभोग-सम्बन्धी यह विष अत्यन्त विषम है—भयंकर है । जो मनुष्य इस विषका पान करता है वह इस विष द्वारा भव भवमें विषय सुखका अनुभव करता हुआ उससे समुत्पन्न दुःखोंको सहता है फिर भी वह नहीं चेतता—अज्ञानी ही बना रहता है । यह सब मोहका ही माहात्म्य है ।

अतः जो यह कहा गया था कि धन भोग उपभोगकी सामग्रीका जनक है इस कारण प्रशस्त है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि भोग् उपभोग अशुभकर्मके कारण हैं और धन उनका उत्पादक है तो वह धन भी सर्वथा प्रशस्त कैसे कहा जा सकता है ? वह अशुभकर्म और संक्लेश परिणामोंका जनक होनेसे निंद्य ही है ॥१७॥

हे भद्र ! तू जिस शरीरके उपकारके लिये अनेक दुःखोंसे वस्तु प्राप्तिकी इच्छा करता है उस शरीरके स्वरूपका तो विचार कर कि वह काया कैसी है ? इसी विषयको स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं—

भवंति प्राप्य यत्सङ्गमशुचीनि शुचीन्यपि ।
स कायः संततापायस्तदर्थं प्रार्थना वृथा ॥१८॥

जिसके सम्बन्धसे पवित्र पदार्थ भी अपवित्र हो जाते हैं

और जो सदा ही अपाय स्वरूप है–विनाशीक और सन्तापकारक है उस शरीरका पवित्र पदार्थोंसे उपकार करना व्यर्थ है ॥१८॥

विशेषार्थ--यह शरीर पुद्गलका पिण्ड है, अस्थि, पल और नसाजालसे वेष्टित हैं, चमड़ेसे ढका हुआ है, मल-मूत्रसे भरा हुआ है। इसके नव द्वारोंसे सदा मल बहता रहता है। ऊपरसे यह अच्छा प्रतीत होता है परन्तु जब इसके अन्तरस्वरूप पर दृष्टि जाती है तो यह अत्यन्त अशुचि, घृणित और दुःखका कारण जान पड़ता है। इस शरीरसे कितने ही सुगन्धित इत्र, फुलेल, भोजन वस्त्रादिक पदार्थोंका सम्बन्ध किया जाय, पर वे सब पदार्थ भी इसके संपर्कसे दुर्गन्धित और मलिन हो जाते हैं। यह शरीर सदा नहीं रहता, वह शीघ्र नष्ट हो जाता है। क्षुधादि अनेक वेदनाएँ भी निरंतर सन्ताप उत्पन्न करती रहती हैं। फिर भी यह मोही जीवोंके लिये सदा प्रिय बना हुआ है---वे उसमें अत्यन्त रागी हैं, उसकी पुष्टिसे निरन्तर सन्तुष्ट रहते हैं, और सांसारिक विषय-वासनाके जालमें फँसकर अपनेको सुखी अनुभव करते हैं। परन्तु ज्ञानी जीव इस शरीरके स्वरूपको जानकर कभी रागी नहीं होते; वे इसे कृतघ्नी दुर्गंधित और नाशवान अनुभव करते हैं, वे उत्तम पदार्थोंके द्वारा इसका उपकार करना अथवा उसे पुष्ट बनाना, जिससे वह अपनी सीमाका अतिरेक कर इन्द्रिय विषयमें प्रवृत्त हो, कभी इष्ट नहीं मानते। प्रत्युत उनकी इच्छा इसके शोषण द्वारा आत्मलाभ करनेकी होती है। वे शरीरको

कष्ट देकर ही इन्द्रिय जयी बनते हैं। और ज्ञान लोकमें विहार करते हुए स्वरूप में मग्न रहते हैं ॥१८॥

यदि यह कहा जाय कि धनादिकसे शरीरका उपकार नहीं होता तो मत हो, किन्तु धनसे तथा अनशनादि तपश्चरणोंसे तो आत्माका उपकार होगा; क्योंकि धनसे धर्मका अनुष्ठान होता है, उससे आत्माका हित भी जरूर होगा, इस कारण धन ग्राह्य है। इस शंकाका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं:--

यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकं।
यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकं ॥१६॥

अर्थ—जो अनशनादि द्वादश तपोंका अनुष्ठान जीवके पूर्वबद्ध पापोंका क्षय करने वाला है और आगामी पापार्जनके रोकनेमें कारण है अतएव वह जीवका उपकारक है, और वह तपादिका आचरण शरीरका अपकारक है—अहित करनेवाला है। और जो धनादि परिग्रह तथा भोजन वस्त्रादिक क्षुधा तृषा और शीत उष्णादिकी बाधाओंको दूर करनेके कारण देहका उपकारक है। वह धनादि परिग्रहकी पोट पापबंध और दुःखोत्पादक होने से जीवका अपकारक है—-दुख देने वाला है।

विशेषार्थ—-अनशन एवं अवमोदर्यादिक तपोंके अनुष्ठानसे पापोंका विनाश होता है और उनसे आत्मामें निर्भयता आती है इसलिये तप जीवका तो उपकारक है परन्तु तप आदिके अनुष्ठानसे-उपवास करने अथवा भूखसे कम खाने आदिसे तो

शरीर कृश हो जाता है, इन्द्रियोंमें दुर्बलता आ जाती है—वे कमजोर हो जाती हैं। अतएव अनशनादि तपोंके अनुष्ठानसे तो शरीरका अपकार ही होता है। किन्तु भोजनादि पदार्थोंके उपभोगसे शरीर पुष्ट होता है वह सबल और कांतिमान हो जाता है इस कारण भोजनादिक पदार्थ शरीरके उपकारक हैं, परन्तु वे आत्माके उपकारक नहीं है, क्योंकि भोजनादि गरिष्ठ पदार्थोंके सेवनसे प्रमादकी वृद्धि होती है और उससे कर्मोंका आस्रव होता है, आत्म-परिणति मलिन होती है। और आत्मपरिणतिकी मलिनतासे आत्मा दुर्गतियोंका पात्र बनता है। अतएव जो यह कहा गया था कि धनादिकसे कभी आत्माका उपकार नहीं हो सकता। वह प्रायः ठीक ही है, क्योंकि यदि धनादिक आत्माके उपकारी होते तो महापुरुष इनका त्यागकर अकिंचिन दिगम्बर नहीं बनते, और न दूसरोंको उस मार्ग का अनुसरण करनेका उपदेश ही देते। अतः यह स्पष्ट है कि धनादि परिग्रह आत्माका उपकारक नहीं हो सकता। इसीसे उसे त्याज्य बतलाया है।

इस बातको स्पष्ट करते हुए आचार्य गुणभद्र आत्मनुशासन में कहते हैं:—

तप्तोऽहं देहसंयोगाज्जलं वानलसंगमात्।
इह देहं परित्यज्य शीतीभूताः शिवैषिणः॥

ज्ञानी जीव विचार करता है कि जिस तरह अग्निके संयोग से जल गरम हो जाता है और वह सन्तापको उत्पन्न करता है

उसी तरह शरीर, तत्सम्बन्धी इन्द्रियाँ और उनके विषयभूत भोग्य पदार्थ भी मुझे सन्तापित करते हैं--उनके संयोगसे मेरी आत्मा उत्पीड़ित (दुखी) होती है। जिन मोक्षार्थी पुरुषोंने इस देहका परित्याग कर शान्त एवं निराकुल सुखको प्राप्त कर लिया है। उन महापुरुषोंने ही इन इन्द्रिय-भोगोंके त्यागका उपदेश दिया है। यद्यपि यह देहके उपकारक हैं परन्तु आत्माके अपकारी ही हैं। अतः उनका परित्याग ही श्रेयस्कर है ॥१९॥

अब शिष्य पुनः पूछता है कि हे देव! यदि ऐसा है तो यह क्यों कहा जाता है कि 'शरीर माद्यं खलु धर्मसाधनम्' शरीर धर्मसिद्धिका प्रधान कारण है। बिना शरीरके धर्मका साधन नहीं हो सकता, इस कारण शरीरका नाश न हो इस तरहसे उसका उपकार करना ही चाहिए। यदि यह कहा जाय कि शरीरका नाश न हो इस रूपसे उपकार हो ही नहीं सकता, तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ध्यानसे सब बातें सुकर हो जाती हैं। तत्त्वानुशासनमें कहा भी है:--

यदात्रिकं फलं किंचित्फलमामुत्रिकं च यत्।
एतस्य द्विगुणस्यापि ध्यानमेवाग्रकारणम् ॥२१७॥

ध्यानसे इस लोक परलोक सम्बन्धी दोनों प्रकारके फल प्राप्त हो जाते हैं। और यह भी कहा है कि 'झाणस्स ण दुल्लहं किंपि' ध्यानके लिये कोई बात दुर्लभ नहीं है। सब चीजें प्राप्त हो जाती हैं। इसलिये ध्यानसे शरीरका नाश न हो ऐसा उपकार

हो सकता है । इस आशंकाका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं:—

इतश्चिन्तामणिर्दिव्य इतः पिण्याकखंडकं ।
ध्यानेन चेदुभे लभ्ये क्वाद्रियंतां विवेकिनः ॥२०॥

अर्थ—एक ओर तो अभीष्ट पदार्थोंको प्रदान करने वाला चिन्तामणि रत्न है और दूसरी ओर खलका टुकड़ा है, ध्यानसे जब ये दोनों ही चीजें प्राप्त होती हैं ऐसी स्थितिमें विवेकीजन—लोभके विनाशमें चतुरजन—किसका आदर करें ।

भावार्थ—यह ठीक है कि ध्यानसे दोनों बातें सिद्ध होती हैं । परन्तु यदि कोई मनुष्य किसीको एक हाथसे चिन्तामणि रत्न और दूसरे हाथसे खलका टुकड़ा दे और यह कहे कि इन दोनोंमें तुम्हारी जो इच्छा हो सो ले लो । तब विवेकी पुरुष खलके टुकड़ेको छोड़कर चिन्तामणि रत्नको ही लेगा । उसी तरह जो जीव बिना किसी अभिलाषाके धर्म शुक्लरूप उत्तम ध्यानोंका आराधन करता है वह चिन्तामणि रत्नके समान वास्तविक स्वरूपकी प्राप्ति कर लेता है । किन्तु जो जीव आर्त रौद्र रूप अशुभ ध्यानोंका आश्रय करता है उसे खलके टुकड़ेके समान इस लोक सम्बन्धि पराधीन इन्द्रियजन्य सुख प्राप्त होते हैं । अतः शरीरका विनाश न हो इस आशासे जो ध्यान किया जाता है वह निरर्थक है । हां, स्व-स्वरूपकी प्राप्तिके लिये ध्यान का आराधना करना श्रेयस्कर है । तत्त्वानुशासनमें भी कहा है:—

तद्ध्यानं रौद्रमार्तं वा यदैहिकफलार्थिनां ।
तस्मादेतत्परित्यज्य धर्म्यं शुक्लमुपास्यताम् ॥२०॥

अर्थात्—ध्यानसेपुरुष इस लोक सम्बन्धि फलकी अभिलाषा करते हैं वह ध्यान आर्त रौद्र के भेदसे दो प्रकारका है और जिन से स्वात्माकी उपलब्धि होती है वह ध्यान भी धर्म्म शुक्लके भेदसे दो तरह का है। अतः विवेकीजनोंका कर्त्तव्य है कि वे ऐहिक फलकी अभिलाषाके कारणभूत उक्त दोनों दुर्ध्यानों का परित्यागकर आत्मस्वरूप की प्राप्तिके लिये धर्म और शुक्ल ध्यान की उपासना करें ॥२०॥

इस तरह सम्बोधित करनेपर शिष्योंको कुछ आत्म-प्रतीति तो हुई, परन्तु वह गुरुसे पुनः पूछता है कि हे नाथ! वह आत्मा कैसा है? जिसके ध्यान करने का आपने उपदेश दिया है। और उसका क्या स्वरूप है? आचार्य पूज्यपाद शिष्यके प्रश्नका समाधान करनेके लिये आत्माका स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं:—

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः ।
अत्यन्तसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः॥२१॥

अर्थ —-यह आत्मा स्व-संवेदन प्रत्यक्षका विषय है, कर्मोदयसे प्राप्त अपने छोटे-बड़े शरीरके बराबर है। अविनाशी है—द्रव्यदृष्टिसे नित्य है उसका कभी विनाश नहीं होता, अत्यन्त सुख-स्वरूप है—आत्मोत्थ अनन्त सुख स्वभाव वाला है। और लोक अलोकका साक्षात् करने वाला है।

विशेषार्थ---इस पद्यमें आचार्य महोदयने आत्मस्वरूपका विवेचन करते हुए जो विशेषण दिये हैं उनसे आत्माके सम्बन्ध-में होने वाली विविध मान्यताओंका भी निरसन हो जाता है। किन्हींका कहना है कि जो वस्तु किसी न किसी प्रमाणका विषय है उसीका गुणानुवाद करना चाहिये। असिद्ध वस्तुका गुणानु-वाद करना ठीक नहीं है. उनकी इस मान्यताका परिहार करनेके लिए आचार्यने 'स्वसंवेदन सुव्यक्तः' विशेषण दिया है। चूँकि आत्मा अमूर्तिक है---वह इन्द्रिय और मनका विषय नहीं है अतः आत्मा किसी प्रमाणका विषय भी नहीं है ऐसा कहा जाता है वह ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा स्वसंवेदन प्रत्यक्षका विषय है 'अहं अस्मि' 'मैं हूँ' इस प्रकार अन्तर्मुखाकाररूपसे जो ज्ञान अथवा अनुभवन होता है उससे आत्माकी सत्ता स्वतः सिद्ध हो जाती है और जब आत्माकी सत्ता सिद्ध हो जाती है तब उसे असिद्ध कहना प्रमाण विरुद्ध ठहरता है। स्वानुभव सद्दृष्टिके होता है और वह बाह्याभ्यन्तर जल्पका परित्यागकर एक चैतन्य विज्ञान घन आत्माका साक्षात्कार करता है। उस स्वसंवेदन प्रत्यक्षका स्वरूप तत्त्वानुशासनके निम्न पद्यमें बतलाया गया है:---

वेद्यत्वं वेदकत्वं च यत्स्वस्य स्वेन योगिनः।
तत्स्वसंवेदनं प्राहुरात्मनोऽनुभवं दृशम् ॥१६१॥

योगीजनोंका अपने द्वारा ही अपनेका ज्ञेयपना और ज्ञातापना है, उसीका नाम स्व-संवेदन है---योगीजन अन्तर्बाह्य

जल्पों अथवा संकल्प-विकल्पोंका परित्याग कर आत्मस्वरूपका अपने द्वारा अपनेमें ही जो अनुभवन या वेदन करते हैं वह स्व-संवेदन है, उसीको स्वानुभव प्रत्यक्ष भी कहते हैं।

कुछ लोगोंका यह भी सिद्धान्त है कि आत्मा आकाशकी तरह व्यापक है जिस तरह आकाश सर्वत्र विद्यमान है उसी प्रकार आत्मा भी सर्वत्र मौजूद रहता है उसका कहीं भी अभाव नहीं कहा जा सकता। और किन्हीं लोगोंका यह भी कहना है कि आत्मा वट वृक्षके बीजकी तरह अत्यन्त छोटा है जिस तरह बट-का बीज बहुत छोटा होता है उसी प्रकार आत्मा भी बहुत छोटा पदार्थ है। उनके उक्त सिद्धान्तके परिहारार्थ आचार्यने 'तनुमात्र' विशेषण दिया है, जिससे स्पष्ट है कि आत्मा कर्मोदयसे प्राप्त अपने छोटे बड़े शरीर के प्रमाण है। आत्मा न आकाशकी तरह सर्वत्र व्यापक ही है और न वटके बीजकी तरह छोटा पदार्थ ही है किन्तु वह अपने शरीरके बराबर है। जीव कर्मोदयानुसार जब जैसा छोटा या बड़ा शरीर धारण करता है उसीके अनुसार उस-के आत्म-प्रदेश भी हीनाधिक हो जाते हैं। यदि वह हाथीका शरीर धारण करता है तो उसके आत्म-प्रदेश भी उस शरीरके प्रमाण विस्तृत हो जाते हैं और यदि वह छोटी चींटीका शरीर धारण करता है तो उसके आत्मप्रदेश उसी शरीर प्रमाण संकुचित भी हो जाते हैं।

चार्वाक् लोगोंका यह सिद्धांत है कि जिस तरह महुआ और

कोदों आदि मादक पदार्थोंके सम्बन्धसे मादकशक्ति पैदा हो जाती है और जो मनुष्य उन्मादक पदार्थोंसे बनी हुई उस शराब को पीता है वह उन्मत्त (पागल) हो जाता है उसी तरह पृथ्वी और जल आदि पंचभूतोंके संयोगसे एक शक्ति उत्पन्न हो जाती है और वही शक्ति आत्मा है। उससे भिन्न कोई आत्मपदार्थ नहीं है और उस शक्तिरूप आत्माकी सत्ता गर्भसे लेकर मरण पर्यन्त ही है। मरण होनेपर वह शक्तिरूप आत्मा भी नष्ट हो जाता है। उसके इस सिद्धान्तका परिहार करनेके लिये आचार्यने 'नित्यः' पदका प्रयोग किया है जिसका अर्थ यह है कि आत्मा द्रव्यरूपसे नित्य है। यद्यपि पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे आत्मा प्रतिक्षण विनाशीक है परन्तु द्रव्यर्थार्थिक नयकी अपेक्षा वह अविनाशी है-विनाशरहित है। वह द्रव्यत्वरूपसे सदा विद्यमान रहता है-आत्मत्वरूपसे उसका कभी विनाश नहीं होता। अतएव पृथ्वी जल आदि पंचभूतोंके संयोगसे उत्पन्नशक्तिरूप आत्मा नहीं बन सकता।

सांख्य और योग लोग 'सुखको आत्माका धर्म नहीं मानते, वह उसे जड़स्वरूप प्रकृतिका धर्म मानते हैं। इस कारण जब तक आत्मा की मुक्ति नहीं होती तब तक उसमें प्रकृतिके सम्बन्धसे सुखका भान होता रहता है। और मोक्ष हो जाने पर फिर उस सुखकी सत्ता आत्मामें नहीं रहती, ऐसा उनका सिद्धान्त है। उनकी इस मान्यताका निरसन करनेके लिए आचार्य महोदयने 'अत्यन्त सौख्यवान्' इस पदका प्रयोग किया है। जिससे स्प

है कि सुख गुण प्रकृति आदि जड़पदार्थोंका स्वरूप अथवा धर्म नहीं है वह आत्माका स्वरूप है । यद्यपि कर्म संबंध होनेके कारण संसार अवस्थामें आत्माके उस सुख गुणका पूर्ण विकास नहीं हो पाता; किन्तु जब आत्मा कर्मजालसे छूट जाता है—स्वात्मोपलब्धिको पा लेता है—तब उस गुणका पूर्ण विकास होजाता है।

साँख्य लोगोंका यह भी कहना है कि—'ज्ञानशून्यं चैतन्यमात्रमात्मा' आत्मा ज्ञानरहित चैतन्यमात्र है। और 'बुद्ध्यादि गुणोज्झितः पुमान्' बुद्धि सुख, दुख, इच्छा आदि नव गुणोंसे रहित पुरुष आत्मा है ऐसा योग लोगोंका सिद्धांत है। और नैरात्मवादि बौद्ध लोग आत्मा नामका कोई पदार्थ ही नहीं मानते—वह उसका सर्वथा अभाव बतलाते हैं। इन सब सिद्धांतोंका निराकरण करनेके लिए ग्रन्थकारने 'लोकालोक विलोकिनः' पदका प्रयोग किया है। जिसका स्पष्ट आशय यह कि आत्मा लोक अलोकका ज्ञाता दृष्टा है। यह लोक जीवादि षट्द्रव्योंसे भरा हुआ है और अलोकाकाशसे व्याप्त है। आत्मा इन सबका जानने देखने वाला है। यदि आत्माको ज्ञान शून्य माना जाय तो वह लोक आलोकका ज्ञाता दृष्टा कैसे हो सकता है? अतः ज्ञानरहित केवल चैतन्यमात्र आत्मा नहीं है। और जो लोग आत्माको ज्ञानस्वरूप नहीं मानते उसे बुद्ध्यादि गुणोंसे रहित बतलाते हैं वह भी ठीक नहीं है; क्योंकि आत्माको ज्ञानस्वरूप न माननेसे वह लोक अलोकका ज्ञाता दृष्टा भी नहीं बन सकता।

ज्ञान रहित माननेसे वह जड़वत् हो जायगा। तथा नैरात्म्यवादी बौद्धोंका आत्माका सर्वथा अभाव बतलाना भी ठीक नहीं है; क्योंकि आत्माके अभावमें लोक-अलोकके ज्ञाता दृष्टापनेका सिद्धांत भी नहीं बन सकता। अतः आत्माका सर्वथा अभाव बतलाना अयुक्त है। अस्तु आत्माको ज्ञाता, दृष्टा स्वदेहप्रमाण आदि विशेषणोंसे विशिष्ट मानना ही श्रेयस्कर है।

शिष्य पुनः पूछता है कि हे भगवन्! यदि आत्माका अस्तित्व प्रमाणसिद्ध है तो फिर उसकी उपासना कैसे करनी चाहिये। इस शंकाका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं:-

संयम्यकरणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः।
आत्मानमात्मवान्ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितम् ॥२२॥

अर्थ---आत्माको चाहिए कि वह इन्द्रियोंको विषयोंसे रोककर एकाग्रचित्तसे अपने ही द्वारा अपनेमें स्थित होकर अपने स्वरूपका ध्यान करें।

भावार्थ---आत्माके जाननेमें अन्य किसी कारणकी आवश्यकता नहीं होती। आत्मा ही शम, दम, समाधि और चित्तकी एकाग्रतासे—अपने स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे—उसका साक्षात् अनुभव करता है। तत्त्वानुशासनमें भी कहा है:—

"स्वपरज्ञप्तिरूपत्वात् न तस्य करणांतरम्।
ततश्चिंतां परित्यज्य स्वसंवित्त्यैव वेद्यताम् ॥१६२॥"

चूंकि आत्मा स्व-पर प्रकाशक है अतः उसके लिए अन्य

कारणान्तरोंकी आवश्यकता नहीं होती। जिस तरह दीपक स्व-पर-प्रकाशक है उसे अपने स्वरूपके प्रकाशनके लिये अन्य दीपक की आवश्यकता नहीं पड़ती। उसी तरह स्व-पर प्रकाशी आत्मा के लिए भी अपना भान करनेके लिए अन्य पदार्थकी आवश्यकता नहीं पड़ती अतएव आत्मज्ञानके लिए अन्य पदार्थकी चिन्ता को छोड़कर अपने ही स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे उसका ज्ञान अथवा अनुभव करना चाहिए। परन्तु स्वानुभवप्रत्यक्षसे आत्माका परिज्ञान उसी समय होगा जब श्रुतज्ञानके अवलम्बनसे द्रव्य और पर्यायमेंसे किसी एकका आश्रय करनेसे मनकी चंचलता मिटेगी, वह एकाग्र होगा। और चित्तकी एकाग्रता होनेसे इन्द्रियोंका भी दमन हो जायगा। कारण कि यदि मन अस्थिर रहेगा—उसकी एकाग्रता न होगी—तो इन्द्रियां अपने अपने विषयकी ओर द्रुतगति से प्रवृत्त होंगी, तब मनकी विक्षिप्तता होनेसे स्वानुभवको अवसर ही प्राप्त न हो सकेगा। अतः आत्मानुभवके लिए श्रुतज्ञानका आश्रय लेना अत्यन्त आवश्यक है। कहा भी है:—

'गहियं तं सुयणाणा पच्छा संवेयणेण भाविज्जा।
जो णहु सुय अवलंबइ सो मुज्झइ अप्प-सब्भावं ॥१॥'

'पहले—श्रुतज्ञानके अवलम्बनसे आत्माको जानकर पीछे स्व संवेदन प्रत्यक्षसे उसका अनुभव करना चाहिये। जो पुरुष-श्रुतज्ञानका आश्रय नहीं करता वह आत्मस्वभावको भी नहीं जान सकता—आत्मस्वरूपको पहिचाननेकी उसमें क्षमता नहीं हो

सकती ।' समाधितंत्रमें और भी कहा है :—

'प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं मां मयैव मयि स्थितं ।
बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानंद निर्वृतं ॥३२॥'

'पंचेन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त हो जाने पर परम आनन्द-की अनुपम छटासे परिपूर्ण सम्यग्ज्ञान स्वरूप मुझको मैं ही अपनेमें अपने द्वारा प्राप्त हुआ हूँ । अतएव ऊपर जो यह कहा गया था कि आत्माकी उपासना कैसे होती है ? यह ऊपरके स्पष्ट विवेचनसे स्वतः सिद्ध हो जाता है । मनकी चंचलता रुककर जब वह स्थिर हो जाता है और इन इन्द्रियोंकी विषयोंमें प्रवृत्ति नहीं होती; शम, दम और समाधिसे बाह्य व्यापारसे उन्मुक्त होकर स्व-स्वरूपमें निमग्न हो जाता है । तब स्वानुभव प्रत्यक्षसे आत्माकी उपासना होती है ॥२२॥'

शिष्य पुनः पूछता है कि हे भगवन् ! आत्माकी उपासना क्या है, और उससे किस प्रकार प्रयोजनकी सिद्धि होगी ? क्योंकि विद्वानोंकी प्रवृत्ति बिना किसी प्रयोजनके नहीं होती, इस शंकाका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं :—

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः ।
ददाति य त्तुयस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वचः ॥२३॥

अर्थ—अज्ञानकी उपासनासे अज्ञानकी प्राप्ति होती है और ज्ञानीकी उपासना करनेसे ज्ञानकी प्राप्ति होती है; क्योंकि

संसार में यह बात प्रसिद्ध है कि जिसके पास जो चीज होती है वह उसको देता है ॥२३॥

भावार्थ---संसारमें यह बात प्रसिद्ध है, कि जिसके पास जो वस्तु होती है वह उसको दूसरेको दे सकता है। धनीकी सेवासे धन और विद्वानकी सेवासे विद्या प्राप्त होती है। और अज्ञानस्वरूप देहादि परपदार्थ तथा अज्ञानी गुरुओंकी उपासनासे अज्ञानकी प्राप्ति होती है। और ज्ञानस्वरूप आत्माकी उपासनासे सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति होती है। अतएव जो पुरुष अपना कल्याण करना चाहते हैं उनका कर्तव्य है कि जिनमें स्व-परका विवेक जाग्रत है, तथा जो सांसारिक प्रलोभनोंसे दूर रहते हैं ज्ञान-ध्यान और तपमें सावधान हैं, वस्तु स्थितिके ज्ञायक हैं, परपदार्थोंकी विषम परणतिसे जिनका राग-द्वेष नष्ट हो गया है, जो सबको समानदृष्टिसे देखते हैं। ऐसे विवेकी परम तपस्वी ज्ञानी आत्माकी उपासना, पूजा अथवा उनके अनुकूल प्रवृत्ति करनेसे ज्ञानकी प्राप्ति होती है। कहा भी है:—

'ज्ञानमेव फलं ज्ञाने ननु श्लाघ्यमनश्वरं ।
अहो मोहस्य माहात्म्यमन्यदप्यत्र मृग्यते ॥'

'ज्ञानकी उपासनासे श्लाघनीय अविनाशी सम्यग्ज्ञान रूपफलकी प्राप्ति होती है। यद्यपि ज्ञान प्राप्तिके लिये ज्ञानीकी उपासना की जाती है परन्तु उस उपासनामें मोहकी पुट रहती है यदि उसमें मोहका अंश न रहे तो फिर उपासनामें प्रवृत्ति ही

नहीं हो सकती। ज्ञानीके आत्मगुणोंमें जो अनुराग है वही उसकी उपासना, पूजा अथवा भक्तिमें कारण है, परन्तु ऐसा मोह प्रायः समादरणीय माना गया है। यद्यपि धनादि परद्रव्यकी उपासना में भी मोह कारण है; किन्तु वह मोह जहाँ संसारका कारण है वहाँ ज्ञानकी उपासनाका मोह मुमुक्षुके लिये कर्मबन्धनसे उन्मुक्त होने अथवा छूटनेमें कारण है। इसीलिए उसे प्रशस्त एवं उपादेय कहा गया है और धनादि परद्रव्योंकी प्राप्तिकी वाँछारूप स्नेह अप्रशस्त बतलाया है अतएव वह हेय है। यद्यपि ज्ञानी—स्व-पर-विवेकी अन्तरात्मा—निर्वांछक है—सांसारिक भोगादिकसे उदासीन है—उनमें उसका थोड़ा भी रागभाव नहीं है। फिर भी सम्यग्ज्ञान प्राप्तिकी अभिलाषारूप जो भी किंचित् रागांश विद्यमान है, उसे भी वह उपादेय नहीं मानता है। यह ठीक है कि वह चारित्रमोहवश उसका परित्याग करनेमें उस समय सर्वथा असमर्थ है, फिर भी वह अपने स्वरस साधनमें सदा जागरुक रहता है अतः आत्महितेच्छुको चाहिए कि वह स्व-पर विवेकी आत्माकी अवश्य उपासना करे। शुद्धात्माकी उपासनासे आत्मा अपनी स्वात्मस्थितिको—निजानन्दरूप आत्मस्वभावको—पा लेता है जो उसका अन्तिम लक्ष्य है ॥२३॥

शिष्य पुनः पूछता है कि हे मुने! जो ज्ञानी निष्पन्न योगी आत्मस्वरूपमें लीन है उसे आत्मध्यानसे क्या फल होता है? इस शंकाका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं :—

परिषहाद्यविज्ञानादास्रवस्य निरोधिनी ।
जायते ऽध्यात्मयोगेन कर्मणामाशु निर्जरा ॥२४॥

अर्थ—अध्यात्मयोगमें लीन हो जाने पर ज्ञानियोंको परीषहादि कष्टों—मनुष्य तिर्यंच देव तथा असुरादि कृत घोर उपसर्गो अथवा कर्मोदय जन्य विविध व्याधियों, रोगों और कष्टों—आदिका कोई स्मरण नहीं रहता, क्योंकि स्वरूपमें निमग्न अध्यात्म योगीके समस्त कर्मोंके आस्रवका निरोध करने वाली निर्जरा शीघ्र हो जाती है ।

भावार्थ—जब तब तक इस मनुष्यका चित्त आत्मस्वरूपके चिंतनमें निमग्न अथवा लीन नहीं होता—वह स्त्री पुत्रादि बाह्य पदार्थोंके व्यामोहमें संलग्न रहता है—तब तक ही उसे भूख-प्यास सर्दी-गर्मी, दुःख-शोक, तापन-ताड़नरूप उपसर्ग और परीषहादिक घोर कष्टोंका सामना करना पड़ता है अथवा उनकी स्मृति और अनुभव असहाय वेदना उत्पन्न कर देता है । भूख प्यासकी तीव्र वेदनासे वह कभी कभी अधीर हो उठता है विकल और विह्वल हो जाता है । कहा भी है 'क्षुधा समा नास्ति शरीरवेदना' भूखके बराबर अन्य कोई वेदना नहीं होती—तब उससे सदा शुभ अशुभ कर्मोंका सञ्चय होता रहता है किन्तु यह आत्मा जब बाह्य पदार्थोंकी वासना एवं तज्जनित रागसे उदासीन एवं विरागी हो जाता है और अपने चिदानन्द विज्ञानघन स्वरूपमें लीन हो जाता है उस समय उसे भूख प्यासादि परीषहों और

उपसर्गों आदिसे जन्य व्याधियोंकी वेदनाका कोई अनुभव नहीं होता। उस समय तो वह स्वरूपमें निमग्न अथवा स्थित होने के कारण आत्मोत्थ निर्मल आनन्दकी अपूर्व सरस एवं मधुर धाराका पान करते हुए राग-द्वेषादि बाह्य विकारोंसे अत्यन्त दूर रहता है। उस समय वह योगी आत्मध्यानकी एकाग्रता एवं चित्तवृत्तिके निरोधसे कर्मोंकी अनंतगुणी निर्जरा एवं क्षयके साथ स्व-स्वरूपकी प्राप्ति कर लेता है। कहा भी है:-

"यस्य पुण्यं च पापं च निष्फलं गलति स्वयं।
स योगी तस्य निर्वाणं न तस्य पुनरास्रवः ॥"

'जिस पवित्रात्मा अध्यात्मयोगी तपस्वीके पुण्य और पाप बिना फल दिये ही गल जाते हैं– आत्म-समाधिकी निर्मलज्वाला में भस्म हो जाते हैं—तब उस योगीको शीघ्र ही स्व-स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है - वह निरंजन परमात्मा बन जाता है और फिर उसके शुभा-शुभ कर्मोंका आस्रव नहीं होता—उसे संसारमें पुनः भ्रमण नहीं करना पड़ता।' तत्त्वानुशासनमें और भी कहा है-

"तथा ह्यचरमांगस्य ध्यानमभ्यस्यतः सदा।
निर्जरा संवरश्चास्य सकलाशुभकर्म्मणाम् ॥२२५॥"

'जो योगी चरमशरीरी नहीं हैं—तद्भव मोक्षके कारणभूत वज्रवृषभनाराच संहननसे भिन्न अन्य संहनका धारक है– ध्यानका सदा अभ्यास करता है—आत्म चिन्तनमें उपयोग लगाता है– उस योगीके सभी अशुभकर्मों की निर्जरा—और संवर होता है।

समाधितन्त्रमें और भी कहा है–

"आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताह्लादनिर्वृतः।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खिद्यते ॥"

'आत्मा और शरीरके भेद-विज्ञानसे समुत्पन्न आल्हादरूप आत्मानन्दका जिसने अनुभव कर लिया है ऐसा योगी अनेक दुःखोंको भोगता हुआ भी तपसे खिन्न नहीं होता–उपसर्ग परीषहादिके आजाने पर उनके भयसे तपका परित्याग नहीं करता, किन्तु वह तपश्चरण करनेमें और भी दृढ़ तथा सावधान हो जाता है। उस समय उसका उपयोग केवल आत्म तत्त्व पर ही रहता है बाह्य पदार्थों पर दृष्टि नहीं होती। वह सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र पूर्वक आत्मस्वरूपका चिन्तन करता है। उस समय उसकी आत्मा ध्येय और ध्यानके सिवाय अन्य सब पदार्थोंके संकल्प विकल्पोंसे शून्य होती है–बाह्य पदार्थोंका उसकी आत्मासे कोई सम्बन्ध भी नहीं रहता। परीषहादिक कर्मोदयके विकार हैं। इनके समुपस्थित होने पर इनकी पीड़ा उसके चित्तकी दृढ़ताको आत्मानन्दसे हटानेमें समर्थ नहीं होती––परीषहादि उपसर्ग अपना फल देकर अथवा बिना किसी फल दिये ही दूर हो जाते हैं। वह योगी तो आत्मस्थ ही रहता है। उस आत्मस्थ योगीके ध्यानकी निश्चलतासे जो अग्नि उत्पन्न होती है उससे घाति चतुष्टयरूप कर्म–आत्मगुणोंके आच्छादक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय रूप चार कर्म–भस्म हो जाते हैं और योगी आवरण

छूटते ही पूर्ण ज्ञानी बन जाता है वह उस समय त्रयोदश गुण-स्थानवर्ती सयोगी जिन कहलाता है। तथा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्तवीर्यरूप चार आत्मगुणोंसे सुशोभित होता है। और निराकुल अनुपम अनंत सुखका अनुभव करता हुआ अ इ उ ऋ लृ इन पांच ह्रस्वाक्षरोंके उच्चारण करनेमें जितना समय लगता है उतने समय चतुर्दश गुणस्थानवर्ती अयोगी जिन रह कर सदाके लिये आत्मोत्थ सुखका भोक्ता हो जाता है। परमागममें कहा भी है :—

"सीलेसिं संपत्तो णिरुद्ध णिस्सेस आसवो जीवो।
कम्म-रय-विप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि* ॥"

'जिस समय यह आत्मा शैलेशी हो जाता है—अठारह हजार शीलके भेदोंके स्वामीपनेको प्राप्त कर लेता है अथवा मेरूके समान निष्कंप एवं निश्चल अवस्थाको पा लेता है। उस समय उसके सम्पूर्ण शुभाशुभ-कर्मोंके आस्रवका निरोध हो जाता है, जो नूतन बंधनेवाली कर्म-रजसे रहित है और जो मन वचन कायरूप योगसे रहित होता हुआ दिव्य केवलज्ञानसे विभूषित है वह अयोगकेवली परमात्मा कहलाता है ॥२४॥'

अब ग्रन्थकार ध्यान और ध्येय अवस्थामें आत्माके संयोगादि रूप सम्बन्धका अभाव बतलाते हुए कहते हैं :-

---

* धवला १, १, २२, पंचसंग्रह १-५६, गो.जो. ६५।

कटस्य कर्त्ताहमिति सम्बंधः स्याद् द्वयोर्द्वयोः ।
ध्यानं ध्येयं यदात्मैव सम्बंधः कीदृशस्तदा ॥२५॥

अर्थ—चटाई और चटाईका बनाने वाला यह दोनों ही आपसमें भिन्न-भिन्न हैं अतएव इन दोनोंका आपसमें संयोग आदि सम्बन्ध बन सकता है। और उस सम्बन्धके अभाव होने पर फिर वे अलग-अलग हो जाते हैं; परन्तु जब ध्यान और ध्येय स्वरूप केवल एक आत्मा ही है आत्मासे भिन्न ध्यानादि कोई पदार्थ नहीं है, तब उनका संयोगादि सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? क्योंकि संयोगादि सम्बन्ध भिन्न भिन्न दो वस्तुओंमें होता है। ध्यान और ध्येयरूप अवस्था आत्मासे अभिन्न है उसका परद्रव्यसे कोई सम्बन्ध ही नहीं है तब उसका संयोगादि सम्बन्ध बन सकना कैसे सम्भव हो सकता है ?

भावार्थ—'ध्यायते येन तद्ध्यानं, यो ध्यायति स एव वा' इस निरुक्तिमें जिसका ध्यान किया जाता है वह पदार्थ और जो ध्यान करता है वह पदार्थ दोनों एक ही हैं। जिस समय इस आत्माका ध्यान अवस्थामें परमात्मरूप स्वकीय स्वरूपके साथ एकीकरण हो जाता है तब ध्यान और ध्येयमें अभेद या अभिन्नता रहती है उस समय चैतन्यरूप आत्मपिण्डके सिवाय अन्य किसी पर द्रव्यका अभाव होनेसे संयोगादिरूप कोई सम्बन्ध नहीं बनता। किन्तु उस अवस्थामें कर्म आदिका जो भी संयोग सम्बन्ध रहता है वह भी नष्ट हो जाता है। इसलिए जब यह

बात सुनिश्चित है कि ध्यान और ध्येय अवस्थामें अन्य कोई संयोगादिरूप सम्बन्ध नहीं बन सकता, तब उस ध्यानावस्थामें योगीको परीषहादि परद्रव्यके विकार खेद या कष्टोत्पादक नहीं हो सकते; क्योंकि पर-द्रव्योंके विकार उसी समय तक खेद-जनक होते हैं जब तक उनमें आत्म-कल्पना रूप रागका सद्भाव पाया जाता है । और जब खेदादिक कल्पनाका कारण राग भावका अभाव हो जाता है तब योगी अपने स्वरूपमें ही अवस्थित रहता है ॥२५॥

यहाँ शिष्य पूछता है कि हे भगवन्! यदि आत्मा और द्रव्यकर्मका वियोग अथवा भेद आत्मध्यानसे होता है तब कर्मका परस्पर प्रदेशानुप्रवेशलक्षणरूप बन्ध अथवा संयोग कैसे होता है? क्योंकि बंध पूर्वक ही मोक्ष होता है । अतः सर्व कर्मसे रहित अवस्था रूप मोक्ष भी बंधके वियोग अथवा अभाव पूर्वक ही होता है और मोक्ष ही सदा सुखका कारण होनेसे योगी-जनोंके द्वारा अभिवांछनीय है । तब संयोग और भेदका क्या कारण है? इस शंकाका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं:-

बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात्* ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥२६॥

अर्थ--जीव ममत्वपरिणामसे--स्त्री, पुत्र, मित्र, धन,

---

* परदव्वरओ बज्झदि विरओ मुच्चेइ विविह-कम्मेहिं ।
एसो जिणउवदेसो समासदो बन्ध-मुक्खस्स ॥१३॥ मो०पा०

धान्यादि परद्रव्योंमें ये मेरे हैं और मैं इनका हूँ इस प्रकार विचाररूप ममकार परिणामसे—कर्मसे बंधता है। और ममताके अभावसे क्रमसे बंधनसे छूटता है। अतएव विद्वानोंका कर्तव्य है कि वे जिस तरह बनें उस तरहसे केवल निर्ममत्वपनेका ही चिन्तवन करें।

भावार्थ—स्त्री, पुत्र, धन, धान्य, रुपया, पैसा, राज्य-विभूति, गाय, भैंस, मोटर, घोड़ा, गाड़ी आदि पर पदार्थ मेरे हैं और मैं इनका हूँ इस प्रकारके मोहरूप अध्यवसानभावसे मूढ इस जीवके जब परिणाम ममकार और अहंकाररूप विभाव परिणामोंसे परिणित हो जाते हैं तब कषाय और राग-द्वेष रूप परिणतिसे शुभाशुभ-कर्मोंका बन्ध होने लगता है। इसी बातको स्पष्ट करते हुए आचार्य अमतचन्द्र 'नाटक समयसार' में कहते हैं—

"न कर्मबहुलं जगन्नचलनात्मकं कर्म वा।
न चापि करणानि वा न चिदचिद्वधोबंधकृत्।
यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः।
स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्नृणाम्॥"

'जीवके जो शुभाशुभकर्मोंका बन्ध होता है उसमें कार्माण जातिकी वर्गणाओंसे भरा हुआ यह लोक कारण नहीं है और न चलन स्वरूप कर्म कारण है, न अनेक इन्द्रियाँ कारण हैं और न चेतन अचेतन पदार्थोंका बन्ध कारण हैं; परन्तु जिस समय जीवका उपयोग राग-द्वेषादिके साथ एकीभावको प्राप्त हो जाता है—

पदार्थोंमें इष्ट अनिष्ट-कल्पनारूप रागद्वेषकी सत्ता आत्मामें अपना स्थान जमा लेती है और उपयोग विभाव-भावोंसे विकृत एवं तन्मय हो जाता है, उस समय राग-द्वेष परिणामरूप यह अध्यवसानभाव ही बन्धका कारण है।'

यह पदार्थ मेरा है और यह दूसरेका है, इसका मैं स्वामी हूँ और इसका स्वामी मैं नहीं हूँ जिस समय इस प्रकार के रागद्वेष रूप परिणाम हो जाते हैं उस समय आत्मा शुभ-अशुभरूप कर्मों से बँधता रहता है। किन्तु जिस समय आत्माका स्त्री पुत्रादि परपदार्थों में यह पदार्थ मेरे हैं और मैं इनका स्वामी हूँ यह कल्पना नहीं होती। इस तरहके निर्मम परिणामकी किरणें जब हृदयमें उद्दीपित हो जाती हैं उस समय आत्मामें शुभा-शुभ-कर्मों-का बंध नहीं होता। यही आशय समाधितन्त्रग्रन्थके निम्न पद्यमें व्यक्त किया गया है--

'अकिंचनोहऽ मित्यात्र त्रैलोक्याधिपतिर्भवे, ।
योगिगम्यं तव प्रोक्त रहस्यं परमात्मनः ॥'

जिस समय आत्मामें यह भावना निश्चल एवं स्थिर हो जाती है कि मैं अकिंचन हूँ --स्त्री, पुत्र, धन, धान्यादि पदार्थ जो संसारमें दिखाई दे रहे हैं—वे मेरे नहीं हैं और न मैं उनका हूँ। किंतु एक चैतन्यमात्र टंकोत्कीर्ण ज्ञायकरूप हूँ। उस समय आत्मा तीन लोकका अधिपति हो जाता है, परन्तु इस प्रकार परमात्मपनेका अथवा परम-पदप्राप्तिका यह रहस्य योगियोंके

द्वारा ही गम्य है क्योंकि अकिंचनरूप निर्मलभावनाके बिना योगी उस पदको पानेमें समर्थ नहीं है । और भी कहा है--

'रागी बध्नाति कर्माणि वीतरागी विमुञ्चति ।
जीवो जिनोपदेशोऽयं संक्षेपाद्बन्धमोक्षयोः' ।।

जो पुरुष रागी है---चैतन्यमात्र आत्मासे भिन्न परपदार्थोंमें आत्मत्वकी कल्पना करता हुआ उनके शुभाशुभ परिणमनमें रागी द्वेषी होता है । वह कर्मोंसे बंधता है । परन्तु जो वीतरागी है--परको पर और निजको निज मानकर उनके अच्छे बुरे परिणमन से रागी-द्वेषी नहीं होता और न उनमें दुःख सुखकी कल्पना ही करता है किन्तु उन में आत्म-कल्पना करना दुःखका मूल कारण समझता है और उनकी विरुद्ध परिणतिसे असन्तुष्ट नहीं होता—समभावी रहता है, वही कर्मोंसे नहीं बंधता किन्तु परमात्मा बन जाता है । यह संक्षेपमें बन्ध-मोक्षका वर्णन जिनेन्द्र भगवानके उपदेशानुसार है ।

इस प्रकारके अनुपम आनन्दको प्रदान करने वाली निर्भयत्व भावनाके चिन्तवनका उपाय क्या है ? इसे प्रकट करते हुए आचार्य कहते हैं--

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः * ।
बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ॥२७॥

---

* एगो मे सस्सदो आदा णाण-दंसणलक्खणों ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संयोगलक्खणा ॥

अर्थ—मैं एक निर्मम (ममता रहित) हूँ—यह परद्रव्य मेरा है और मैं इसका स्वामी हूँ इस मिथ्या अभिप्रायसे रहित हूँ—शुद्ध हूँ—शुद्धनयकी अपेक्षासे द्रव्य और भावकर्मसे रहित हूँ—ज्ञानी हूँ—स्व-परके भेद-विज्ञानरूप विवेक ज्योतिसे प्रकाशमान हूँ—ज्ञानी योगीन्द्रोंके ज्ञानका विषय हूँ—अनन्त पर्यायोंको युगपत् विषय करने वाले पूर्ण ज्ञानी केवली और श्रुतकेवलीके शुद्धोपयोगरूप ज्ञानका विषय है। इनके सिवाय, संयोगलक्षणवाले स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, धान्य, दासी, दास शरीर और अन्य वैभवादिक बाह्य पदार्थ मेरी आत्मासे सर्वथा भिन्न हैं—वे तीन कालमें भी मेरे नहीं हो सकते।

भावार्थ—यद्यपि पर्यायार्थिकनयकी दृष्टिसे आत्मा अनेक रूप हैं, क्योंकि कर्मोदयसे जीवको अनेक पर्यायोंमें जन्म मरण करना पड़ता है। परन्तु द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे मैं अकेला हूँ, निर्मल हूँ—पर-पदार्थोंके स्वामित्वसे रहित हूँ—और शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे द्रव्य और भावकर्मरूप बंधनोंसे सर्वथा भिन्न होनेसे शुद्ध हूँ। और स्व-पर-प्रकाशकरूप ज्ञानका धारक ज्ञानी हूँ। पूर्ण ज्ञानियों और श्रुतकेवलियोंके ज्ञानका विषय हूँ—उनके द्वारा जाना जाता हूँ। अनादि कालसे कर्मके बंधसे होनेवाले शरीरादि पर पदार्थ मेरे चैतन्यस्वरूपसे सर्वथा भिन्न हैं, कर्मो-दयके विकार हैं। और मैं शुद्ध चैतन्यका धारक ज्ञानानन्द हूँ, अखंड हूँ, कर्मादि उपाधियोंसे रहित मेरा शुद्ध स्वरूप ही मेरे

द्वारा उपादेय है। तथा संयोग लक्षण वाले वे जड़ पदार्थ जब मेरेसे भिन्न हैं—वर्णादि विकारको लिए हुए हैं, तब मेरे कैसे हो सकते हैं? उनसे मेरा कोई भी सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकारकी विमल भावनासे ही निर्ममत्वकी प्राप्ति होती है।

शरीरादिके सम्बन्धसे जीवको क्या दुख भोगने पड़ते हैं? इस शंकाका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं :—

दुखःसन्दोहभागित्वं संयोगादिह देहिनां।
त्यजाम्येनं ततः सर्वं मनोवाक्कायकर्मभिः ॥२८॥

अर्थ—जीवोंको इस संसारमें शरीरादिकके संयोग सम्बन्धसे जन्म, मरण, शारीरिक और मानसिक आदि अनेक कष्ट सहना पड़ता है। इस कारण मैं उन सभी संयोग सम्बन्धोंका मन वचन और काय रूप कर्मसे परित्याग करता हूँ—छोड़ता हूँ।

भावार्थ—आत्मा और शरीरके भेदविज्ञानसे सुखकी प्राप्ति होती है। और इनकी अभेद भावनासे—शरीरादिक परपदार्थोंमें आत्मकल्पना करनेसे—शारीरिक, मानसिक और क्षेत्रादि जन्य अनेक कष्ट भोगना पड़ता है, क्योंकि मन वचन और कायरूप योगोंकी चंचलतासे और मनोवर्गणाके अवलम्बनसे आत्माके प्रदेश सकंप (चंचल) होते हैं, और उनसे राग-द्वेषादिरूप विभाव परिणामोंकी सृष्टि होनेसे आत्माका परिणमन मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद व कषायादि विभाव परिणाम रूप होता है

जिससे कर्म-पुद्गलोंका आत्म-प्रदेशोंके साथ संश्लेष परिणामात्मक बंध होता है और फिर उससे सुख दुःखादि इष्ट-अनिष्ट फलोंकी उत्पत्ति एवं अभिवृद्धि होती है इस तरह संसारकी दुःख परम्परा बढ़ती है। अतएव मन वचन कायकी क्रियासे इन्हें अपना न मानना ही श्रेयस्कर है। कहा भी है:—

"स्वबुद्धया यत्तु गृह्णीयात् काय-वाक्चेतसां त्रयं।
संसारस्तावदेतेषां तदाभ्यासेन निवृतिः॥"

जब तक इस जीवकी मन वचन कायमें आत्मबुद्धि बनी रहती है—इन्हें अपने आत्माके ही अङ्ग अथवा अंश समझा जाता है—तब तक यह जीव संसारमें परिभ्रमण करता ही रहता है किन्तु जब उसकी यह भ्रमबुद्धि दूर हो जाती है वह शरीर और वचनादिकको आत्मासे भिन्न अनुभव करने लगता है और उस अभ्यासमें परिपक्व अथवा दृढ़ हो जाता है तभी वह संसार-बंधनसे छूटकर मुक्तिको प्राप्त होता है। अतएव शरीरादिकको कभी अपना नहीं मानना चाहिये ॥२८॥

आत्माका अनादिकालसे शरीरादि पुद्गलद्रव्योंसे संयोग सम्बन्ध बना हुआ है उसीके कारण जन्म-मरण और रागादिक अनेक दुःख एवं कष्ट उठाना पड़ते हैं। ये दुःख किस भावनासे दूर होंगे ? इस आशंकाका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं :—

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले ॥२६॥

अर्थ—जिस जीवको अपने चिदानन्द स्वरूपका निश्चय हो जाता है उस जीवके द्रव्यप्राणोंका–पांच इन्द्रिय, मन-वचन-काय-श्वासोच्छ्वास और आयुरूप दश प्राणोंका—परित्याग होने पर भी मृत्यु नहीं होती—केवल शरीरका ही विनाश होता है जीवका नहीं; क्योंकि उसके चित्शक्ति लक्षणात्मक ज्ञान-दर्शन-रूप भाव-प्राणोंका कदाचित् भी अभाव नहीं होता, अतएव मरण भी नहीं होता—और मरण न होनेसे कृष्ण सर्पादि चीजोंसे भी उसे भय मालूम नहीं होता—वह निर्भय एवं निशंक बना हुआ अपने स्वरूपका अनुभव करता रहता है। उसके वातादि दोषोंकी विषमतासे होने वाली कोई व्याधि भी नहीं होती—व्याधियाँ तो मूर्त शरीरमें ही होती हैं, अतएव ज्वरादि विकारसे होनेवाली कोई भी व्याधि सम्यक्दृष्टि जीवके नहीं होती। जब उसके कोई व्याधि नहीं होती तब उसको व्यथा अथवा वेदना कैसे हो सकती है ? इसी तरह बाल, वृद्ध और युवा आदि अवस्थाएँ भी पुद्गल (मूर्त शरीर) में होती हैं; आत्मामें नहीं होती, इस कारण इन सब अवस्थाओंमें होने वाले दुख भी उसके नहीं होते।

भावार्थ—जब आत्माको यह निश्चय हो जाता है कि तू चेतन है—ज्ञान-दर्शनादि गुणोंका अखण्ड पिण्ड है, तो इन

चैतन्यात्मक गुणोंका कभी विनाश नहीं होता। यह तेरी आत्म निधि हैं। और तेरी आत्मासे भिन्न जितने भी मूर्त पदार्थ देखने में आते हैं वे तेरे नहीं हैं और न तू उनका कभी हुआ है और न हो सकता है। वे चेतना रहित जड़ पदार्थ हैं। तेरा उनके साथ कर्मोदयके वश से केवल संयोगमात्र सम्बन्ध हुआ है जिस तरह सरायमें डेरा डालने पर उसमें स्थित अनेक देशोंसे आये हुए मनुष्यों आदिके साथ कुछ समयके लिए तेरा संयोग (मेल) हो जाता है। और प्रातः काल होते ही सब अपने अपने अभिमत देशोंको चले जाते हैं, हे भव्य! तेरा आत्मा अजर अमर है उसका कभी विनाश नहीं होता और न उसमें वातादिकी विकृतिसे कोई व्याधि ही होती है। जन्म, मरण, युवा, रोग-शोक आदि समस्त पर्यायें पुद्गलमें होती हैं। जब आत्मामें कोई वेदना ही नहीं होती और न मरण होता है; तब उसमें सुख दुखकी वेदना कैसे संभव हो सकती है? क्योंकि—'प्राणोच्छेदमुदाहरंति मरणम्' के अनुसार प्राणोंके उच्छेद या विनाशका नाम मरण है सो निश्चयसे आत्माके प्राण ज्ञानादिक हैं, वे सदा अविनाशी हैं उनका कभी विनाश न होनेसे मरण भी नहीं होता, तब कृष्णादि सर्पोंसे या अन्य भयानक हिंसक जंतुओंसे भी आत्मामें कोई भय उपस्थित नहीं होता। वह सदा अपनेको निःशंक ज्ञायक भावरूप अनुभव करता रहता है यही उस सदृष्टिका माहात्म्य है ॥२६॥

शरीर और आत्मामें जबतक अभेद बुद्धि रहती—उन्हें

एक समझा जाता है तबतक ही उनमें भय और दुःख आदिका सद्भाव रहता है और जब उन्हें अपना अहित करने वाला एवं अपनेसे भिन्न समझकर उसका परित्याग कर दिया जाता है तब वे मुझे कभी संतापादिक भी नहीं दे सकते इसी आशयका उद्-बोधन कराते हुए आचार्य कहते हैं--

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वोऽपि पुद्गलाः ।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा ॥३०॥

अर्थः--अनादिकालसे मोहनीयकर्मके आवेशवश कर्मादि भावरूप ग्रहण किये हुए सभी पुद्गल मुझ संसारी जीवके द्वारा बार-बार भोगे गये हैं और भोगकर छोड़े गये हैं । अब मैं विवेकी हूँ—शरीरादिकके स्वरूपका भले प्रकार जानकार हूँ अतएव उन उच्छिष्ट (जूंठे) भोजन, गंध, माल्यादि पदार्थ के समान अब मेरी इन पदार्थों के भोगनेमें कोई इच्छा नहीं है ।

भावार्थ—जो पुरुष अनुच्छिष्ट मोदकादि (लड्डू) सुस्वादु पदार्थोंका सेवन करने वाला है उस पुरुषकी जिस प्रकार उच्छिष्ट (जूंठे) पदार्थोंके खानेमें कभी अभिलाषा नहीं होती—वह उन च्छिष्ट पदार्थोंको घृणाकी दृष्टिसे देखता है, उसी तरह जिस मनुष्य ने शरीरादि रमणीय पदार्थोंको अनेकबार भोगकर छोड़ दिया है वह मनुष्य अपने अन्दर विवेकज्ञानके विकसित होने पर उनको उच्छिष्ट समझता है फिर उनके भोगनेमें उसकी कोई रुचि अथवा आकांक्षा नहीं होती ॥३०॥

शरीर आदि पुद्गलकर्मोंका बन्ध जीवके साथ कैसे हो जाता है ? इस शंकाका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं:--

कर्म कर्महिताबन्धि जीवो जीवहितस्पृहः ।

स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे स्वार्थं को वा न वांछति ॥३१॥

अर्थ—अपने-अपने प्रभावके बलिष्ठ होने पर कर्म तो अपने अंग स्वरूप कर्मका हित करता है और जीव-जीवका (अपना) हित करता है । यह ठीक भी है अपने अपने स्वार्थको कौन नहीं चाहता ?

भावार्थ—संसारमें यह बात प्रसिद्ध है कि जो बलवान होता है वह दूसरेको अपनी ओर खींच लेता है, अवसर पाकर कभी कर्म बलवान हो जाता है और कभी जीव बलवान हो जाता है । कहा भी है—

"कत्थवि वलिओ जीवो कत्थवि कम्माइं हुंति वलियाइं ।
जीवस्य य कम्मस्य य पुव्वविरुद्धाइं वइराइं ॥"

कभी यह जीव बलवान हो जाता है और कभी कर्म बलवान हो जाते हैं इस तरह जीव और कर्मोंका अनादि कालसे परस्पर विरुद्धरूप-वैर है,अतएव जिस समय कर्म बलवान हो जाता है उस समय वह कर्मोंका उपकार करता है - जीवके औदयिक भावोंकी उत्पत्ति कर नये नये कर्मोंकी सृष्टि करता हुआ अपने अंगस्वरूप कर्मोंका पोषण करता है । पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें आचार्य अमृतचन्द्रने कहा है—

"जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये *।
स्वयमेव परिणमंतेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥१२॥"
"परिणममानस्य चिदश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः ।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥१३॥"

जीव द्वारा किये गए राग द्वेषादि विभाव परिणामोंके निमित्तसे अन्य पुद्गल स्वयमेव कर्मरूप परिणत हो जाते हैं उसी प्रकार परिणमन शील जीवके स्वयं होने वाले जो राग द्वेष रूप परिणाम हैं, उनमें पुद्गलकर्म निमित्त पड़ जाते हैं । तथा जिस समय जीव बलवान हो जाता है उस समय वह भी कर्मोंके नाश-के साथ अनन्त सुख स्वरूप मोक्षकी इच्छा करता है वह अपना स्वार्थ (हित) करनेमें भी नहीं चूकता । ऊपरके इस सब कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्माविष्ट संसारी जीव ही कर्मोंका संचय करता है और कर्म रहित विशुद्ध जीव तो अपने ज्ञाना-नन्दरूप सुख-स्वभावमें स्थित रहता है ॥३१॥

---

* जीवपरिणाम हेदुं कम्मत्तं पुग्गलापरिणमंति ।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ।
णवि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्म तहेव जीव गुणे
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोह्णं पि ॥८१
एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण ।
पुग्गलकम्मकयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥८२॥
—समयसारे कुन्दकुन्दः

इसी बातको आचार्य महोदय और भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं :—

परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव ।
उपकुर्वन्परस्याज्ञो दृश्यमानस्य लोकवत् ॥३२॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तू लोकके समान अज्ञ अथवा मूढ़ बन कर दृश्यमान (दीखने वाले) शरीरादि पर पदार्थोंका उपकार कर रहा है, यह सब तेरा अज्ञान है । अब तू परके उपकारकी इच्छा न कर अपने ही उपकारमें लीन हो ।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई मूढ़ प्राणी अज्ञानसे शत्रुको मित्र समझकर रात दिन उसकी भलाईमें लगा रहता है, उसका हित करते हुये भी वह अपने अहित होने अथवा हानि हो जानेका कोई ध्यान नहीं रखता, प्रत्युत उसके हित साधनमें ही अपना सर्वस्व लगा देता है; परन्तु जिस समय उसे इस बातका परिज्ञान हो जाता है कि यह मित्र नहीं, किन्तु मेरा शत्रु है तभीसे वह उसका उपकार करना छोड़ देता है और फिर अपने ही हितमें सावधान हो जाता है । उसी प्रकार हे आत्मन् ! अज्ञान अवस्थामें तेरे चिदानन्द स्वभावसे सर्वथा भिन्न शरीरादि पर पदार्थोंके संयोग होने पर तू रात दिन उनके पालन पोषणमें सदा सावधान रहा है और उन्हें अपना समझते हुए उनके संरक्षणादि कार्योंमें अनेक आपदाओं (कष्टों) का भी ध्यान

नहीं करता। अब उन स्त्री-मित्रादि पर पदार्थोंमें अपनी आत्म-कल्पना छोड़ दे, कि वे तेरे नहीं हैं और न तू कभी उनका हो सकता है इस तरह विवेक ज्ञानका आश्रयकर, अपना हित साधन कर, उसीसे तेरा कल्याण होगा ॥३२॥

यहां कोई शिष्य गुरुसे पूछता है कि हे भगवन् ! स्व और परमें क्या विशेषता है ? स्व तथा परका भेदज्ञान कैसे होता है ? और भेदज्ञान करने वाले ज्ञाताको किस फलकी प्राप्ति होती है। इस शंकाका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं :—

गुरूपदेशादभ्यासात्संवित्तेः स्व-परांतरं ।
जानाति यः स जानाति मोक्ष-सौख्यं निरंतरम् ॥३३॥

अर्थ—जो कोई प्राणी आरम्भ और द्विविध परिग्रह रहित तपस्वी सुगुरुके उपदेशसे और उपदेशानुसार शास्त्राभ्यासरूप भावनासे—स्वात्मानुभवसे—स्व-परके भेदको जानता है वही पुरुष सदा मोक्ष सुखको जानता है।

भावार्थ—यह स्व है और यह पर है इस प्रकार भेद विज्ञान सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय विशिष्ट उभय परिग्रह और आरम्भ विहीन निर्ग्रन्थ दिगम्बर तपस्वी सुगुरूके उपदेश तथा शास्त्राभ्यास एवं स्व-परके लक्षणोंके परिज्ञानसे होता है, यह चैतन्य-स्वरूप मेरा है। और उससे भिन्न यह जड़ पदार्थ पर हैं वे मेरे कभी नहीं हो सकते। जब तक इस तरहका भेद विज्ञान नहीं

होता, तब तक स्व-परका भेद विज्ञान भी नहीं हो सकता, क्योंकि इस प्रकारके भेदविज्ञानमें शास्त्राभ्यास प्रधान कारण है, शास्त्राभ्याससे स्व-परके लक्षणोंकी पहिचान होती है और भेद-ज्ञान की प्राप्ति होती है। अतएव सुगुरुके वचनानुसार शास्त्राभ्याससे जिनकी अज्ञानदृष्टि मिट गई है और स्व-परका विवेक जाग्रत हो गया है वे पुरुष ही मोक्षस्वरूपके जाननेके अधिकारी हैं, क्योंकि बंध रहित निराकुल स्वात्म-अवस्थाकी प्राप्ति सद्ध्यानसे ही होती है। तत्त्वानुशासनमें कहा भी है—

"तमेवानुभवंश्चायमैकाग्र्यं परमृच्छति।
तथात्माधीनमानंदमेति वाचामगोचरम् ॥१७०॥

'उस कर्म विमुक्त आत्माके ध्यानसे परम एकाग्रताकी प्राप्ति होती है और वचन अगोचर (वचनातीत) जो कोई आत्माधीन आनन्द है वह भी उसे प्राप्त हो जाता है इसलिए मोक्ष प्राप्ति की इच्छा करने वाले पुरुषको अवश्य ही स्व-परका विवेक प्राप्त करना चाहिये ॥३३॥

अब शिष्य पुनः गुरुसे पूछता है कि हे भगवन्! मोक्ष सुखका निर्दोषरूपसे अनुभव करने वाला गुरु कौन है? इस शंकाका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं:—

स्वस्मिन्सदाभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः।
स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः ॥ ३४ ॥

अर्थ—वास्तवमें आत्माका गुरु आत्मा ही है, क्योंकि वही अपनेमें मुझे 'मोक्ष सुख मिले' इस अभिलाषासे सदा मोक्ष सुख की अभिलाषा करता है। और अपनेमें ही 'मुझे अभीष्ट मोक्ष सुखका ज्ञान करना चाहिये' इस रूपसे मोक्ष सुखका बोध करता है और वह मोक्ष सुखही परम हितकर है इस कारण वह उसकी प्राप्तिमें अपनेको लगाता है।

भावार्थ—जो आत्मा को हितकर उपदेश देता है अथवा अज्ञानभावको दूर करता है वही उसका वास्तवमें गुरू है। यद्यपि इस प्रकार आचार्य उपाध्याय आदिक भी गुरू हो सकते हैं; क्योंकि वे भी जीवोंके अज्ञानादि दोषोंको दूर करने में निमित्त हैं। इस कारण वे व्यवहारमें गुरू हैं परन्तु वे उस आत्माको उस रूप परिणमा नहीं सकते? अतएव आत्माका वास्तविक गुरू तो आत्मा ही है, क्योंकि 'मुझे मोक्षसुखकी प्राप्ति हो जाय' इस प्रकारकी प्रशस्त भावना आत्मामें ही होती है, और वही यह समझता है कि संसार में परमार्थसे मेरा अभीष्ट पदार्थ तो मोक्ष सुख ही है। इस कारण उसकी प्राप्तिका ही प्रयत्न करना चाहिये। इसीलिये वह आत्म-निन्दा, गर्हा, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना आदि कार्योंके द्वारा अपनेको सदा सावधान रखनेका प्रयत्न करता है और सावद्य-क्रियाओंसे उसे हटाकर सांसारिक विषय-सुखोंसे उसे परान्मुख करनेका बार बार प्रयत्न करता है। और कल्याणकारी आत्म-

सुखकी प्राप्तिमें अपनेको सदा लगाता है। इस कारण आत्माका गुरू आत्मा ही है। आत्मा यदि चाहे तो अपनेको संसारी बनाये रक्खे अथवा मोक्षसुखमें ले जावे। दूसरा कोई आत्म-स्वभावका कर्त्ता धर्ता नहीं है। वह स्वयं ही अपने शुभ अशुभ और शुद्ध भावोंका कर्ता है जब आत्मा शुभ-अशुभ-रूप बंधक भावोंका परित्याग कर शुद्धस्वरूपमें विचरण करने लगता है तब शीघ्र ही कर्म बंधण रूप शृंखलाको तोड़कर स्वयं कर्मोंसे उन्मुक्त हो जाता है। जिस तरह नलिनी (तोता पकड़ने के लिये बनाया गया काठका एक यंत्र विशेष) पर बैठा हुआ तोता उस नलिनीको पकड़कर यह भ्रमसे समझे हुए है कि इस नलिनीने मुझे पकड़ रक्खा है किन्तु ज्योंही उसे यह भान हो जाता है कि तुझे नलिनी ने नहीं पकड़ा है किन्तु मैं ही उसे स्वयं पकड़े हुए हूँ और अपने गति स्वभावको भूल रहा हूँ। जब चाहूँ उसे छोड़कर आकाशमें स्वेच्छासे उड़ सकता हूँ। इस विवेकके जाग्रत होते ही वह नलिनीके बंधनसे छूट कर उड़ जाता है। उसी तरह इस अज्ञ प्राणीने मोह अज्ञान और असंयमसे संसार बन्धनको बढ़ाया है। उस बंध परम्पराको बढ़ाने वाला यह आत्मा ही है और आत्म-साधनादि कठोर तपश्चरण द्वारा उससे स्वयं ही छूट सकता है अन्य कोई उसे बांधने या छुटाने वाला नहीं है, इस आत्म-विवेकके जाग्रत होते ही अपने पुरुषार्थ द्वारा सुदृढ़ कर्मबन्धनसे शीघ्र छूट कर अपनी अक्षय अनंतसुखरूप

सम्पतिका स्वामी हो जाता है और अनंतकाल तक परम अतीन्द्रिय आत्मानन्द का भोक्ता हो जाता है।

अब पुनः शिष्य पूछता है कि यदि आत्माका गुरू आत्मा ही है अन्य नहीं तब शास्त्रोंमें जो यह उपदेश है कि मुमुक्षुके लिये धर्माचार्य आदिकी सेवा करनी चाहिये तब इस सिद्धान्तकी हानि हो जायगी? इस प्रश्नका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं:-

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति ।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥ ३५ ॥

अर्थ—जो पुरुष अज्ञानी है—तत्त्वज्ञानकी उत्पत्तिके अयोग्य है, अभव्य है, वह गुरू आदि परके निमित्तसे विशेष ज्ञानी नहीं हो सकता, किन्तु जो विशेष ज्ञानी है—विवेकी है—तत्त्वज्ञान समुत्पादनकी योग्यतासे सम्पन्न है—वह अज्ञानी नहीं हो सकता। अतएव जिस तरह धर्मास्तिकाय जीव और पुद्गलोंके गमनमें उदासीन निमित्त कारण है उसी प्रकार अन्य मनुष्यके ज्ञानी अज्ञानी करनेमें गुरु आदि भी निमित्त कारण हैं।

भावार्थ—पदार्थमें जो शक्ति है उसके परिणमन स्वरूप ही कार्य निष्पन्न होता है। अन्य पदार्थ तो उसके परिणमन मात्रमें सहकारी निमित्त हो जाते हैं। प्रत्येक पदार्थकी उपादानशक्ति ही कार्य रूप परिणमन करती है। जीव और पुद्गल द्रव्यमें गमन करनेकी स्वयं शक्ति है अतएव वे जिस समय गमन करते हैं उस समय धर्म द्रव्य उनके गमनमें सहकारी निमित्त हो जाता है

परन्तु यदि उनमें स्वयं गमन शक्ति न हो तो धर्मद्रव्य सरीखे सैंकड़ों कारण भी उन्हें नहीं चला सकते । उसी प्रकार यदि आत्मामें तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेकी स्वावरणक्षयोशमरूप योग्यता नहीं है अर्थात् वह तत्त्वज्ञानके अयोग्य है, अभव्यत्वादिगुण विशिष्ट है तो सैंकड़ों धर्माचार्योंका उपदेश मिलने पर भी वह ज्ञानी नहीं हो सकता । कहा भी है:—

'स्वाभाविकं हि निष्पत्तौ क्रिया गुणमपेक्षते ।
न व्यापारशतेनापि शुकवत्पाठ्यते बकः ॥

'किसी पदार्थकी अवस्थाके पलट देनेमें उसकी स्वाभाविक क्रिया और गुणकी आवश्यकता होती है. । सैंकड़ों प्रयत्न करने पर भी बगुला, तोतेके समान नहीं पढ़ाया जा सकता ।' उसी प्रकार जब अज्ञानीमें तत्त्वज्ञानके उत्पन्न होनेकी अयोग्यता है तब ज्ञानी उपदेशकोंके उपदेश मिलने पर भी वह ज्ञानी नहीं बनाया जासकता । किन्तु जो पुरुष ज्ञानी है—तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति की योग्यताको लिये हुए है उसमें तत्वज्ञानकी योग्यताका लोप करने या रहित करनेके लिये सैंकड़ों प्रयत्न क्यों न किये जांय वह अपने तत्वज्ञानसे शून्य नहीं हो सकता । किसी कविने ठीक कहा है :—

"वज्रे पतत्यपि भयद्रुतविश्वलोके,
मुक्ताध्वनि प्रशमिनो न चलंति योगात् ।
बोध-प्रदीपहत-मोह महांधकाराः,
सम्यग्दृशः किमुत शेषपरीषहेषु ॥"

'जो योगीगण सम्यग्ज्ञानरूपी दीपकसे मोहरूपी महान् अन्धकारका विनाश करने वाले हैं; सम्यग्दृष्टि हैं और प्रशांत स्वभावी हैं वे योगीगण जिसके भयंकर शब्दसे पथिकोंने अपना मार्ग छोड़ दिया है और समस्त लोक भयसे कांप रहा है ऐसे वज्रके गिरने पर भी परम समाधिरूप योगसे चलायमान नहीं होते, किन्तु सुदृढ़ मेरुवत् स्थिर रहते हैं तो फिर वे अन्य दंश मशकादि कठोर परीषहोंसे कैसे चलायमान हो सकते हैं ? अर्थात् नहीं हो सकते ।'

ऊपरके इस सब कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञानी और अज्ञानी बननेकी सामर्थ्य अपने आत्मामें ही है। गुरू आदि तो बाह्यनिमित्त कारण हैं वे जबर्दस्ती किसीको ज्ञानी तथा अज्ञानी बनानेकी सामर्थ्य ही नहीं रखते; किन्तु यह बात सच है कि बिना निमित्त कारणके कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती, और कार्य अन्तर बाह्यरूप उभय कारणोंसे सम्पन्न होता है। इसलिये ज्ञान प्राप्तिमें निमित्तभूत गुरुओंकी सेवा शुश्रूषा करना शिष्योंका परम कर्त्तव्य है, उनके गुणोंके प्रति श्रद्धा और भक्ति रखनी आवश्यक है और अपनी आत्माको ही अपना गुरू समझते हुए अपने पुरुषार्थ और आत्मकर्त्तव्यका सदा ध्यान रखना चाहिए ।

अब शिष्य पुनः पूछता है कि हे विज्ञ ! आत्मस्वरूपके अभ्यासका उपाय क्या है ? इस प्रश्नका उत्तर प्रदान करते हुए आचार्य कहते हैं :—

अभवच्चित्तविक्षेप एकान्ते तत्त्वसंस्थितिः ।
अभ्यस्येदभियोगेन योगी तत्त्वं निजात्मनः ॥३६॥

अर्थ— जिसके चित्तमें किसी प्रकारका विक्षेप—राग-द्वेषादि विकार परिणतिरूप क्षोभ—नहीं है और जिसकी बुद्धि एकान्तमें बैठकर हेय उपादेयरूप पदार्थों के विचार में संस्थित अथवा स्थिर होती है ऐसे योगीको चाहिए कि वह आलस्य और निद्रा आदिके परित्याग पूर्वक अपने चिदानन्द स्वरूपका वार बार अभ्यास करे।

भावार्थ—चित्तकी विक्षिप्तता आकुलताकी जनक है, जब तक चित्तमें किसी प्रकारका-राग-द्वेषादि रूप क्षोभ बना रहेगा तब तक चित्तकी व्याकुलताके कारण आत्मस्वरूपका ध्यान नहीं हो सकता, इसलिए सबसे पहले योगीको अपना चित्त शांत अथवा मोह-क्षोभ रहित रखना चाहिए। चित्तकी विक्षिप्तताका निरोध एकान्त वाससे हो सकता है अतएव योगीको जन समूह वाले कोलाहल जनक स्थानोंको छोड़कर एकान्तमें ही रहनेका अभ्यास करना चाहिए। साथ ही जब तक हेय और उपादेयरूप पदार्थोंका परिज्ञान अथवा विवेक नहीं होगा तब तक आत्माके स्वरूपका अभ्यास कैसे बन सकता? अतएव स्व-परके विवेकको रखना भी आत्मस्वरूपके अभ्यासी योगीके लिए अत्यन्त आवश्यक है।

अब शिष्य पुनः पूछता है कि हे भगवन्! स्व-पर विवेकरूप संवित्ति योगीके है यह बात कैसे जानी जा सकती है? इस शंकाका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं:—

यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्वमुत्तमम् ।
तथा तथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि ॥३७॥

अर्थ - संवित्ति—स्व-पर पदार्थोंके भेदज्ञानसे जैसा जैसा आत्माका स्वरूप विकसित होता जाता है वैसे वैसे ही सहज प्राप्त रमणीय पंचेन्द्रिय विषय भी अरुचिकर प्रतीत होते जाते हैं—उनसे घृणा, अरुचि एवं उदासीनता होती जाती है।

भावार्थ—जब तक आत्मस्वरूपका यथार्थ भान नहीं होता, तब तक ही उसे पंचेन्द्रियोंके विषय प्रिय मालूम होते हैं और उनमें रति करता हुआ आत्मा अपनेको सुखी अनुभव करता है, परन्तु जिस समय उसे अपने निजानन्द चैतन्य स्वरूपका भान हो जाता है तब उन विषय-सुखोंसे उसकी स्वयमेव विरक्तता एवं अरुचि हो जाती है। और वह उनका परित्याग कर देता है। लोकमें यह प्रवाद है कि अधिक सुखके कारण मिलने पर अल्प-सुखके कारणोंमें अनादर हो जाता है। योगियोंको यह भली भांति विदित है कि विषयभोग सांसारिक पराधीन अल्प सुख (सुखाभास) के कारण हैं और आत्मस्वरूपका चिन्तन निराकुलता रूप आत्मसुखका जनक है इसी कारण वे देह भोगोंसे विरक्त हो एकान्तवासी बन स्व-परके विवेकरूप चिन्तनमें ही उपयोगको लगाते हैं उनकी भोगोंके प्रति क्या आस्था होती यह निम्न पद्यसे स्पष्ट है:—

"शमसुखशीलितमनसामशनमपि द्वेषमेति किमु कामाः ।
स्थलमपि दहति झषाणां किमंग पुनरंगमंगाराः' ॥१॥

'जिस प्रकार शुष्क भूमि (सूखी जमीन) भी जब मछलियों के लिए प्राण घातक है तब अग्निकी तो बात ही क्या है— अग्निकी गर्मीसे मछलियां जरूर मृत्युको प्राप्त होती हैं। उसी प्रकार जिनका चित्त समतारूपी सुख से सम्पन्न है—परिपूर्ण है—वे जब शरीर स्थितिके कारण आहार आदिका महीनों एव वर्षोंके लिए परित्याग कर देते हैं तब कामभोगोंको वे कैसे उपादेय मान सकते हैं? वे कामादि विकारोंको सर्वथा हेय समझते हैं इसीलिए उनकी उनमें प्रवृत्ति भी नहीं होती। योगी चूंकि आत्मस्वरूपके परिज्ञानी हैं। इस कारण इनकी विषयों में अरुचि होना स्वाभाविक ही है। जिस प्रकार रोगसे पीड़ित रोगी, रोगका इलाज करता हुआ उस समय भी वह उस रोगको नहीं चाहता, तब आगे रोगकी इच्छा कौन करेगा? उसी तरह सम्यग्ज्ञानी जीव चारित्र मोहनीय कर्मके उदय से पीड़ित हुआ कर्मजन्म क्रियाको करता है; परन्तु वह उस क्रियासे उदासीन रहता है—रागी नहीं होता। तब भोगोंकी उसके अभिलाषा होती है यह कैसे कहा जा सकता है ॥३७॥

इन्द्रिय-विषयोंकी विरक्ति ही आत्मस्वरूपकी साधक है, विषयोंसे घृणा एवं अरुचि ही योगीकी स्वात्म-संवित्तिकी गमक है, उसके अभावमें विषय अरुचि ही नहीं बन सकती। विषयोंसे

अरुचि बढ़ने पर स्वात्मानुभव में भी वृद्धि हो जाती है और स्वात्म-संवित्तिसे स्व-परके भेद ज्ञानमें वृद्धि हो जाता है इसी बातको ग्रन्थकार महोदय स्पष्ट करते हुए कहते हैं:--

यथा यथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि।
तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ॥३८॥

अर्थ--जैसे-जैसे सहज प्राप्त इंद्रिय-भोगोंसे रुचि घटती जाती है। वैसे-वैसे ही स्व-पर-संवित्तिसे विशुद्ध आत्माका स्वरूप भी उदित होता जाता है---स्वात्म-संवित्तिका रसिक स्वरसमें मग्न हुआ बाह्य पदार्थोंसे उदासीन रहता है। उन्हें अपनेसे भिन्न अनुभव करता रहता है अतएव आत्म-संवित्तिसे उत्तम आत्मतत्त्वका लाभ करता है।

भावार्थ—ऊपरके ३७वें पद्यका भावार्थ लिखते हुए यह बतला आए हैं कि आत्माके विशुद्ध रूपकी उपलब्धिमें विषयोंकी अरुचि कारण है। इन्द्रिय-विषयोंकी विरक्तिसे आत्माका वह विशुद्धरूप अनुभवमें आने लगता है; क्योंकि विषय-लोलुपता और परिग्रह संचय ये दोनों ही स्वात्मानुभवमें बाधक हैं। अत-एव जब विषयोंकी चाह और परिग्रह रूप ग्रंथिसे मूर्छा (ममता) हट जाती है तब आत्मा अपने आनन्दका आस्वादी हो जाता है समयसार कलशामें भी कहा है:—

'विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन,
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकं ।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो,
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किंचोपलब्धिः' ॥३४॥

'हे आत्मन् ! तू बिना प्रयोजनके इस निकम्मे कोलाहलसे विरक्त हो और आत्मस्वरूपमें लीन होकर छह महीने पर्यन्त इस चैतन्य स्वरूप आत्माको देख। पुद्गलसे भिन्न तेज वाले आत्म-स्वरूपकी प्राप्ति क्या तेरे इस हृदय रूपी सरोवरसे नहीं होगी ? अर्थात् अवश्य होगी।

अतः आत्मस्वरूपके जो अभिलाषी हैं उन्हें चाहिए कि वे पंचेन्द्रियके विषयोंको हेय समझकर उनके परित्याग करनेका प्रयत्न करें, और एकान्तस्थानमें बैठकर अपने उपयोगको आत्म तत्वके प्रति एकाग्र करनेका प्रयत्न करें ॥३८॥

स्वात्म-संवित्तिके प्रकट होजाने पर कौन कौन चिन्ह प्रकट होते हैं इस प्रश्नका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं—

निशामयति निःशेषमिंद्रजालोपमं जगत् ।
स्पृहयत्यात्मलाभाय गत्वान्यत्रानुतप्यते ॥३६॥

अर्थ--योगीजन इस समस्त जगतको इन्द्रजालके समान देखते हैं क्योंकि उनके आत्मस्वरूपकी प्राप्तिकी प्रबल अभिलाषा उदित रहती है। यदि किसी कारणवश आत्मस्वरूपसे भिन्न

अन्य किसी पदार्थमें उनकी प्रवृत्ति हो जाती है तब उन्हें अत्यन्त संताप होने लगता है।

भावार्थ—जब तक आत्माको अपने असली स्वरूपका पता नहीं चलता तब तक ही उसे बाह्य पदार्थ भले प्रतीत होते हैं पर स्व-परका भेदज्ञान होते ही उसे यह सारा जगत् इंद्रजालके खेलके समान जान पड़ता है। इंद्रिय-विषय निस्सार एवं विनश्वर प्रतीत होते हैं। दृष्टिके बदलते ही सारा संसार बदला हुआ मालूम होता है, अब दृष्टिमें दृढ़ता, सत्यता और तत्त्वान्वेषणकी रुचि होती है। अतएव आत्मस्वरूपको छोड़कर अन्य पदार्थोंकी तरफ उसकी दृष्टि नहीं जाती—वह पहले अपनेको सुधारकर आत्म-मार्गमें प्रविष्ट कर—संसारमें सुधारमार्गका आदर्श उपस्थित करना चाहता है। उसे अब सांसारिक वैभव और शारीरिक पदार्थ क्षणिक और निस्सार प्रतीत होते हैं। आचार्य अमित-गतिने सुभाषित रत्नसन्दोह में कहा है:—

'भवत्येता लक्ष्मीः कतिपयदिनान्येव सुखदा-
स्तरुण्यस्तारुण्ये विदधति मनःप्रीतिमतुलां।
तडिल्लोलाभोगा वपुरविचलं व्याधि-कलितं'॥
बुधाः संचियेति प्रगुणमनसो ब्रह्मणि रताः॥३३५॥

'ज्ञानीको यह लक्ष्मी कुछ दिनों तक ही सुखद प्रतीत होती है। तरुण स्त्रियाँ यौवनमें ही अतुल प्रीतिको बढ़ाती हैं। भोग बिजलीके समान चंचल और शरीर व्याधि सहित जान पड़ता है।

संसारके पदार्थोंकी ऐसी स्थिति देखकर ज्ञानी जीव अपने आत्म-स्वभावमें ही प्रेम करते हैं ॥३९॥

अब आचार्य स्वात्मसंवित्ति (स्वात्मानुभव) का फल बत-लाते हुए कहते हैं :—

इच्छत्येकान्तसंवासं निर्जनं जनितादरः ।
निजकार्यवशात्किंचिदुक्त्वा विस्मरति द्रुतं ॥४०॥

अर्थ—स्वात्मानुभवके जागृत हो जाने पर यह आत्मा बड़े आदरसे किसी तरहसे मनुष्य संचारसे रहित एकान्त स्थानमें रहनेकी इच्छा करने लगता है और यदि कारणवश कुछ बोलना भी पड़े तो उसे शीघ्र ही भूल जाता है ।

भावार्थ—जब तक आत्माको यह ज्ञान नहीं होता कि जन्म मरण, सुख, दुःख, धन निर्धन, रोग, शोक आदि सम्बन्धी दुःख यह एक अकेला आत्मा ही उपार्जन करता और भोगता है । स्त्री, पुत्र मित्रादि सब इस पर्यायके (जन्मके) ही साथी हैं, कर्मके नहीं, वे मेरी आई हुई विपत्तिमें जरा भी सहायता नहीं पहुंचा सकते । यह आत्मा भूलसे ही उन्हें अपनी रक्षाका कारण सम-झता है और उनका साथ छोड़नेमें भय करता है और वियोग होने पर व्याकुल होने लगता है, मैं अकेला ही हूं और मेरा कोई सगा साथी नहीं है । मैं अकेला ही सुख दुखका कर्ता भोक्ता

हूं। स्त्री पुत्रादि सब अपने-अपने मतलबके हैं। इनका मेरी आत्माके साथ केवल संयोग सम्बन्ध है, उस समय इसे स्त्री, पुत्र, मित्रादि कुटुम्बके बीच रहना दुःखदायी जान पड़ता है और तब गिरिकंदर, वन, स्मशान, मठ और मंदिर आदि जन कलहसे शून्य एकान्त निर्जन स्थानोंमें बसनेकी चेष्टा करने लगता है परन्तु भोजनादिकी पराधीनतासे कुछ समयके लिए उन एकान्त स्थानोंको छोड़कर नगर ग्रामादिमें जाना पड़ता है पर वहां आहार लेकर आते ही जब स्वात्मानन्दमें मस्त होकर स्वरूप चिन्तनमें लीन हो जाता है, तब वह सब संकल्प विकल्प भूल जाता है। और आत्मध्यानमें संलग्न हो निर्विकल्प परम समाधिकी साधनामें अपनेको लगाकर मोह ग्रंथिको भेदनेका प्रयत्न करता है। आत्मध्यानसे ही कर्म शृंखला खंडित होती है। अतः वह उसीका प्रयत्न करता है।

आत्म ध्यानका फल तत्त्वानुशासनमें निम्न प्रकार बतलाया है:--

गुरूपदेशमासाद्य समभ्यस्यन्ननारतं।
धारणा सौष्ठवाध्यान प्रत्ययानपि पश्यति ॥८७॥

'गुरुके उपदेशानुसार सदा आत्मस्वरूपका अभ्यास करनेवाला योगी धारणाके सौष्ठव (सम्यक् अनुष्ठान) आदि ध्यानके प्रत्ययोंका साक्षात् प्रत्यक्ष करने लगता है। अर्थात् जिस समय आत्मस्वरूपके चिंतनमें संलीन हो जाता है उस समय उसे संसार

का कोई भी पदार्थ अदृश्य प्रतीत नहीं होता, वह अपने आत्मानन्दमें ही मस्त रहता है।

आत्मध्यानका कार्य बतलाते हुए आचार्य कहते हैं:—

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते गच्छन्नपि न गच्छति।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु पश्यन्नपि न पश्यति ॥४१॥

अर्थ-जिस समाधिनिष्ठ योगीकी आत्मस्वरूपमें स्थिरता हो जाती है वह बोलता हुआ भी नहीं बोलता, चलता हुआ भी नहीं चलता, और देखता हुआ भी नहीं देखता है।

भावार्थ- शुद्ध आत्मस्वरूप के चिंतनमें जिस योगीकी स्थिरता हो जाती है उस समय उसे आत्मानन्दके मधुर रसके सिवाय अन्य वस्तुएँ नीरस एवं अरुचिकर प्रतीत होती हैं। अत एव उस समय यदि योगीको परके अनुरोधवश कुछ बोलना या उपदेशादि भी देना पड़ता है। तो उस कार्यमें मुख्यता बुद्धि-पूर्वक प्रवृत्ति न होनेके कारण उपदेश देता हुआ भी उपदेश न देना जैसा ही है। समाधितन्त्रमें कहा भी है:—

"आत्मध्यानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरं।
कुर्यादर्थवशात्किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥५०॥"

आत्महितके अभिलाषी अन्तरात्मा जीवोंको चाहिए कि वे अपने उपयोगको इधर उधर न घुमाकर अपना अधिक समय आत्म-चिंतनमें ही लगावें। यदि स्व-परके उपकारादिवश उन्हें वचन और कायसे कोई काम करना ही पड़े तो वे उसे अनासक्ति

पूर्वक करें— उसमें अपने चित्तको अधिक न लगावें। ऐसा करने से वे आत्मस्वरूपसे च्युत नहीं हो सकेंगे, और उनकी आत्मिक शांतिमें कोई बाधा भी उपस्थित नहीं होगी, क्योंकि ज्ञानीजनोंकी उन पर पदार्थोंमें अनासक्ति होनेके कारण उनका स्वामित्व नहीं रहता। यद्यपि प्रयोजनवश उन्हें उन कार्योंमें प्रवृत्ति करनी भी पड़ती है तो भी वे उनमें रागी नहीं हो सकते और न आत्मस्वरूपको छोड़कर अन्य पदार्थोंमें उन्हें आनन्द ही प्रतीत होता है।

अब उक्त बातको और भी स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं:—

किमिदं कीदृशं कस्य कस्मात्क्वेत्यविशेषयन्।
स्वदेहमपि नावैति योगी योगपरायणः ॥४२॥

अर्थ—योगानुष्ठानमें संनिरत (समरसी भावका अनुभव करनेवाला) योगी अनुभवमें आने वाला तत्त्व क्या है? किस प्रकारका है। उसका कौन स्वामी है। किससे उदित है। और कहां पर उसकी स्थिति है। इस तरहके भेद भावका अनुभव करते हुए वह अपने शरीरको भी नहीं जानता।

भावार्थ—निजात्मस्वरूपका चिन्तन एवं ध्यान करने वाले योगीके जब भेददृष्टि बनी रहती है तब तक मैं जिस तत्त्वका अनुभव करता हूँ वह यह है, इस रूप है, उसका यह स्वामी है, इससे उदित हुआ है और यहाँ पर स्थित है तब तक उसे अपने

शरीरका परिज्ञान भी बना रहता है किन्तु जब ध्याता योगीके पदार्थ चिन्तनमें (ध्यानअवस्थामें) अभेदवृत्तिका अनुभव होने लगता है उस चिंतनीय पदार्थमें यह कैसा है,कौन है,उसका कौन स्वामी है। कहांसे उदित होता है और कहां रहता है इस प्रकारके अभेदात्मक उपयोगकी स्थिरता जब हो जाती है संसारके अन्य संकल्प-विकल्पोंसे शून्य एक अकिंचन एवं निरंजन आत्माका ही अनुभव रहता है उस समय योगीको उपयोगकी तन्मयताके कारण अपने शरीरका भी वेदन नहीं होता, कहा भी है:—

'तदा च परमैकाग्र्याद्बहिरर्थेषु सत्स्वपि ।
अन्यन्न किंचनाभाति स्वमेवात्मनि पश्यतः ॥१७२॥'

'जिस समय योगी अपने योगमें तन्मय हो जाता है उस समय परम एकाग्रतासे वह अपने अकिंचन शुद्ध स्वरूपका ही अवलोकन करता रहता है अतएव बाह्य पदार्थोंके होते हुए भी उसे अन्य कुछ भी अनुभव नहीं होता। इसी भावको आचार्य अमृतचन्द्र निम्न पद्यमें व्यक्त करते हैं :—

'स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाल-
मेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्ष-कक्षाम् ।
अन्तर्बहिः समरसैकरसस्वभावं,
स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम् ॥६१॥

जो तत्त्ववेदी है—आत्मतत्त्वका अनुभव करने वाला है—

वह स्वेच्छासे उठने वाले बहुत विकल्पोंके जालात्मक नय पक्षरूप गहन वनका उल्लंघन कर समतारसरूप एकस्वभाववाले अनुभूति मात्र अपने आत्मस्वभावको प्राप्त होता है। जब तत्त्वज्ञानी आत्मा अपनी सर्वशक्तिको इधर उधरसे संकुचित अथवा केन्द्रित कर एक निजानन्दरूप अपने चैतन्य स्वभावमें स्थिर कर देता है उस समय हेय उपादेयरूप विकल्पजाल नहीं होते। किन्तु आत्मा अपनेमें निष्ठ हुआ समतारूप वीतरागभावका आस्वादन करता है ॥४२॥

अब शिष्य पुनः पूछता है कि हे भगवन्! इस तरहका अवस्थान्तर कैसे संभव है? इस शंकाका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं:—

यो यत्र निवसन्नास्ते स तत्र कुरुते रतिं।
यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र स न गच्छति ॥४३॥

अर्थ—जो मनुष्य जहां रहता है उसकी वहीं प्रीति हो जाती है और उसीमें रम जाने के कारण वह फिर अन्यत्र नहीं जाना चाहता।

भावार्थ—यह बात श्लोकमें प्रसिद्ध है कि जो मनुष्य जिस नगर, शहर या ग्राममें रहता है उसका प्रेम उस स्थान अथवा वहांके मकान आदिसे हो जाता है यदि वह किसी छोटेसे झोंपड़ेमें ही रहता है तो भी उसकी प्रीति उस झोंपड़े-

से हो जाती है वह उसीमें आनन्द पूर्वक रहता है, और अच्छे या बुरे उस स्थानको छोड़ना नहीं चाहता। ठीक उसी तरह जब तक आत्मा अपनेको नहीं जानता तब तक ही वह पर पदार्थोंको अपना मानता है और उन्हें ही अपना हितैषी समझ उन्हींमें रति करता है,तथा उन्हींमें सुखकी कल्पनाकर बार-बार भोगनेका प्रयत्न करता रहता है किन्तु आनन्दस्वरूप अपने ज्ञानानन्द स्वरूपकी ओर झांककर भी नहीं देखता; परन्तु जिस समय उस योगीकी दृष्टि बदल जाती है—उसमें सचाई एवं श्रद्धा उत्पन्न हो जाती हैं तब उसकी दृष्टि बाह्य पदार्थोंसे हटकर अपने शुद्ध स्वरूपकी ओर हो जाती है तब उसे आत्मस्वरूपके चिंतन मनन अथवा ध्यानसे समुत्पन्न आनन्दका अनुभव होने लगता है। उस समय उसे बाह्य पदार्थोंके दर्शन स्पर्शनादिकी कोई इच्छा नहीं रहती, उसे निजात्मरसके अनुभवके सामने वे सब भोग नीरस एवं दुखदाई प्रतीत होते हैं और अब वह आत्मरसके पानमें ही संलीन रहता है।

योगीकी स्वात्मानुभवमें रति होने पर जब अन्य पदार्थोंमें प्रवृत्ति नहीं होती तब क्या होता है? इस शंकाका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैः—

अगच्छंस्तद्विशेषाणामनभिज्ञश्च जायते।
अज्ञाततद्विशेषस्तु बद्ध्यते न विमुच्यते ॥४४॥

अर्थ—स्वात्मतत्त्वमें निष्ठ योगीकी जब देहादि पर पदार्थों-में प्रवृत्ति नहीं होती—स्वात्मासे भिन्न देहादि बाह्यपदार्थोंके विशेषोंका यह सुन्दर है अथवा असुन्दर है, अच्छे हैं या बुरे हैं उनका उसे कोई अनुभवन नहीं होता। और जब बाह्य पदार्थोंमें इष्टानिष्ट जन्य राग-द्वेषरूप प्रवृत्ति नहीं होती तब वह योगी कर्मोंसे नहीं बंधता है । किन्तु व्रतादिके अनुष्ठानसे वह कर्म-बन्धनसे छूटता ही है।

भावार्थ—जो मनुष्य जिस पदार्थके चिंतनमें तन्मय हो जाता है तब उसे दूसरे अन्य पदार्थोंके अच्छे बुरे स्वभावका जरा भी ज्ञान नहीं रहता अतएव उसका दूसरे पदार्थोंसे कोई सम्बन्ध भी नहीं रहता—उनसे उसका सम्बन्ध छूट जाता है । आत्मज्ञ योगी भी जिस समय स्वात्मनिष्ठ हो जाता है तब उसकी प्रवृत्ति शरीरादि बाह्यपदार्थोंमें नहीं होती अतएव उसे उनके अच्छे और बुरे स्वभावका भी परिज्ञान नहीं होता, और बाह्यपदार्थोंमें इष्टा-निष्ट संकल्प-विकल्प न होनेसे उनमें रागद्वेषरूप परिणति भी नहीं होती, तब उनसे जायमान शुभाशुभ कर्मका बन्ध भी नहीं होता; किन्तु स्वरूपमें प्रवृत्ति होनेके कारण उल्टी कर्मोंकी निर्जरा ही होती है जिससे फिर उसे कर्मबन्धनसे छुटकारा मिल जाता है—मोक्ष हो जाती है। इसी भावको आचार्य अमृतचन्द्र निम्न प्रकारसे व्यक्त करते हैं—

एकं ज्ञायकभावनिर्भरमहास्वादं समासादयन्,
स्वादन्द्वन्दमयं विधातु मसहः स्वां वस्तुवृत्तिं विदन्।
आत्मात्मानुभवानुभावविवशो भ्रस्यद्विशेषोदयं,
सामान्यं कलयत्किलैव सकलं ज्ञानं नयत्येकताम्॥

'यह आत्मा-ज्ञायकभावसे परिपूर्ण ज्ञानके एक महास्वादको लेता हुआ, और दो भिन्न वस्तुओंके मिले हुए मिश्र स्वादको लेनेमें असमर्थ, किन्तु अपनी वस्तुकी प्रवृत्तिको जानता है—अनुभव करता है, क्योंकि वह आत्मा अपने आत्मानुभवके प्रभावसे विवश होता हुआ और ज्ञानके विशेषोंके उदयको गौण करता हुआ मात्र सामान्य ज्ञानका अभ्यास करता है और सर्वज्ञानकी एकता को प्राप्त करता है। ज्ञानीके आत्मस्वरूपके मधुररस स्वादके सामने अन्य सब रस फीके हो जाते हैं पदार्थोंका भेदभाव मिटजाता है ज्ञानके विशेष (भेद) ज्ञेयोंके निमित्तसे होते हैं। सो जब ज्ञानसामान्यका आस्वाद होने लगता है तब ज्ञानके विशेष स्वयं गौण हो जाते हैं किन्तु जब एक ज्ञान ही ज्ञेय रह जाता है। तब आत्मा अद्वैत भावको प्राप्त होता है उस समय कर्मबन्धन न होकर केवल कर्मनिर्जरा ही होती है ॥४३॥

आचार्य और भी उपदेश देते हुए कहते हैं—

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखं।
अतएव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः ॥४५॥

अर्थ—देहादि पर पदार्थ तो पर ही हैं उन्हें अपना मानने-

से दुःख होता है किन्तु आत्मा आत्मा ही है--आत्म पदार्थ अपना है वह अपना ही रहेगा—वह कदाचित् भी देहादिरूप नहीं हो सकता—उसे अपनानेसे सुख प्राप्त होता है। इसीलिए तीर्थंकरादि महापुरुषोंने आत्माके लिए ही उद्योग किया है--विविध घोर तपश्चरणके अनुष्ठान द्वारा आत्मतत्त्वकी प्राप्ति की है।

भावार्थ--संसारमें स्त्री, पुत्र, मित्र और शरीरादि जो भी पदार्थ देखनेमें आते हैं वे सब चेतनारहित जड़स्वरूप हैं अतएव वे सब पदार्थ अपने चिदानन्द स्वरूपसे भिन्न हैं। यह अज्ञानी आत्मा उनमें आत्मत्वकी कल्पना करता है—उन्हें अपना मानता है और उनके वियोगमें दुःखी होता है; क्योंकि जिन पदार्थोंका कर्मोदयवश संयोग होता है उनका नियमसे वियोग होता है। कहा भी है—"संयोगानां वियोगो हि भविता हि नियोगतः"—संयोगी पदार्थोंका नियमसे वियोग होता है। और यह अज्ञ प्राणी उनके वियोगमें अत्यन्त दुःखी होता है---विलाप करता है। किन्तु जो आत्मपदार्थ है वह चेतनास्वरूप है—ज्ञाता दृष्टा है, वह अपना ही है उसे अपनाने, जानने तथा तदनुकूल वर्तन रूप प्रवृत्ति करनेसे उसकी प्राप्ति होती है—आत्मसाधनासे स्वाधीन निराकुल आत्मसुखकी उपलब्धि होती है। हमारे पूर्वज तीर्थं-करादि महापुरुषोंने शरीरादि बाह्य पदार्थोंमें अपने स्वरूपसे भिन्न, कर्मोदयसे होने वाले संयोगवियोगादि कार्यों को दुःखदायी समझकर उनमें होनेवाली आत्मकल्पनाका परित्याग किया है।

और आत्माको आत्मा समझकर—अपना स्वरूप मानकर उसकी साधनाके लिये कठोर तपश्चरणरूपी अग्निमें उसे तपाकर उसके शुद्धस्वरूप की प्राप्ति की है। उसकी समुपलब्धि एवं प्राप्तिके निमित्त ही सारा अनुष्ठान किया है। और उसकी प्राप्ति कर लोकहितके आदर्श मार्गका प्रणयन किया है। उसकी वास्तविक प्राप्तिका सुगम और सीधा उपाय बतलाया है।

परपदार्थोंमें अनुराग करने पर क्या क्या फल प्राप्त होते हैं? इस शंकाका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं--

अविद्वान पुद्गलद्रव्यं योऽभिनन्दति तस्य तत् ।
न जातु जंतोः सामीप्यं चतुर्गतिषु मुञ्चति ॥४६॥

अर्थ--अज्ञानीजीव पुद्गलद्रव्यको अपना मानता है अतएव पुद्गलद्रव्य चारों गतियोंमें आत्माका सम्बन्ध नहीं छोड़ता--वह बराबर साथ बना रहता है।

भावर्थ--शरीरादिक पुद्गलद्रव्य अचेतन और सर्वथा हेय हैं वे अपने चैतन्यस्वरूपसे सर्वथा भिन्न हैं। वे आत्माके कभी नहीं हुए और न हो ही सकते हैं परन्तु मोही मिथ्यादृष्टि जीव को इस भेदज्ञानका कोई विवेक नहीं होता कि यह पदार्थ हेय और यह उपादेय हैं वह तो अपनेसे भिन्न पदार्थोंमें आत्मत्व-की कल्पना करता हुआ, उसकी विभिन्न परिणतिसे रागी द्वेषी होता है और तज्जनित आश्रव बन्ध से उसे नरक, तिर्यंच,

मनुष्य और देवरूप चतुर्गतिरूप संसारमें घूमना पड़ता है यह उनमें भ्रमण करता और उनकी शारीरिक तथा मानसिकादि वेदनाओंको सहता हुआ भी परद्रव्यके अनुरागको नहीं छोड़ता और न उनमें 'आत्म-कल्पनाका ही परित्याग करता है, जिससे उसे छुटकारा मिले।

स्वरूपको अपनानेसे क्या फल होता है ? इस शंकाका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं--

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहि:स्थितेः ।
जायते परमानन्दः कश्चिद्योगेन योगिनः ॥४७॥

अर्थ-प्रवृत्ति निवृत्तिरूप व्यवहारसे रहित होकर जब आत्मा अपने अनुष्ठानमें-स्वस्वरूपकी प्राप्तिमें—लीन हो जाता है तब उस आत्मनिष्ठ योगीके परम समाधिरूप ध्यानसे किसी वचनातीत और अन्यत्र असम्भव ऐसे अपूर्व आनन्दकी प्राप्ति होती है।

भावार्थ—स्वा स्वरूपमें निष्ठ होना ही योग है और उस योगका साधन करने वाला योगी कहलाता है और वह योग अथवा समाधी ही उस अनिर्वचनीय आत्मानन्दका जनक है, परन्तु जब तक दृश्यमान बाह्य पदार्थोंमें किंचित् भी ममता बनी रहती है तबतक स्वस्वरूपमें लीनता हो सकती, किन्तु जब उस योगी की बाह्य पदार्थोंमें किसी प्रकारकी कोई ममता नहीं रहती तब वह

स्वरूपमें निष्ठ (लीन) होता है । और उस सच्चिदानन्दरूप-में एकाग्र होना ही उस वचनातीत परमानन्दकी प्राप्तिका कारण है । इसी आशयको आचार्यदेवसेनने अपने तत्त्वसारकी निम्न गाथा में व्यक्त किया है--

उभयविणट्ठे भावे णियउवलद्धे सुसुद्ध ससरूवे ।
विलसइ परमाणंदो जोईणं जोयसत्तीए ।।५८।।

'आत्मासे राग-द्वेष रूप उभय परिणामके विनष्ट हो जाने पर और स्वकीय विशुद्ध निज स्वरूपके लाभ होने पर योगीको योग शक्तिके द्वारा परम आनन्दकी प्राप्ति होती है । वास्तवमें परम आनन्दकी प्राप्तिका मूल कारण राग-द्वेषका अभाव है । अतः हमें चाहिए कि हम परपदार्थोंमें राग-द्वेषकी परम्पराको स्थान न दें, और उसे आत्मामेंसे दूर करनेका बार बार प्रयत्न करें ।

अब आचार्य उस आत्मानन्दका कार्य बतलाते हुए कहते हैं :-

आनन्दो निर्दहत्युद्धं कर्मेन्धनमनारतं ।
न चासौ खिद्यते योगी बहिर्दुःखेष्वचेतनः ॥४८॥

अर्थ--वह परम आनन्द सदा आनेवाले प्रचुर कर्मरूपी ईंधनको जला डालता है उस समय ध्यान-मग्न योगीके बाह्य पदार्थोंसे जायमान दुःखोंका कुछ भी भान न होनेके कारण कोई खेद नहीं होता ।

भावार्थ—कर्मकी बलवत्ता प्रसिद्ध है उस कर्म शक्तिका जब तक आत्मा पर प्रभाव बना रहता है तब तक उसे अपने निज स्वरूपका किंचित् भी ज्ञान नहीं हो पाता। यह कर्मरूपी मदारी आत्माको आशारूपी पाश (जाल) में बाँध कर चतुर्गतिरूप संसारमें घुमाता है वहाँ उसे अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं; परन्तु जब किसी कारणसे उस कर्मशक्तिका बल कम हो जाता है तब आत्माको अपने स्वरूपका भी कुछ कुछ भान होने लगता है और वह सुगुरुका उपदेश पाकर अथवा शास्त्रज्ञान द्वारा आत्मस्वरूपका परिज्ञान कर अपने शुद्ध स्वरूपमें तन्मय होने लगता है-- उसीके ध्यान एवं चिन्तनमें लगा रहता है—उस समय कर्मोंका बल बराबर क्षीण होता चला जाता है और आत्म-शक्तिका बल दिन पर दिन विकास पाने लगता है, पूर्ण विकसित होने पर किसी समय उस कर्म-शक्तिका समूल नाश हो जाता है। आचार्य महोदयने इस पद्यमें इसी भावको निबद्ध किया है और बतलाया है कि योगी जिस समय स्व-स्वरूपके चिन्तवनसे समुत्पन्न आनन्दको प्राप्त कर लेता है उस समय संचित कर्मरूपी ईंधन जलकर भस्म हो जाता है। योगीके स्वरूप निष्ठ होनेसे बाह्य पदार्थोंके अच्छे बुरे परिणमनका उसे कोई भान नहीं हो पाता। अतएव उसे तज्जनित खेदका पात्र भी नहीं होना पड़ता। खेदका अनुभव तो उसी समय तक होता है जब तक आत्मप्रवृत्ति मन, इन्द्रियों तथा उनके विषयोंमें होती है, और जब आत्म-

प्रवृत्ति आत्मनिष्ठ हो जाती है तब उसे बाह्य प्रवृत्ति का कुछ भी भान अथवा ज्ञान नहीं होता। यह आत्मसंलग्नता अथवा चित्त की एकाग्रता ही उस कर्म-शक्तिकी दाहक—जलाने वाली—है।

इसी भावको और भी ग्रन्थकार व्यक्त करते हुए कहते हैं:— उसकी प्राप्ति चित्तकी स्थिरता तथा ध्यान से होती है।

अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत्।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद् द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः॥४६॥

अर्थ—वह ज्ञान स्वभावरूप ज्योति अविद्या (अज्ञान) विनाशक, महान् उत्कृष्ट और ज्ञानमय है। अतएव मुमुक्षुओंके लिए उसीके विषयमें पूछना, उसीकी प्राप्तिकी अभिलाषा करना और उसीका अनुभव करना चाहिए।

भावार्थ—जिस आत्मानन्द का ऊपर उल्लेख किया गया है वह अपूर्व ज्योति है, अज्ञान अन्धकारकी विनाशक है, स्वपर-प्रकाशक है, और ज्ञानस्वरूप है उसके समान हितकारी अन्य कोई पदार्थ नहीं है अतएव वह महान है। आत्मामें उसके देदीप्यमान रहने पर अज्ञानका सर्वथा विनाश हो जाता है और आत्माकी अनन्त चतुष्टयरूप आत्म-शक्तियां विकसित हो जाती हैं इसीसे उसकी महानताका अन्दाज लगाया जा सकता है अतएव जो पुरुष मोक्षाभिलाषी हैं, उस आत्मानन्द रूप परमज्योतिके उपासक हैं अथवा उसे प्राप्त करनेके इच्छुक हैं। उनका कर्तव्य है कि वे प्रत्येक समय उस आत्मज्योतिका ही विचार करें उसीके

सम्बन्धमें पूछें, और उसीकी प्राप्तिकी निरन्तर अभिलाषा करें तथा प्रयत्न करें; क्योंकि वह भावना आकुलता दुःख एवं सन्तापकी नाशक है और आत्मबल बढ़ाने वाली है। उस ज्योतिके अनुभवसे जो परम आनन्द होता है उससे कर्म-शक्तिका रस क्षीण हो जाता है और आत्मा अपने में एकाग्र होने लगता है। इस भावको ग्रन्थकारने समाधितंत्रमें व्यक्त करते हुए कहा है:—

तद् ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत् तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।
येनाविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत्॥

योगीको चाहिए कि वह उस समय तक आत्म ज्योतिका स्वरूप कहे, उसी के सम्बन्धमें पूछे, उसीकी इच्छा करे और उसीमें लीन होवे। जब तक अविद्या (अज्ञान) मय स्वभाव दूर होकर विद्यामय न हो जावे।

वस्तुतत्त्वका विस्तारसे विवेचन कर अब श्री गुरु उक्त तत्त्वका संकोच करते हुए करुणावश उसे शिष्यके हृदयमें संस्थापित करनेकी अभिलाषासे शिष्यसे कहते हैं कि हे सुमते! हेयोपादेयरूप तत्त्व के अधिक विवेचनसे क्या, प्राज्ञचित्तोंमें तो वह संक्षेपमें ही हृदयस्थ किया जा सकता है—

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः।
यदन्यदुच्यते किंचित् सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः॥५०॥

अर्थ—जीव शरीरादिक पुद्गलसे भिन्न है और पुद्गल जीवसे भिन्न है यही तत्त्वका संग्रह है और इसके अतिरिक्त जो कुछ भी कहा जाता है वह सब इसही का विस्तार है।

भावार्थ—वास्तवमें तत्त्व तो सत् मात्र (सन्मात्रं तत्त्वं) है, परन्तु उस सन्मात्र तत्त्वसे प्रत्येक पदार्थकी असलियतका भान नहीं हो सकता, अतएव उसके चेतन अचेतनरूप दो भेदोंको स्वीकार किया गया है उनमें चेतन अचेतनसे सर्वथा भिन्न है और वह कभी भी अपने स्वरूप को छोड़कर अचेतन नहीं हो सकता। इसी तरह अचेतन (पुद्गल) भी चेतनसे सर्वथा भिन्न जड़स्वरूप है, और वह कभी भी चेतन नहीं बन सकता। चेतन की ज्ञान दर्शनरूप दो पर्यायें हैं उनमें ज्ञानके मतिज्ञानादि आठ भेद हैं और दर्शन के चक्षुदर्शनादि चार भेद हैं। उस अचेतनके भी पुद्गलादि अनेक भेद हैं जिनका अणुस्कंधादि रूपसे शास्त्रों में विवेचन किया गया है। इस तरह यह समस्त संसार चेतन और अचेतन रूप है। इन्हीं दोनों तत्त्वोंके सम्मिश्रणसे अन्य पर्याय रूप पांच तत्त्वोंकी---आस्रव, बंध संवर, निर्जरा और मोक्षकी—उत्पत्ति होती है। संसारमें ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो इन दोनोंमें से किसी एक रूप न हो, ज्ञान दर्शन और शरीरादिमें भेद-प्रभेदरूप चेतन अचेतनरूप पदार्थ सब इन्हीं दो तत्वों का संग्रह, विस्तार अथवा परिकर है। अतः ज्ञानीका कर्तव्य है कि वह इन दोनोंका जुदा-जुदा अनुभव करे—जड़को जड़रूप और चेतन को चेतन रूपसे अनुभव करे। तथा जड़से भिन्न केवल चैतन्यका अनुभव कर आत्मस्वरूपमें तन्मय होकर स्वपदका आस्वादी रहे; क्योंकि मोहकर्मके उदयसे

जिन गुणस्थानों, मार्गणाओं आदिका कथन किया गया है वे सब अचेतन रूप हैं,* वे चेतन कैसे हो सकते हैं? चैतन्य स्वरूप आत्मा तो ज्ञानानन्द मय है, वर्णादिक व रागादिकसे रहित ज्ञान स्वभाव है। अतः आत्मज्ञानीका कर्त्तव्य है कि वह ऊपर बतलाये हुए चेतन अचेतन तत्त्वोंका और इनके सम्बन्धसे होने वाले पर्याय तत्त्वोंका पृथक्-पृथक् रूपसे अनुभव करता हुआ स्वपदमें मग्न होनेका प्रयत्न करे, क्योंकि स्वपदमें मग्न हुए बिना अचेतनके अनादि सम्बन्धको दूर करना कठिन है—भेदज्ञान रूप तीक्ष्ण असिधारा ही भेद कर उसे दूर कर सकती है ॥५०॥

अब आचार्य इस शास्त्र अध्ययनके साक्षात् और परम्परा फलका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं :—

इष्टोपदेशमिति सम्यगधीत्य धीमान्
मानापमानसमतां स्वमताद्वितन्य।
मुक्ताग्रहो विनिवसन्सजने वने वा
मुक्तिश्रियं निरुपमामुपयाति भव्यः ॥५१॥

---

* मोहण कम्मस्सुदया दु वण्णिदा जे इमे गुणट्ठाणा।
ते कह हवंति जीवा ते णिच्चमचेदणा उत्ता ॥
समयसारे कुन्दकुन्दः

जो समयपाहुडमिणं पडिहूणं अत्थ-तच्चदो णाउं।
अत्थे ठाही चेया सो होही उत्तमं सोक्खं ॥४१५॥
—समयसारे कुन्दकुन्दः

अर्थ—जो भव्य जीव—अनन्त ज्ञानादिरूप लब्धियोंको प्राप्त करने वाला जीव इस इष्टोपदेश नामक ग्रन्थको भले प्रकार पढ़कर—सम्यक् व्यवहार निश्चयनयसे वस्तु तत्त्वका अध्ययन कर—मनन एवं विचारकर—हित-अहितकी परीक्षा करनेमें दक्ष होकर—आन्तरिक आत्मज्ञानके बलसे मान अपमानमें समताभावका विस्तार करता हुआ—हर्ष विषादादि जन्य राग-द्वेष रूप कल्लोलोंमें मध्यस्थ हुआ बाह्य पदार्थों के मोहवश होने-वाले मिथ्याभिनिवेशसे रहित हुआ—ग्राम, वन, जंगल और गिरि-गुफाओंमें निवास करता हुआ, निरूपम अनन्तज्ञानादि संपदासे युक्त मुक्ति-लक्ष्मीको—स्वात्मोपलब्धि या निज स्वभाव-की अच्युतिरूप पूर्ण स्वाधीनताको प्राप्त करता है।

भावार्थ—ग्रन्थका उपसंहार करते हुए आचार्य पूज्यपादने इस पद्यमें इस ग्रंथके अध्ययनका साक्षात् और परम्परा फल बत-लाया है कि जो आत्महितैषी भव्य इस ग्रंथका भली भांति अध्य-यन करता है उसका साक्षात् फल अज्ञाननिवृत्तिरूप प्राप्त करता है। साथ ही, वह निश्चय व्यवहार नय द्वारा प्रतिपादित पदार्थ-की यथार्थ दृष्टिको सामने रखकर वस्तु तत्त्वका मनन करता है—आत्मस्वरूपमें निमग्न हुआ अन्तर्दृष्टिके जागृत होनेसे मोहवश परपदार्थमें होने वाले मिथ्या आत्माभिनिवेशको और उससे समुत्पन्न संकल्प-विकल्पात्मक राग द्वेष रूप मान अपमानकी कल्पनाको—भुला देता है—उसके विषैले परिणाम रूप संस्कार-

को समताभावके द्वारा जला देता है—उसे निष्प्राण बना देता है। जिसकी योग-साधनामें शत्रु, मित्र, महल, मसान, कंचन, कांच, निन्दा, स्तुति आदि पदार्थ समान रूपसे अनुभवमें आते हैं। जो जन कोलाहलसे दूर भीमकाय वन, गांव, और गिरि कन्दरामें निवास करता है। आत्माके अनुष्ठानमें सदा जागृत और विवेक एवं धर्मसे विचरण करता है, जो नय पक्षकी कक्षाको पार कर चुका है, ज्ञान और वैराग्य सागरमें डुबकी लगाता हुआ अहंभाव और ममभावसे दूर रहता है, आत्म-समाधिमें लीन हो कर स्वरूपानुभव द्वारा परम आनन्दरूप सुधारसका पान करता हुआ तृप्त नहीं होता. वह भव्य परम्परासे उस अनन्तज्ञानादि अनुपम, अमित, शाश्वत, बाधारहित, और अन्य द्रव्य निरपेक्ष उत्कृष्ट, परम सुखस्वरूप लक्ष्मीका पात्र होता है—सिद्ध परमात्मा बनता है ॥५१॥

* अन्त मंगल *

चिदानन्द चिद्रूप-घन, कर्म-कलंक-विमुक्त।
वीत-दोष निर्मल शमी, गुण अनन्त संयुक्त ॥१॥

नमों जोर जुगपान मैं, शुद्ध चिदानन्द देव।
भव-बाधा चकचूर हो, कर्म नशें स्वयमेव ॥२॥

इन्दुकुमारी-बोध-हित, टीका करी सुजान।
अल्प आयुमें दिव गई, कर न सकी निज ज्ञान ॥३॥

संवत् विक्रम सहस्र द्वय, अष्ट अधिक पहिचान।
अर्द्धरात्रि से ऊन कुछ, समय व्यतीत सुमान ॥४॥

॥ ॐ ॥

श्रीमद्देवनन्द्यपरनामपूज्यपादस्वामिविरचित—

समाधितंत्रम्

श्रीप्रभाचन्द्रविनिर्मितसंस्कृतटीका सहितम्

(मंगलाचरण)

सिद्धं जिनेन्द्रममलाऽप्रतिमप्रबोधम् निर्वाणमार्गममलं विबुधेन्द्रवन्द्यम् ।
संसारसागरसमुत्तरणप्रपोतं वक्ष्ये समाधिशतकं प्रणिपत्य वीरम् ॥१॥

श्रीपूज्यपादस्वामी मुमुक्षुणां मोक्षोपायं मोक्षस्वरूपं चोपदर्शयितुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह—

येनात्माऽबुद्ध्यतात्मैव परत्वेनैव चापरम् ।
अक्षयानन्त बोधाय तस्मै सिद्धात्मने नमः ॥१॥

टीका—अत्र पूर्वार्द्धेन मोक्षोपाय उत्तरार्द्धेन च मोक्षस्वरूपमुपदर्शितम् । **सिद्धात्मने** सिद्धपरमेष्ठिने सिद्धः सकलकर्मविप्रमुक्तः स चासावात्मा च **तस्मै नमः** । **येन** किं कृतं ? । **अबुद्ध्यत** ज्ञातः । कोऽसौ ? **आत्मा** कथं ? **आत्मैव** । अयमर्थः येन सिद्धात्मनाऽऽत्मैवाध्यात्मत्वेनाबुद्धयत न शरीरादिकं कर्मापादितसुरनरनारकतिर्यगादिजीवपर्यायादिकं वा । तथा **परत्वेनैव चापरं** अपरं च शरीरादिकं कर्मजनितमनुष्यादिजीवपर्यायादिकं वा परत्वेनैवात्मनोभेदेनैवाबुद्धयत् । तस्मै कथंभूताय ? **अक्षयानन्तबोधाय** अक्षयोऽविनश्वरोऽनन्तो देशकालानवच्छिन्नसमस्तार्थपरिच्छेदको वा बोधो यस्य तस्मै । एवंविधबोधस्य चानन्तदर्शनसुखवीर्यैरविनाभावित्वसामर्थ्यादनंतचतुष्टयरूपायेति गम्यते ।

ननु चेष्टदेवताविशेषस्य पञ्चपरमेष्ठिरूपत्वात्तदत्र सिद्धात्मन एव कस्माद् ग्रन्थकृता नमस्कारः कृत इति चेत् ग्रन्थस्य कर्तुर्व्याख्यातुः श्रोतुरनुष्ठातुश्च सिद्धस्वरूपप्राप्त्यर्थत्वात्। यो हि यत्प्राप्त्यर्थी स तं नमस्करोति यथा धनुर्वेदप्राप्त्यर्थी धनुर्वेदविदं नमस्करोति। सिद्धस्वरूपप्राप्त्यर्थी च समाधिशतकशास्त्रस्य कर्ता व्याख्याता श्रोता तदर्थानुष्ठाता चात्मविशेषस्तस्मात्सिद्धात्मानं नमस्करोतीति। सिद्धशब्देनैव चार्हदादीनामपि ग्रहणम्। तेषामपि देशतः सिद्धस्वरूपोपेतत्वात् ॥१॥

अथोक्तप्रकारसिद्धस्वरूपस्य तत्प्राप्त्युपायस्य चोपदेष्टारं सकलात्मानमिष्टदेवताविशेषं स्तोतुमाह—

जयन्ति यस्यावदतोऽपि भारती विभूतयस्तीर्थकृतोप्यनीहितुः।
शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे जिनाय तस्मै सकलात्मने नमः ॥२॥

टीका—**यस्य** भगवतो **जयन्ति** सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते। काः? **भारतीविभूतयः** भारत्याः वाण्याः विभूतयो बोधितसर्वात्महितत्वादिसम्पदः। कथंभूतस्यापि जयन्ति? **अवदतोऽपि** ताल्वोष्ठपुटव्यापारेण वचनमनुच्चारयतोऽपि। उक्तं च—

"यत्सर्वात्महितं न वर्णसहितं न स्पंदितोष्ठद्वयं,
नो वांछाकलितं न दोषमलिनं न श्वासरुद्धक्रमम्।
शान्तामर्षविषैः समं पशुगणैराकर्णितं कर्णिभिः,
तन्नः सर्वविदः प्रणष्टविपदः पायादपूर्वं वचः ॥१॥

अथवा भारती च विभूतयश्च छत्रत्रयादयः। पुनरपि कथम्भूतस्य? **तीर्थकृतोऽप्यनीहितुः** ईहा वाञ्छा मोहनीयकर्मकार्यं, भगवति च तत्कर्मणः प्रक्षयात्तस्याः सद्भावानुपपत्तिरतोऽनीहितुरपि तत्करणेच्छारहितस्यापि, तीर्थकृतः संसारोत्तरणहेतुभूतत्वात्तीर्थमिव तीर्थमागमः तत्कृतवतः। किं नाम्ने तस्मै? **सकलात्मने शिवाय** शिवं परमसौख्यं परमकल्याणं निर्वाणं चोच्यते

तत्प्राप्ताय। धात्रे असिमषिकृष्यादिभिः सन्मार्गोपदेशकत्वेन च सकललोकाभ्युद्धारकाय। सुगताय शोभनं गतं ज्ञानं यस्यासौ सुगतः, सुष्ठु वा अपुनरावर्त्यं गतिं गतः सम्पूर्णं वा अनन्तचतुष्टयं गतः प्राप्तः सुगतस्तस्मै। विष्णवे केवलज्ञानेनाशेषवस्तुव्यापकाय। जिनाय अनेकभवगहनप्रापणहेतून् कर्मारातीन् जयतीति जिनस्तस्मै। सकलात्मने सह कलया शरीरेण वर्तत इति सकलः सचासावात्मा च तस्मै नमः ॥२॥

ननु—निष्कलेतररूपमात्मानं नत्वा भवान् किं करिष्यतीत्याह—

श्रुतेन लिंगेन यथात्मशक्ति समाहितान्तः करणेन सम्यक्।
समीक्ष्य कैवल्यसुखस्पृहाणां विविक्तमात्मानमथाभिधास्ये ॥३॥

टीका—**अथ** इष्टदेवतानमस्कारकरणानन्तरं। **अभिधास्ये** कथयिस्ये। कं? **विविक्तमात्मानं** कर्ममलरहितं जीवस्वरूपं। कथमभिधास्ये? **यथात्मशक्ति** आत्मशक्तेरनतिक्रमेण। किं कृत्वा? **समीक्ष्य** तथाभूतमात्मानं सम्यग्ज्ञात्वा। केन? **श्रुतेन**—

"एगो मे सासओ आदा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा" ॥१॥

'इत्याद्यागमेन। तथा **लिंगेन** हेतुना। तथाहि—शरीरादिरात्मभिन्नोभिन्नलक्षणलक्षितत्त्वात्। ययोर्भिन्नलक्षणलक्षितत्त्वं तयोर्भेदो यथा जलानलयोः, भिन्नलक्षणलक्षितत्त्वं चात्मशरीरयोरिति। न चानयोर्भिन्नलक्षणलक्षितत्त्वमप्रसिद्धम्। आत्मनः उपयोगस्वरूपोपलक्षितत्त्वात्—शरीरादेस्तद्विपरीतत्त्वात्। **समाहितान्तः करणेन** समाहितमेकाग्रीभूतं तच्च तदन्तः करणं च मनस्तेन। **सम्यक्—समीक्ष्य** सम्यग्ज्ञात्वा अनुभूयेत्यर्थः। केषां तथाभूतमात्मानमभिधास्ये? **कैवल्यसुखस्पृहाणां** कैवल्ये सकलकर्मरहितत्त्वे सति सुखं तत्र स्पृहा अभिलाषो येषां, कैवल्ये विषयाप्रभवे वा सुखे; कैवल्यसुखयोः स्पृहा येषाम् ॥३॥

कतिभेदः पुनरात्मा भवति ? येन विविक्तमात्मानमिति **विशेष उच्यते।** तत्र कुतः कस्योपादानं कस्य वा त्यागः कर्तव्य इत्याशंक्याह—

बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद्बहिस्त्यजेत् ॥४॥

टीका—**बहिर्**बहिरात्मा, **अन्तः** अन्तरात्मा, **परश्च** परमात्मा **इति त्रिधा आत्मा** त्रिप्रकार आत्मा। क्व? **सर्वदेहिषु** सकलप्राणिषु। ननु अभव्येषु बहिरात्मन एव सम्भवात् कथं सर्वदेहिषु त्रिधात्मा स्यात्? इत्यप्यनुपपन्नं, तत्रापि द्रव्यरूपतया त्रिधात्मसद्भावोपपत्तेः कथं पुनस्तत्र पंचज्ञानावरणान्युपपद्यन्ते? केवलज्ञानाद्याविर्भावसामग्री हि तत्र कदापि न भविष्यतीत्यभव्यत्वं, न पुनः तद्योगद्रव्यस्याभावादिति। भव्यराश्यपेक्षया वा सर्वदेहिग्रहणं। आसन्नदूरदूरतरभव्येषु अभव्यसमानभव्येषु च सर्वेषु त्रिधाऽऽत्मा विद्यत इति। तर्हि सर्वज्ञे परमात्मन एव सद्भावाद् बहिरन्तरात्मनोरभावात्त्रिधात्मनो विरोध इत्यप्ययुक्तम्। भूतपूर्वप्रज्ञापन नयापेक्षया तत्र तद्विरोधासिद्धेः घृतघटवत्। यो हि सर्वज्ञावस्थायां परमात्मा-सम्पन्नः स पूर्वं बहिरात्मा अन्तरात्मा चासीदिति। घृतघटवदन्तरात्मनोऽपि बहिरात्मत्वं परमात्मत्वं च भूतभाविप्रज्ञापननयापेक्षया द्रष्टव्यम्। तत्र कुतः कस्योपादानं कस्य वा त्यागः कर्तव्य इत्याह—**उपेयादिति। तत्र** तेषु त्रिधात्मसु मध्ये उपेयात् स्वीकुर्यात् **परमं** परमात्मानं। कस्मात्? **मध्योपायात्** मध्योऽन्तरात्मा स एवोपायस्तस्मात् तथा **बहिः** बहिरात्मानं मध्योपायादेव **त्यजेत्** ॥४॥

तत्र बहिरन्तः परमात्मनां प्रत्येकं लक्षणमाह—

बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तरः।
चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः परमात्माऽतिनिर्मलः ॥५॥

टीका—**शरीरादौ** शरीरे आदिशब्दाद्वाङ्मनसोरेव ग्रहणं तत्र जाता आत्मेतिभ्रान्तिर्यस्य स **बहिरात्मा** भवति। **आन्तरः** अन्तर्भवः। 'तत्र भव

इत्यत्राष्टैर्भमात्रे टिलोपमित्यस्याऽनित्यत्वं येषां च विरोधः शाश्वतिक इति निर्देशात्, "अन्तरे वा भव आन्तरोऽन्तरात्मा । स कथंभूतो भवति ? **चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः** चित्तं च विकल्पो दोषाश्च रागादयः, आत्मा च शुद्धं चेतनाद्रव्यं तेषु विगता विनष्टा भ्रान्तिर्यस्य । चित्तं चित्तत्वेन बुध्यते दोषाश्च दोषत्वेन आत्मा आत्मत्वेनेत्यर्थः । चित्तदोषेषु वा विगता आत्मेति भ्रान्तिर्यस्य । **परमात्मा** भवति, किं विशिष्टः ? **अतिनिर्मलः** प्रक्षीणाशेषकर्म मलः ॥५॥

तद्वाचिकां नाममालां दर्शयन्नाह—

निर्मलः केवलः शुद्धो विविक्तः प्रभुरव्ययः ।
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः ॥६॥

टीका—**निर्मल**. कर्ममलरहितः । **केवलः** शरीरादीनां सम्बन्धरहितः । **शुद्धः** द्रव्यभावकर्मणामभावात् परमविशुद्धिसमन्वित. । **विविक्तः** शरीरकर्मादिभिरसंस्पृष्टः । **प्रभुरिन्द्रा**दिनां स्वामी । **अव्ययो** लब्धानंतचतुष्टयस्वरूपादप्रच्युतः । **परमेष्ठी**-परमे इन्द्रादिवंद्ये पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी, स्थानशीलः । **परात्मा** संसारिजीवेभ्य उत्कृष्ट आत्मा । **इति** शब्द. प्रकारार्थे एवं प्रकारा ये शब्दास्ते परमात्मनो वाचकाः परमात्मेत्यादिना तानेव दर्शयति । **परमात्मा** सकल प्राणिभ्य उत्तम आत्मा । **ईश्वरः** इन्द्राद्यसम्भविना अन्तरङ्गबहिरङ्गेण परमैश्वर्येण सदैव सम्पन्नः **जिन.** सकलकर्मोन्मेलकः ॥६॥

इदानीं बहिरात्मनो देहस्यात्मत्वेनाध्यवसाये कारणमुपदर्शयन्नाह—

बहिरात्मेन्द्रियद्वारैरात्मज्ञानपराङ्मुखः ।
स्फुरितः स्वात्मनो+देहमात्मत्वेनाध्यवस्यति ॥७॥

टीका—**इन्द्रियद्वारै**रिन्द्रियमुखैः कृत्वा **स्फुरितो** बहिरर्थग्रहणे व्यापृतः

+ "स्फुरितश्चात्मनोदेह" इत्यपि पाठान्तरम् ।

सन् **बहिरात्मा** मूढात्मा । **आत्मज्ञानपराङ्मुखो** जीवस्वरूपज्ञानाद्बहिर्भूतो भवति । तथाभूतश्च सन्नसौ किं करोति ? **स्वात्मनो देहमात्मत्वेनाध्यवस्यति** आत्मीयं शरीरमेवाहमिति प्रतिपद्यते ॥७॥

तच्च प्रतिपद्यमानो मनुष्यादि चतुर्गतिसम्बन्धिशरीराभेदेन प्रतिपद्यते तत्र—

नरदेहस्थमात्मानमविद्वान् मन्यते नरम् ।
तिर्यञ्चं तिर्यगङ्गस्थं सुरांगस्थं सुरं तथा ॥८॥
नारकं नारकाङ्गस्थं न स्वयं तत्त्वतस्तथा ।
अनंतानंतधीशक्तिः स्वसंवेद्योऽचलस्थितिः ॥९॥

टीका—नरस्य देहो नरदेहः तत्र तिष्ठतीति नरदेहस्थस्त**मात्मानं नरं मन्यते** । कोऽसौ ? **अविद्वान्** बहिरात्मा । **तिर्यंचमात्मानं मन्यते** । कथंभूतं ? **तिर्यगङ्गस्थं** तिरश्चामङ्गं तिर्यगङ्गं तत्र तिष्ठतीति तिर्यगङ्गस्थस्तं । **सुराङ्गस्थं आत्मानं सुरं तथा** मन्यते ॥८॥ **नारकमात्मानं** मन्यते । किंविशिष्टं ? **नारकाङ्गस्थं** । **न स्वयं तथा** नरादिरूप आत्मा स्वयं कर्मोपाधिमंतरेण न भवति । कथं ? **तत्त्वतः** परमार्थतो न भवति । व्यवहारेण तु यदा भवति तदा भवतु । कर्मोपाधिकृता हि जीवस्य मनुष्यादिपर्यायास्तन्निवृत्तौ निवर्तमानत्वात् न पुनर्वास्तवा इत्यर्थः । परमार्थतस्तर्हि कीदृशोऽसावित्याह— **अनन्तानन्तधीशक्तिः** धीश्च शक्तिश्च धीशक्ती अनन्तानन्ते धी शक्ती यस्य । तथाभूतोऽसौ कुतः परिच्छेद्य इत्याह—**स्वसंवेद्यो** "निरुपाधिकं हि रूपं वस्तुनः स्वभावोऽभिधीयते" । कर्माद्यपाये चानन्तानन्तधीशक्तिपरिणत आत्मा स्वसंवेदनेन वेद्यः । तद्विपरीतपरिणत्यनुभवस्य संसारावस्थायां कर्मोपाधिनिर्मितत्वात् । अस्तु नाम तथा स्वसंवेद्यः कियत्कालमसौ न तु सर्वदा पश्चात् तद्रूपविनाशादित्याह—**अचलस्थितिः** अनंतानंतधीशक्तिस्वभावेनाचला स्थितिर्यस्य सः । यैः पुनर्योगसांख्यैर्मुक्तौ तत्प्रच्युतिरात्मनोऽभ्युपगता ते **प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च मोक्षविचारे** विस्तरतः प्रत्याख्याताः ॥९॥

स्वदेहे एवमध्यसायं कुर्वाणो बहिरात्मा परदेहे कथंभूतं करोतीत्याह—

स्वदेहसदृशं दृष्ट्वा परदेहमचेतनम् ।
परात्माधिष्ठितं मूढः परत्वेनाध्यवस्यति ॥१०॥

टीका—व्यापारव्याहाराकारादिना **स्वदेहसदृशं परदेहं दृष्ट्वा** । कथम्भूतं ? परात्मनाऽधिष्ठितं कर्मवशात्स्वीकृतं अचेतनं चेतनेनसंगतं **मूढो** बहिरात्मा **परत्वेन** परात्मत्वेन **अध्यवस्यति** ॥१०॥

एवंविधाध्यवसायात्किं भवतीत्याह—

स्वपराध्यवसायेन देहेष्वविदितात्मनाम् ।
वर्तते विभ्रमः पुंसां पुत्रभार्यादिगोचरः ॥११॥

टीका—**विभ्रमो** विपर्यासः **पुंसां वर्तते** । किं विशिष्टानां ? **अविदितात्मनां** अपरिज्ञातात्मस्वरूपाणां । केन कृत्वाऽसौ वर्तते ? **स्वपराध्यवसायेन** । क्व ? **देहेषु** । कथम्भूतो विभ्रमः ? **पुत्रभार्यादिगोचरः** । परमार्थतोऽनात्मीयमनुपकारकमपि पुत्रभार्याधनधान्यादिकमात्मीयमुपकारकं च मन्यते । तत्सम्पत्तौ संतोषं तद्वियोगे च महासन्तापमात्मवधादिकं च करोति ॥११॥

एवंविधविभ्रमाच्च किं भवतीत्याह—

अविद्यासंज्ञितस्तस्मात्संस्कारो जायते दृढः ।
येन लोकोऽङ्गमेव स्वं पुनरप्यभिमन्यते ॥१२॥

टीका—तस्माद्विभ्रमाद् बहिरात्मनि **संस्कारो** वासना **दृढोऽ**विचलो **जायते** । किन्नामा ? **अविद्यासंज्ञितः** अविद्या संज्ञाऽस्य संजातेति 'तारकादिभ्य इतच्' । **येन** संस्कारेण कृत्वा **लोको**ऽविवेकिजनः । **अंगमेव** शरीरमेव । **स्वं** आत्मानं । **पुनरपि** जन्मान्तरेऽपि । **अभिमन्यते** ॥१२॥

एवमभिमन्यमानश्चासौ किं करोतीत्याह—

देहे स्वबुद्धिरात्मानं युनक्त्येतेन निश्चयात् ।
स्वात्मन्येवात्मधीस्तस्माद्वियोजयति देहिनं ॥१३॥

टीका—**देहे स्वबुद्धि**रात्मबुद्धिर्बहिरात्मा किं करोति ? **आत्मानं युनक्ति** सम्बद्धं करोति देहिनं दीर्घसंसारिणं करोतीत्यर्थः केन ? **एतेन** देहेन । **निश्चयात्** परमार्थेन । **स्वात्मन्येव** जीवस्वरूपे एव **आत्मधी**रन्तरात्मा । निश्चयाद्वियोजयति असम्बद्धं करोति ॥१३॥

देहेष्वात्मानं योजयतश्च बहिरात्मनो दुर्विलसितोपदर्शनपूर्वकमाचार्योऽनुशयं कुर्वन्नाह—

देहेष्वात्मधिया जाताः पुत्रभार्यादिकल्पनाः ।
सम्पत्तिमात्मनस्ताभिर्मन्यते हा हतं ! जगत् ॥१४॥

टीका—**जाताः** प्रवृत्ताः । काः ? **पुत्रभार्यादिकल्पनाः** । क्व ? **देहेषु** । कया ? **आत्मधिया** । क्व ? देहेष्वेव । अयमर्थः—पुत्रादिदेहं जीवत्वेन प्रतिपद्यमानस्य मत्पुत्रो भार्येत्यादिकल्पना विकल्पा जायन्ते । **ताभि**श्चानात्मनीयाभिरनुपकारिणीभिश्च । **सम्पत्तिं** पुत्रभार्यादिविभूत्यतिशयं **आत्मनो मन्यते** जगत्-कर्तृ स्वस्वरूपाद् बहिर्भूतं जगत् बहिरात्मा प्राणिगणः हा हतं नष्टं स्वस्वरूप-परिज्ञानाद् ॥१४॥

इदानीमुक्तमर्थमुपसंहृत्यात्मन्यन्तरात्मनोऽनुप्रवेशं दर्शयन्नाह—

मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः ।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः ॥१५॥

टीका—**मूलं** कारणं । कस्य ? **संसारदुःखस्य** । काऽसौ ? **देह एवात्मधीः** देहः कायः स एवात्मधीः । यत एवं **ततस्**तस्मात्कारणात् । **एनां** देह एवात्मबुद्धिं । **त्यक्त्वा अन्तः प्रविशेत्** आत्मन्यात्मबुद्धिं कुर्यात् अन्तरात्मा भवेदित्यर्थः । कथंभूतः सन् ? **बहिरव्यापृतेन्द्रियः** बहिर्बाह्यविषयेषु अव्यापृतान्यप्रवृत्तानीन्द्रियाणि यस्य ॥१५॥

अन्तरात्मा आत्मन्यात्मबुद्धिं कुर्वाणोऽलब्धलाभात्संतुष्ट आत्मीयां बहिरात्मावस्थामनुस्मृत्य विषादं कुर्वन्नाह—

मत्तश्च्युत्वेन्द्रियद्वारैः पतितो (यतितो) विषयेष्वहम् ।
तान् प्रपद्याऽहमिति मां पुरा वेद न तत्त्वतः ॥१६॥

टीका—मत्तः आत्मस्वरूपात् । **च्युत्वा** व्यावृत्य । **अहं पतितः (यतितः)** अत्यासक्तया प्रवृत्तः । क्व ? **विषयेषु** । कैः कृत्वा ? **इन्द्रियद्वारैः** इन्द्रियमुखैः । ततस्तान् विषयान् **प्रपद्य** ममोपकारका एते इत्यतिगृह्यानुसृत्य । **मां** आत्मानं । **न वेद** न ज्ञातवान् । कथं ? अहमित्युल्लेखेन अहमेवाहं न शरीरादिकमित्येवं **तत्त्वतो** न ज्ञातवानित्यर्थः । कदा ? **पुरा** पूर्वं अनादिकाले ॥१६॥

अथात्मनो ज्ञप्तावुपायं दर्शयन्नाह—

एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषतः ।
एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः ॥१७॥

टीका—**एवं** वक्ष्यमाणन्यायेन । **बहिर्वाचं** पुत्रभार्याधनधान्यादि लक्षणान्बहिरर्थवाचकशब्दान् । **त्यक्त्वा** । **अशेषतः** साकल्येन । पश्चात् **अन्तर्वाचं** "अहं प्रतिपादकः, प्रतिपाद्यः, सुखी, दुःखी, चेतनावेत्यादिलक्षणमन्तर्जल्पं **त्यजेदशेषतः** । **एष** बहिरन्तर्जल्पत्यागलक्षणः । **योगः** स्वरूपे चित्तनिरोधलक्षणः समाधिः । **प्रदीपः** स्वरूपप्रकाशकः । कस्य ? **परमात्मनः** । कथं ? **समासेन** संक्षेपेण झटिति परमात्मस्वरूपप्रकाशक इत्यर्थः ॥१७॥

कुतः पुनर्बहिरन्तर्वाचस्त्यागः कर्तव्य इत्याह—

यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा ।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम् ॥१८॥

टीका—**रूपं** शरीरादिरूपं **यद् दृश्यते** इन्द्रियैः परिच्छेद्यते **मया तद**चेतनत्वात् उक्तमपि वचनं **सर्वथा न जानाति** । जानता च समं वचनव्यवहारो युक्तो नान्येनातिप्रसङ्गात् । यच्च **जानद् रूपं** चेतनमात्मस्वरूपं **तन्न दृश्यते** इन्द्रियैर्न परिच्छिद्यते । यत एवं **ततः केन सह ब्रवीम्यहम्** ॥१८॥

एवं बहिर्विकल्पं परित्याज्यान्तर्विकल्पं परित्याजयन्नाह—

यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान् प्रतिपादये ।
उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः ॥१९॥

टीका—**परैः** उपाध्यायादिभिरहं **यत्प्रतिपाद्यः परान्** शिष्यादीनहं **यत्प्रतिपादये तत्सर्वं मे उन्मत्तचेष्टितं** मोहवशादुन्मत्तस्येवाखिलं विकल्पजालात्मकं विजृम्भितमित्यर्थः । कुत एतत् ? **यदहं निर्विकल्पको** यद्यस्मादहमात्मा निर्विकल्पक एतैर्वचनविकल्पैरग्राह्यः ॥१९॥

तदेव विकल्पातीतं स्वरूपं निरूपयन्नाह—

यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नैव मुंचति ।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥२०॥

टीका—**यत्** शुद्धात्मस्वरूपं । **अग्राह्यं** कर्मोदयनिमित्तं क्रोधादिस्वरूपं । **न गृह्णाति** आत्मस्वरूपतया न स्वीकरोति । **गृहीतम**नन्तज्ञानादिस्वरूपं । **नैव मुञ्चति** कदाचिन्न परित्यजति । तेन च स्वरूपेण सहितं शुद्धात्मस्वरूपं किं करोति ? **जानाति** । किं विशिष्टं तत् ? **सर्वं** चेतनमचेतनं वा वस्तु । कथं जानाति ? **सर्वथा** द्रव्यपर्यायादिसर्वप्रकारेण । तदित्थम्भूतं स्वरूपं **स्वसंवेद्यं** स्वसंवेदनग्राह्यम् **अहमात्मा अस्मि** भवामि ॥२०॥

इत्थं भूतात्मपरिज्ञानात्पूर्वं कीदृशं मम चेष्टितमित्याह—

उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः स्थाणौ यद्वद्विचेष्टितम् ।
तद्वन्मे चेष्टितं पूर्वं देहादिष्वात्मविभ्रमात् ॥२१॥

टीका—**उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः** पुरुषोऽयमित्युत्पन्ना भ्रान्तिर्यस्य प्रतिपत्तुस्तस्य । **स्थाणौ** स्थाणुविषये । **यद्वद्** यत्प्रकारेण । **विचेष्टितं** विविधमुपकारापकारादिरूपं चेष्टितं विपरीतं वा चेष्टितं । **तद्वत्** तत्प्रकारेण । **मे चेष्टितं** । क्व ? **देहादिषु** । कस्मात् ? **आत्मविभ्रमात्** आत्मविपर्यासात् । कदा ? **पूर्वम्** उक्तप्रकारात्मस्वरूपपरिज्ञानात् ॥२१॥

साम्प्रतं तु तत्परिज्ञाने सति कीदृशं मे चेष्टितमित्याह—

यथाऽसौ चेष्टते स्थाणौ निवृत्ते पुरुषाग्रहे ।
तथाचेष्टोऽस्मि देहादौ विनिवृत्तात्मविभ्रमः ॥२२॥

टीका—**असौ** उत्पन्नपुरुषभ्रान्तिः **पुरुषाग्रहे** पुरुषाभिनिवेशे **निवृत्ते** विनष्टे सति **यथा** येन पुरुषाभिनिवेशजनितोपकारापकाराद्युद्यमकरणभूतेनपरित्यागप्रकारेण । **चेष्टते** प्रवर्तते । **तथाचेष्टोऽस्मि** तथा तदुद्यमपरित्यागप्रकारेण चेष्टा यस्यासौ तथाचेष्टोऽस्मि भवाम्यहम् । क्व ? **देहादौ** । किंविशिष्टः ? **विनिवृत्तात्मविभ्रमः** विशेषेण निवृत्त आत्मविभ्रमो यस्य । क्व ? **देहादौ** ॥२२॥

अथेदानीमात्मनि स्त्र्यादिलिङ्गैकत्वादिसंख्याविभ्रमनिवृत्त्यर्थं तद्विविक्ताऽसाधारणस्वरूपं दर्शयन्नाह—

येनात्मनाऽनुभूयेऽहमात्मनैवात्मनाऽऽत्मनि ।
सोऽहं न तन्न सा नासौ नैको न द्वौ न वा बहुः ॥२३॥

टीका— **येनात्मना** चैतन्यस्वरूपेण "इत्थंभावे तृतीया" । **अहमनुभूये** । केन कर्त्रा ? **आत्मनैव** अनन्येन । केन कारणभूतेन ? **आत्मना** स्वसंवेदनस्वभावेन । क्व ? **आत्मनि** स्वस्वरूपे । **सोऽहं** इत्थंभूतस्वरूपोऽहं । **न तत्** न नपुंसकं । **न सा** न स्त्री । **नासौ** न पुमान् अहं । तथा **नैको न द्वौ न वा बहुः** रहं । स्त्रीत्वादिधर्माणां कर्मोत्पादितदेहस्वरूपत्वात् ॥२३॥

येनात्मना त्वमनुभूयसे स कीदृशः इत्याह—

यदभावे सुषुप्तोऽहं यद्भावे व्युत्थितः पुनः ।
अतीन्द्रियमनिर्देश्यं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥२४॥

टीका—यस्य शुद्धस्य स्वसंवेद्यस्य रूपस्य अभावे अनुपलम्भे । **सुषुप्तो** यथावत्पदार्थपरिज्ञानाभावलक्षणनिद्रया गाढाक्रान्तः । **यद्भावे** यस्य तत्स्वरूपस्य भावे उपलम्भे । **पुनर्व्युत्थितः** विशेषेणोत्थितो जागरितोऽहं यथावत्स्वरूपपरिच्छित्तिपरिणत इत्यर्थः । किंविशिष्टं तत्स्वरूपं ? **अतीन्द्रियं** इन्द्रियैरजन्यमग्राह्यं च । **अनिर्देश्यं** शब्दविकल्पागोचरत्वादिदंतयाऽनिदन्तया वा

निर्देष्टुमशक्यम्। तदेवंविधं स्वरूपं कुतः सिद्धमित्याह—तत्**स्वसंवेद्यं** तदुक्तप्रकारकस्वरूपं स्वसंवेदनग्राह्यं अहमस्मीति ॥ ४॥

तत्स्वरूपं स्वसंवेदयतो रागादिप्रक्षयान्न क्वचिच्छत्रुमित्रव्यवस्था भवतीति दर्शयन्नाह—

क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मां प्रपश्यतः।
बोधात्मानं ततः कश्चिन्न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥२५॥

टीका—**अत्रैव** न केवलमग्रे किन्तु अत्रैव जन्मनि **क्षीयन्ते**। के ते? **रागाद्याः** आदौ भवः आद्यः राग आद्यो येषां द्वेषादीनां ते तथोक्ताः। किं कुर्वन्तस्ते क्षीयन्ते? **तत्त्वतो मां प्रपश्यतः**। कथम्भूतं मां? **बोधात्मानं** ज्ञानस्वरूपं। **तत** इत्यादि—यतो यथावदात्मानं पश्यतो रागादयः प्रक्षीणास्**तत**स्तस्मात् कारणात् **न मे कश्चिच्छत्रुः न च** नैव **प्रियो** मित्रम् ॥२५॥

यदित्वमन्यस्य कस्यचिन्न शत्रुर्मित्रं वा तथापि तवान्यः कश्चिद्भविष्यतीत्याशंक्याह—

मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः।
मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥२६॥

टीका—किं आत्मस्वरूपे प्रतिपन्नेऽप्रतिपन्ने वाऽयं **लोको** मयि शत्रुमित्रभावंप्रतिपद्यते? न तावदप्रतिपन्ने। **मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः।** अप्रतिपन्ने हि वस्तुस्वरूपे रागाद्युत्पत्तावतिप्रसङ्गः। नापि प्रतिपन्ने। यतः **मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः।** आत्मस्वरूपप्रतीतौ रागादिकप्रक्षयात् कथं क्वचिदपि शत्रुमित्रभावः स्यात्? ॥२६॥

अन्तरात्मनो बहिरात्मत्वत्यागे परमात्मत्वप्राप्तौ चोपायत्वं दर्शयन्नाह—

त्यक्त्वैवं बहिरात्मानमन्तरात्मव्यवस्थितः।
भावयेत्परमात्मानं सर्वसंकल्पवर्जितम् (तः) ॥२७॥

टीका—**एवमुक्तप्रकारेणान्तरात्मव्यवस्थितः** सन् **बहिरात्मानं त्यक्त्वा**

परमात्मानं भावयेत् । कथंभूतं ? **सर्वसंकल्पवर्जितं** विकल्पजालरहितं अथवा सर्वसंकल्पवर्जितः सन् भावयेत् ॥२७॥

तद्भावनायाः फलं दर्शयन्नाह—

सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः ।
तत्रैव दृढसंस्काराल्लभते ह्यात्मनि* स्थितिम् ॥२८॥

टीका—योऽनन्तज्ञानात्मकः प्रसिद्धः परमात्मा **सोऽहमित्येवमात्तसंस्कारः** आत्तो गृहीतः संस्कारो वासना येन । कया कस्मिन् ? **भावनया तस्मिन्** परमात्मनि भावनया सोऽहमित्यभेदाभ्यासेन । **पुनरित्यन्तर्गर्भितवीप्सार्थः** । पुनः पुनस्तस्मिन् भावनया । **तत्रैव** परमात्मन्येव **दृढसंस्कारात्** अविचलवासनावशात् । **लभते** प्राप्नोति ध्याता । हि स्फुटम् । **आत्मनि स्थितिं** आत्मन्यचलतां अनन्तज्ञानादिचतुष्टयरूपतां वा ॥२८॥

नन्वात्मभावनाविषये कष्टपरम्परासद्भावेन भयोत्पत्तेः कथं कस्यचित्तत्र प्रवृत्तिरित्याशङ्कां निराकुर्वन्नाह—

मूढात्मा यत्र विश्वस्तस्ततो नान्यद्भयास्पदम् ।
यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मनः ॥२९॥

टीका—**मूढात्मा** बहिरात्मा । **यत्र** शरीरपुत्रकलत्रादिषु । **विश्वस्तो**ऽवंचकाभिप्रायेण विश्वासं प्रतिपन्नः—मदीया येते अहमेतेषामिति बुद्धिं गत इत्यर्थः । **ततो नान्यद्भयास्पदं** ततः शरीरादेर्नान्यद्भयास्पदं संसारदुःखत्रासस्यास्पदं स्थानम् । **यतो भीतः** परमात्मस्वरूपसंवेदनाद्भीतः त्रस्तः । **ततो नान्यदभयस्थानं** ततः स्वसंवेदनात् नान्यत् अभयस्य संसारदुःखत्रासाभावस्य स्थानमास्पदम् । सुखास्पदं ततो नान्यदित्यर्थः ॥२९॥

तस्यात्मनः कीदृशः प्रतिपत्त्युपाय इत्याह—

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना ।
यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्त्वं परमात्मनः ॥३०॥

---

* ह्यात्मनः इति पाठान्तरं 'ग' प्रतौ ।

टीका—**संयम्य** स्वविषये गच्छन्ति निरुध्य । कानि ? **सर्वेन्द्रियाणि** पञ्चापीन्द्रियाणि । तदनन्तरं **स्तिमितेन** स्थिरीभूतेन । **अन्तरात्मना** मनसा । **यत्स्वरूपं भाति** । किं कुर्वतः ? **क्षणं पश्यतः** क्षणमात्रमनुभवतः बहुतरकालं मनसा स्थिरीकर्तुमशक्यत्वात् स्तोककालं मनो निरोधं कृत्वा पश्यतो यच्चिदानन्दस्वरूपं प्रतिभाति **तत्तत्त्वं** तद्रूपं तत्त्वं स्वरूपं **परमात्मनः** ॥३०॥

कस्मिन्नाराधिते तत्स्वरूपंप्राप्तिर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह—

यः परात्मा स एवाऽहं योऽहं स परमस्ततः ।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः* कश्चिदिति स्थितिः ॥३१॥

टीका—**यः** प्रसिद्धः पर उत्कृष्ट आत्मा **स एवाहं । योऽहं** यः स्वसंवेदनेन प्रसिद्धोऽहमन्तरात्मा **स परमः** परमात्मा । **ततो** यतो मया सह परमात्मनोऽभेदस्ततो**ऽहमेव मया उपास्य** आराध्यः । **नान्यः** कश्चिन्मयोपास्य **इति स्थितिः** । एवं स्वरूप एवाराध्याराधकभावव्यवस्था ॥३१॥

एतदेव दर्शयन्नाह—

प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं मां मयैव मयि स्थितम् ।
बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानन्दनिर्वृतम् ॥३२॥

टीका—**मामात्मानमहं प्रपन्नः प्राप्तोऽस्मि** भवामि । किं कृत्वा ? **प्रच्याव्य** व्यावर्त्य केभ्यः ? **विषयेभ्यः** । केन कृत्वा ? **मयैवा**त्मस्वरूपेणैव करणात्मना । क्व स्थितं मां प्रपन्नोऽहं ? **मयि स्थितं** आत्मस्वरूप एव स्थितम् । कथम्भूतं मां ? **बोधात्मानं** ज्ञानस्वरूपम् । पुनरपि कथम्भूतम् ? **परमानन्दनिर्वृतं** परमश्चासावानन्दश्च सुखं तेन निर्वृत्तं सुखीभूतम् । अथवा **परमानन्दनिर्वृतो**ऽहम् ॥३२॥

एवमात्मानं शरीराद्भिन्नं यो न जानाति तं प्रत्याह—

यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम् ।
लभते स न निर्वाणं तप्त्वाऽपि परमं तपः ॥३२॥

---

* 'नाज्ञः' इति पाठान्तरं 'ग' प्रतौ ।

टीका—**यः** प्रतिपन्नाद् **देहात्परं भिन्नमात्मानमेवमुक्तप्रकारेण न वेत्ति**। किं विशिष्टम्? **अव्ययं** अपरित्यक्तानन्तचतुष्टयस्वरूपम्। **स** प्रतिपन्नाऽत्र **निर्वाणं लभते**। किं कृत्वा? **तप्त्वाऽपि**। किं तत्? **परमं तपः** ॥३३॥

ननु परमतपोऽनुष्ठायिनां महादुःखोत्पत्तितो मनः खेदसद्भावात्कथं निर्वाणप्राप्तिरिति वदन्तं प्रत्याह—

आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताल्हादनिर्वृतः।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खिद्यते ॥३४॥

टीका—आत्मा च देहश्च तयोरन्तरज्ञानं भेदज्ञानं तेन जनितश्चासावाल्हादश्च परमप्रसत्तिस्तेन निर्वृतः सुखीभूतः सन् **तपसा** द्वादशविधेन कृत्वा। **दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि** दुष्कर्मणो रौद्रस्य विपाकमनुभवन्नपि **न खिद्यते** न खेदं गच्छति ॥३४॥

खेदं गच्छतामात्मस्वरूपोपलम्भाभावं दर्शयन्नाह—

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनो जलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं स तत्त्वं* नेतरो जनः ॥३५॥

टीका—रागद्वेषादय एव कल्लोलास्तैरलोलमचञ्चलमकलुषं वा। **यन्मनोजलं** मन एव जलं मनोजलं यस्य मनोजलम् यन्मनोजलम्। **स** आत्मा। **पश्यति**। **आत्मनस्तत्त्वमात्मनः** स्वरूपम्। **स तत्त्वम्**। स आत्मदर्शी तत्त्वं परमात्मस्वरूपम्। **नेतरो जनः** रागादि परिणतः [अन्यः अनात्मदर्शी जनः] तत्त्वं न भवति ॥३५॥

किं पुनस्तत्त्वशब्देनोच्यत इत्याह—

अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं विक्षिप्तं भ्रान्तिरात्मनः।
धारयेत्तदविक्षिप्तं विक्षिप्तं नाश्रयेत्ततः ॥३६॥

टीका—**अविक्षिप्तं** रागाद्यपरिणतं देहादिनाऽऽत्मनोऽभेदाध्यवसाय-

---

* तत्तत्त्वं, इति पाठान्तरं 'क' पुस्तके।

परिहारेण स्वस्वरूप एव निश्चलतां गतम् । इत्थंभुतं **मनः तत्त्वं वास्तवं रूपमात्मनः** । **विक्षिप्तं** उक्तविपरीतं मनो भ्रान्तिरात्मस्वरूपं न भवति । यत एवं तस्मात् **धारयेत्** किं तत् ? मनः । कथम्भूतम् ? **अविक्षिप्तं । विक्षिप्तं पुनस्तत् नाश्रयेत्न** धारयेत् ।।३६।।

कुतः पुनर्मनसो विक्षेपो भवति कुतश्चाविक्षेप इत्याह—

अविद्याभ्याससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः ।
तदेव ज्ञानसंस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते ।।३७।।

टीका—शरीरादौ शुचिस्थिरात्मीयादिज्ञानान्यविद्यास्तासामभ्यासः पुनः पुनः प्रवृत्तिस्तेन जनिताः संस्कारा वासनास्तैः कृत्वा । **अवशं** विषयेन्द्रियाधीनमनात्मायत्तमित्यर्थः । **क्षिप्यते** विक्षिप्तं भवति **मनः । तदेव मनः ज्ञानसंस्कारै**रात्मनः शरीरादिभ्यो भेदज्ञानाभ्यासैः । **स्वतः** स्वयमेव । **तत्त्वे** आत्मस्वरूपे **अवतिष्ठते** ।।३७।।

चित्तस्ये विक्षेपेऽविक्षेपे च फलं दर्शयन्नाह—

अपमानादयस्तस्य विक्षेपो यस्य चेतसः ।
नापमानादयस्तस्य न क्षेपो यस्य चेतसः ।।३८।।

टीका—अपमानो महत्त्वखंडनं अवज्ञा च स आदिर्येषां मदेर्ष्यामात्सर्यादीना ते **अपमानादयो** भवन्ति । **यस्य चेतसो विक्षेपो** रागादिपरिणतिर्भवति । **यस्य** पुनश्चेतसो न **क्षेपो** विक्षेपो नास्ति । **तस्य नापमानादयो** भवन्ति ।।३८।।

अपमानादीनां चापगमे उपायमाह—

यदा मोहात्प्रजायेते रागद्वेषौ तपस्विनः ।।
तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं शाम्यतः क्षणात् ।।३९।।

टीका—**मोहान्**मोहनीयकर्मोदयात् । **यदा प्रजायेते** उत्पद्येते । **कौ ? रागद्वेषौ** । कस्य ? **तपस्विनः । तदैव** रागद्वेषोदयकाल एव । **आत्मानं स्वस्थ** बाह्यविषयाद्व्यावृत्तस्वरूपस्थं **भावयेत् । शाम्यत** उपशमं गच्छतः । रागद्वेषौ । **क्षणात्** क्षणमात्रेण ।।३९।।

तत्र रागद्वेषयोर्विषयं विपक्षं च दर्शयन्नाह—

यत्र काये मुनेः प्रेम ततः प्रच्याव्य देहिनम् ।
बुद्ध्या तदुत्तमे काये योजयेत्प्रेम नश्यति ।।४०।।

टीका—**यत्रा**त्मीये परकीये वा **काये** वा शरीरेइन्द्रियविषयसङ्घाते । **मुनेः प्रेम** स्नेहः । **ततः** तायात् **प्रच्याव्य** व्यावर्त्य । **देहिनं** आत्मानम् । कया ? **बुद्धया** विवेकज्ञानेन । पश्चात्त**दुत्तमे** काये तस्मात् प्रागुक्तकायादुत्तमे चिदानन्दमये । काये आत्मस्वरूपे । **योजयेत्** । कया कृत्वा ? **बुद्धया** अन्तर्दृष्टया । ततः किं भवति ? **प्रेम नश्यति** कायस्नेहो न भवति ।।४०।।

तस्मिन्नष्टे किं भवतीत्याह—

आत्मविभ्रमजं दुःखमात्मज्ञानात्प्रशाम्यति ।
नाऽयतास्तत्र निर्वान्ति कृत्वापि परमं तपः ।।४१।।

टीका—**आत्मविभ्रमजं** आत्मनो विभ्रमोऽनात्मशरीरादावात्मेति ज्ञानं । तस्माज्जातं यत् **दुःखं** तत्**प्रशाम्यति** । कस्मात् ? **आत्मज्ञानात्** शरीरादिभ्यो भेदेनात्मस्वरूपवेदनात् । ननु दुर्धरतपोऽनुष्ठानान्मुक्तिसिद्धेरेतस्तद्दुःखोपशमो न भविष्यतीति वदन्तं प्रत्याह—नेत्यादि । **तत्र** आत्मस्वरूपे **अयताः** अयत्नपराः । **न निर्वान्ति** न निर्वाणं गच्छंति सुखिनो वा न भवन्ति । **कृत्वापि** तप्त्वाऽपि । किं तत् ? **परमं तपः** दुर्द्धरानुष्ठानम् ।।४१।।

तच्च कुर्वाणो बहिरात्मा अन्तरात्मा च किं करोतीत्याह—

शुभं शरीरं दिव्यांश्च विषयानभिवाञ्छति ।
उत्पन्नाऽऽत्ममतिर्देहे तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम् ।।४२।।

टीका—**देहे उत्पन्नात्ममति**र्बहिरात्मा । **अभिवाञ्छति** अभिलषति । किं तत् ? **शुभं शरीरं** । **दिव्यांश्च** उत्तमान् स्वर्गसम्बन्धिनो वा विषयान् अन्तरात्मा किं करोतीत्याह—**तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम्** । **तत्त्वज्ञानी** विवेकी अन्तरात्मा । **ततः** शरीरादेः । **च्युतिं** व्यावृत्तिं मुक्तिरूपां अभिवाञ्छति ।।४२।।

तत्त्वज्ञानीतरयोर्बन्धकत्वाबन्धकत्वे दर्शयन्नाह—

परत्राहम्मतिः स्वस्माच्च्युतो बध्नात्यसंशयम् ।
स्वस्मिन्नहम्मतिश्च्युत्वा परस्मान्मुच्यते बुधः ॥४३॥

टीका—**परत्र** शरीरादौ **अहम्मतिरा**त्मबुद्धिर्बहिरात्मा । **स्वस्मा**दात्मस्वरूपात् । **च्युतो** भ्रष्टः सन् । **बध्नाति** कर्मबन्धनबद्धं करोत्यात्मानं । **असंशयं** यथा भवति तथा नियमेन बध्नातीत्यर्थः । **स्वस्मि**न्नात्मस्वरूपे **अहम्मतिः** बुद्धोऽन्तरात्मा । **परस्मा**च्छरीरादेः **च्युत्वा** पृथग्भूत्वा । **मुच्यते** सकलकर्मबन्धरहितो भवति ॥४३॥

यत्राहम्मतिर्बहिरात्मनो जाता तत्तेन कथमध्यवसीयते ? यत्र चान्तरात्मनस्तत्तेन कथमित्याशंक्याह—

दृश्यमानमिदं मूढस्त्रिलिङ्गमवबुध्यते ।
इदमित्यवबुद्धस्तु निष्पन्नं शब्दवर्जितम् ॥४४॥

टीका—**दृश्यमानं** शरीरादिक । किं विशिष्टं ? **त्रिलिङ्गं** त्रीणि स्त्रीपुंनपुंसकलक्षणानि लिङ्गानि यस्य तत् दृश्यमानं त्रिलिङ्गं सत् । मूढो बहिरात्मा । **इद**मात्मतत्त्वं **त्रिलिङ्गं** मन्यते दृश्यमानादभेदाध्यवसायेन । यः पुनरवबुद्धोऽन्तरात्मा स **इद**मात्मतत्त्वमित्येवं मन्यते । न पुनस्त्रिलिङ्गतया । तस्याः शरीरधर्मतया आत्मस्वरूपत्वाभावात् । कथम्भूतमिदमात्मस्वरूपं ! **निष्पन्न**मनादिसंसिद्धम् तथा **शब्दवर्जितं** विकल्पाभिधानाऽगोचरम् ॥४४॥

ननु यद्यन्तरात्मैवात्मानं प्रतिपद्यते तदा कथं पुमानहं गौरोऽहं' मित्यादिरूपं, तस्य कदाचिदभेदभ्रांतिः स्यात् इति वदन्तं प्रत्याह—

जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं विविक्तं भावयन्नपि ।
पूर्वविभ्रमसंस्काराद् भ्रांतिं भूयोऽपि गच्छति ॥४५॥

टीका—**आत्मनस्तत्त्वं** स्वरूपं **जानन्नपि** । तथा **विविक्तं** शरीरादिभ्यो भिन्नं **भावयन्नपि** उभयत्राऽपिशब्दः परस्परसमुच्चये । **भूयोऽपि** पुनरपि । **भ्रांन्ति गच्छति** । कस्मात् ? **पूर्वविभ्रमसंस्कारात्** पूर्वविभ्रमो बहिरात्मावस्थाभावी शरीरादौ स्वात्मविपर्यासस्तेन जनितः सस्कारो वासना तस्मात् ॥४५॥

भूयो भ्रान्ति गतोऽसौ कथ मां त्यजेदित्याह—

अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः ।
क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः ॥४६॥

टीका—**इदं** शरीरादिकं **दृश्यमिन्द्रियैः** प्रतीयमानं । **अचेतनं** जडं रोषतोषादिकं कृतं न जानन्तीत्यर्थः **यच्चेतन**मात्मस्वरूपं **तदृश्य**मिन्द्रियग्राह्यं न भवति । **ततः** यतो रोषतोषविषयं दृश्यं शरीरादिकमचेतनं चेतनं स्वात्म-स्वरूपमदृश्यत्वात्तद्विषयमेव न भवति ततः **क्व रुष्यामि क्व तुष्याम्यहं** । **अतः** यतो रोषतोषयोः कश्चिदपि विषयो न घटते **अतः मध्यस्थः** उदासीनोऽहं **भवामि** ॥४६॥

इदानीं मूढात्मनोऽन्तरात्मनश्च त्यागोपादानविषयं प्रदर्शयन्नाह—

त्यागादाने बहिर्मूढः करोत्यध्यात्ममात्मवित् ।
नान्तर्बहिरुपादानं न त्यागो निष्ठितात्मनः ॥४७॥

टीका—मूढा बहिरात्मा त्यागादाने करोति । क्व ? **बहिर्बाह्ये** हि वस्तुनि द्वेषोदयादभिलाषाभावान्मूढात्मा त्यागं करोति । रागोदयात्तत्राभि-लाषोत्पत्तेरुपादानमिति । **आत्मवित्** अन्तरात्मा पुनरध्यात्मं स्वात्मरूप एव त्यागादाने करोति । तत्र हि त्यागो रागद्वेषादेरन्तर्जल्पविकल्पादेर्वा । स्वीकार-श्चिदानन्दादेः । यस्तु निष्ठितात्मा कृतकृत्यात्मा तस्य **अन्तर्बहिर्वा नोपादानं** तथा **न त्यागो**ऽन्तर्बहिर्वा ॥४७॥

अन्तस्त्यागोपादाने वा कुर्वाणोऽन्तरात्मा कथं कुर्यादित्याह—

युञ्जीत मनसाऽऽत्मानं वाक्कायाभ्यां वियोजयेत् ।
मनसा व्यवहारं तु त्यजेद्वाक्काययोजितम् ॥४८॥

टीका—**आत्मानं युञ्जीत** सम्बद्धं कुर्यात् । केन सह ? **मनसा** मानस-ज्ञानेन चित्तमात्मेत्यभेदेनाध्यवसेदित्यर्थः । **वाक्कायाभ्यां** तु पुन**र्वियोजयेत्** पृथ-क्कुर्यात् वाक्काययोरात्माभेदाध्यवसायं न कुर्यादित्यर्थः । एतच्च कुर्वाणो **व्यवहारं** तु प्रतिपाद्य प्रतिपादकभावलक्षणं प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपं वा । **वाक्काययोजितं**

वाक्कायाभ्यां योजितं सम्पादितं । केन सह ? **मनसा** सह मनस्यारोपित **व्यवहारं** मनसा **त्यजेत्** चित्तेन न चिन्तयेत् ॥४८॥

ननु पुत्रकलत्रादिना सह वाक्कायव्यवहारे तु सुखोत्पत्तिः प्रतीयते कथं तत्त्यागो युक्त इत्याह—

जगद्देहात्मदृष्टीनां विश्वास्यं रम्यमेव च ।
स्वात्मन्येवात्मदृष्टीनां क्व विश्वासः क्वा वा रतिः ॥४९॥

टीका—**देहात्मदृष्टीनां** बहिरात्मनां **जगत्** पुत्रकलत्रादिप्राणिगणो **विश्वास्यमवञ्चकं । च रम्यमेव** रमणीयमेव प्रतिभाति । **स्वात्मन्येव** स्वस्वरूपे एवात्म**दृष्टीनां** अन्तरात्मनां **क्व विश्वासः क्व वा रतिः** ? न क्वापि पुत्रकलत्रादौ तेषां विश्वासो रतिर्वा प्रतिभातीत्यर्थः ॥४९॥

नत्वेवमाहारादावप्यन्तरात्मनः कथं प्रवृत्तिः स्यादित्याह—

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम् ।
कुर्यादर्थवशात्किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥५०॥

टीका—**चिरं** बहुतरं कालं **बुद्धौ न धारयेत्** । किं तत् ? **कार्यं** । कथम्भूतम् ? **परमन्यत्** । कस्मात् ? **आत्मज्ञानात्** । आत्मज्ञानलक्षणमेव कार्यं बुद्धौ चिरं धारयेदित्यर्थः परमपि **किञ्चिद्** भोजनव्याख्यानादिकं वाक्कायाभ्यां **कुर्यात्**। कस्मात् ? **अर्थवशात्** स्वपरोपकारलक्षणप्रयोजनवशात् । किंविशिष्टः ? **अतत्परः** तदनासक्तः ॥५०॥

तदनासक्तः कुतः पुनरात्मज्ञानमेव बुद्धौ धारयेन्न शरीरादिकमित्याह—

यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति यन्नियतेन्द्रियः ।
अन्तः पश्यामि सानन्दं तदस्तु ज्योतिरुत्तमम् ॥५१॥

टीका—**यच्छ**रीरादिक**मिन्द्रियैः पश्यामि तन्मे नास्ति** मदीयं रूपं तन्न भवति । तर्हि किं मम रूपम् ? **तदस्तु ज्योतिरुत्तमं** ज्योतिर्ज्ञानमुत्तममतीन्द्रियम् । तथा **सानन्दं** परमप्रसत्तिसमुद्भूतसुखसमन्वितम् । एवं विधं **ज्योति-**

रन्तः पश्यामि स्वसंवेदनेनानुभवामि यत्तन्मे स्वरूपमस्तु भवतु किंविशिष्टः पश्यामि ? **नियतेन्द्रियो** नियन्त्रितेन्द्रियः ॥५१॥

ननु सानन्दं ज्योतिर्यद्यात्मनो रूपं स्यात्तदेन्द्रियनिरोधं कृत्वा तदनुभवतः कथं दुःखं स्यादित्याह—

सुखमारब्धयोगस्य बहिर्दुःखमथाऽऽत्मनि ।
बहिरेवाऽसुखं सौख्यमध्यात्मं भावितात्मनः ॥५२॥

टीका—**बहिर्**बाह्यविषये **सुखं** भवति । कस्य ? **आरब्धयोगस्य** प्रथममात्मस्वरूपभावनोद्यतस्य । **अथ** आहो । **आत्मनि** आत्मस्वरूपे **दुःखं** तस्य भवति । **भावितात्मनो** यथावद्विदितात्मस्वरूपे कृताभ्यासस्य । **बहिरेव** बाह्यविषयेष्वेवा**ऽसुखं** भवति । अथ आहो । **सौख्यं अध्यात्मं** तस्याध्यात्मस्वरूप एव भवति ॥५२॥

तद्भावनां चेत्थं कुर्यादित्याह—

तद् ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत् ।
येनाऽविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत् ॥५३॥

टीका—**तत्** आत्मस्वरूपं **ब्रूयात्** परं प्रतिपादयेत् । **तदा**त्मस्वरूपं **परान्** विदितात्मस्वरूपान् **पृच्छेत्** । तथा **तदा**त्मस्वरूपं **इच्छेत्** परमार्थतः सन् मन्यते । **तत्परो भवेत्** आत्मस्वरूपभावनातत्परो भवेत् । **येना**त्मस्वरूपेणेत्थं भावितेन । **अविद्यामयं** स्वरूपं वहिरात्मस्वरूपम् । **त्यक्त्वा विद्यामयं** रूपं परमात्मस्वरूपं **व्रजेत्** ॥५३॥

ननु वाक्कायव्यतिरिक्तस्याऽऽत्मनोऽसम्भवात् "तद्ब्रूयादि"त्याद्ययुक्तमिति वदन्तं प्रत्याह—

शरीरे वाचि चात्मानं सन्धत्ते वाक्शरीरयोः ।
भ्रान्तोऽभ्रान्तः पुनस्तत्त्वं पृथगेषां निबुध्यते ॥५४॥

टीका—**सन्धत्ते** आरोपयति । कं **आत्मानम्** । क्व ? **शरीरे वाचि च** । कोऽसौ ? मूढः **वाक्शरीरयोर्भ्रान्तो** वागात्मा शरीरमात्मेत्येवं विपर्यस्तो

बहिरात्मा। तयोरभ्रान्तो यथावत्स्वरूपपरिच्छेदकोऽन्तरात्मा **पुनः** एषां वाक्शरीरात्मनां **तत्त्वं** स्वरूप **पृथक्** परस्परभिन्नं निबुद्ध्यते निश्चिनोति ॥५४॥

एवमवबुद्ध्यमानो मूढात्मा येषु विषयेष्वासक्तचित्तो न तेषु मध्ये किञ्चित्तस्योपकारकमस्तीत्याह—

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु यत्क्षेमङ्करमात्मनः ।
तथापि रमते बालस्तत्रैवाज्ञानभावनात् ॥५५॥

टीका—**इन्द्रियार्थेषु** पचेन्द्रियविषयेषु मध्ये **न तत्किञ्चिदस्ति यत् क्षेमङ्करमुपकारकम्** । कस्य ? **आत्मनः** । यद्यपि क्षेमङ्करं किञ्चिन्नास्ति । **तथापि रमते** रतिं करोति । कोऽसौ ? **बालो** बहिरात्मा **तत्रैव** इन्द्रियार्थेष्वेव । कस्मात् ? **अज्ञानभावनात्** मिथ्यात्वसंस्कारवशात् अज्ञानं भाव्यते जन्यते येनासावज्ञानभावनो मिथ्यात्वसंस्कारस्तस्मात् ॥५५॥

तथा अनादिमिथ्यात्वसंस्कारे सत्येवम्भूता बहिरात्मानो भवन्तीत्याह—

चिरं सुषुप्तास्तमसि मूढात्मानः कुयोनिषु ।
अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जाग्रति ॥५६॥

टीका—**चिरमनादिकालं मूढात्मानो** बहिरात्मानः **सुषुप्ता** अतीव जडतां गताः । केषु ? **कुयोनिषु** नित्यनिगोदादिचतुरशीतिलक्षयोनिष्वधिकरणभूतेषु । कस्मिन् सति ते सुषुप्ताः ? **तमसि** अनादिमिथ्यात्वसंस्कारे सति एवम्भूतास्ते यदि संज्ञिषूत्पद्य कदाचिद्दैववशात् बुध्यन्ते तदा **ममाहमिति जाग्रति** । केषु ? **अनात्मीयात्मभूतेषु**—अनात्मीयेषु परमार्थतोऽनात्मीयभूतेषु पुत्रकलत्रादिषु ममैते इति जाग्रति अध्यवस्यन्ति । **अनात्मभूतेषु** शरीरादिषु **अहमेवैते इति जाग्रति** अध्यवस्यन्ति ॥५६॥

ततो बहिरात्मस्वरूपं परित्यज्य स्वपरशरीरमित्थं पश्येदित्याह—

पश्येन्निरंतरं देहमात्मनोऽनात्मचेतसा ।
अपरात्मधियाऽन्येषामात्मतत्त्व* व्यवस्थितः ॥५७॥

---

* 'आत्मतत्त्वव्यवस्थितः' इति पाठान्तरं 'ग' प्रतौ ।

टीका—**आत्मनो देह**मात्मसम्बन्धिशरीरं **अनात्मचेतसा** इदं ममात्मा न भवतीति बुद्धया अन्तरात्मा **पश्येत्** । **निरन्तरं** सर्वदा । तथा अन्येषां देहं परेषामात्मा न भवतीति बुद्धया पश्येत् । किं विशिष्टः ? **आत्मतत्त्वे व्यवस्थितः** आत्मस्वरूपनिष्ठः ॥५७॥

नन्वेवमात्मतत्त्वं स्वयमनुभूय मूढात्मनां किमिति न प्रतिपाद्यते येन तेऽपि तज्जानन्त्विति वदन्तं प्रत्याह—

अज्ञापितं न जानन्ति यथा मां ज्ञापितं तथा ।
मूढात्मानस्ततस्तेषां वृथा मे ज्ञापनश्रमः ॥५८॥

टीका—**मूढात्मानो मां** आत्मस्वरूप**मज्ञापित**मप्रतिपादितं **यथा न जानन्ति** मूढात्मत्वात् । **तथा ज्ञापितमपि** मां ते मूढात्मत्वादेव न जानन्ति । **तत-स्तेषां** सर्वथा परिज्ञानाभावात् । **तेषां** मूढात्मनां सम्बंधित्वेन **वृथा मे ज्ञापनश्रमो** विफलो मे प्रतिपादनप्रयासः ॥५८॥

किंच—

यद् बोधयितुमिच्छामि तन्नाहं यदहं पुनः ।
ग्राह्यं तदपि नान्यस्य तत्किमन्यस्य बोधये ॥५९॥

टीका—**यत्** विकल्पाधिरूढमात्मस्वरूपं देहादिकं वा **बोधयितुं** ज्ञापयितु**मिच्छामि** । **तन्नाहं** तत्स्वरूप, नाहमात्मस्वरूप परमार्थतो भवामि । **यदहं पुनः** यत्पुनरहं चिदानन्दात्मक स्वसंवेद्यमात्मस्वरूपं । **तदपि ग्राह्यं नान्यस्य** स्वसंवेदने न तदनुभूयत इत्यर्थः । **तत्किमन्यस्य बोधय** तत्तस्मात्किं किमर्थं अन्यस्यात्मस्वरूपं बोधयेऽहम् ॥५९॥

बोधितेऽपि चान्तस्तत्त्वे बहिरात्मनो न तत्रानुरागः सम्भवति । मोहोदयात्तस्य बहिरर्थ एवानुरागादिति दर्शयन्नाह—

बहिस्तुष्यति मूढात्मा पिहितज्योतिरन्तरे ।
तुष्यत्यन्तः प्रबुद्धात्मा बहिर्व्यावृत्तकौतुकः ॥६०॥

टीका—**बहिः** शरीराद्यर्थे **तुष्यति** प्रीतिं करोति । कोऽसौ ? **मूढात्मा** ।

कथम्भूतः ? **पिहितज्योतिर्मो**हाभिभूतज्ञानः । क्व ? **अन्तरे** अन्तस्तत्त्वविषये ! **प्रबुद्धात्मा** मोहाभिभूतज्ञानः **अन्तस्तुष्यति** स्वस्वरूपे प्रीतिं करोति । किं विशिष्टः सन् ? **बहिर्व्यावृत्तकौतुकः** शरीरादौ निवृत्तानुरागः ॥६०॥

कुतोऽसौ शरीरादिविषये निवृत्तभूषणमण्डनादिकौतुक इत्याह—

न जानन्ति शरीराणि सुखदुःखान्यबुद्धयः ।
निग्रहानुग्रहधियं तथाप्यत्रैव कुर्वते ॥६१॥

टीका—**सुखदुःखानि न जानन्ति** । कानि **शरीराणि** जडत्वात् । **अबुद्धयो** बहिरात्मानः । **तथापि** यद्यपि जानन्ति तथापि । **अत्रैव** शरीरादावेव **कुर्वते** । कां ? **निग्रहानुग्रहधियं** द्वेषवशादुपवासादिना शरीरादेः कदर्थनाभिप्रायो निग्रहबुद्धिं रागवशात्कटककटिसूत्रादिना भूषणाभिप्रायोऽनुग्रहबुद्धिम् ॥६१॥

यावच्च शरीरादावात्मबुद्धया प्रवृत्तिस्तावत्संसारः तदभावान्मुक्तिरिति-दर्शयन्नाह—

यावद् स्वबुद्ध्या गृण्हीयात् कायवाक्चेतसां त्रयम् ।
संसारः तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः ॥६२॥

टीका—**स्वबुद्धया** आत्मबुद्धया **यावद् गृण्हीयात्** । किं ? **त्रयम्** । केषाम् ? **कायवाक्चेतसां** सम्बन्धमिति पाठः । तत्र कायवाक्चेतसां त्रयं कर्तृ । आत्मनि यावत्सम्बन्धं गृण्हीयात्स्वीकुर्यादित्यर्थः । **तावत्संसारः** । **एतेषां** कायवाक्चेतसां **भेदाभ्यासे तु** आत्मनः सकाशात् कायवाक्चेतांसि भिन्नानीति भेदाभ्यासे भेदभावनायां तु पुनर्निर्वृत्तिः मुक्तिः ॥६२॥

शरीरादावात्मनो भेदाभ्यासे च शरीरदृढतादावात्मनो दृढतादिकं मन्यते इति दर्शयन् घनेत्यादि श्लोकचतुष्टयमाह—

घने वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न घनं मन्यते तथा ।
घने स्वदेहेऽप्यात्मानं न घनं मन्यते बुधः ॥६३॥

टीका—**घने** निविडावयवे **वस्त्रे** प्रावृते सति **आत्मानं घनं** दृढावयवं

यथा बुधो न मन्यते । तथा स्वदेहेऽपि घने दृढे आत्मानं घनं दृढं बुधो न मन्यते ॥६३॥

जीर्णे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न जीर्णं मन्यते तथा ।
जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मानं न जीर्णं मन्यते बुधः ॥६४॥

टीका—जीर्णे पुराणे वस्त्रे प्रावृते यथाऽऽत्मानं जीर्णं न मन्यते । तथा जीर्णे वृद्धे स्वदेहेऽपि स्थितमात्मानं न जीर्णं वृद्धमात्मानं मन्यते बुधः ॥६४॥

नष्टे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न नष्टं मन्यते तथा ।
नष्टे स्वदेहेऽप्यात्मानं न नष्टं मन्यते बुधः ॥६५॥

टीका—प्रावृते वस्त्रे नष्टे सति आत्मानं यथा नष्टं बुधो न मन्यते तथा स्वदेहेऽपि नष्टे कुतश्चित्कारणाद्विनाशं गते आत्मानं न नष्टं मन्यते बुधः ॥६५॥

रक्ते वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न रक्तं मन्यते तथा ।
रक्ते स्वदेहेऽऽप्यात्मानं न रक्तं मन्यते बुधः ॥६६॥

टीका—रक्ते वस्त्रे प्रावृते सति आत्मानं यथा बुधो न रक्तं मन्यते तथा स्वदेहेऽपि कुसुम्भादिना रक्ते आत्मानं रक्तं न मन्यते बुधः ॥६६॥

एवं शरीरादिभिन्नमात्मानं भावयतोऽन्तरात्मनः शरीरादेः काष्ठादिना तुल्यताप्रतिभासे मुक्तियोग्यता भवतीति दर्शयन्नाह—

यस्य सस्पन्दमाभाति निःस्पन्देन समं जगत् ।
अप्रज्ञमक्रियाभोगं स शमं याति नेतरः ॥६७॥

टीका—यस्यात्मनः सस्पन्दं परिस्पन्दसमन्वितं शरीरादिरूपं जगत् आभाति प्रतिभासते । कथम्भूतं ? निःस्पन्देन समं निःस्पन्देन काष्ठपाषाणादिना समं तुल्यं । कुतः तेन तत्सम ? अप्रज्ञं जडमचेतनं यतः । तथा अक्रियाभोगं क्रिया पदार्थपरिस्थितिः भोगः सुखाद्यनुभवः तौ न विद्येते यत्र यस्यैवं तत्प्रतिभासते स किं करोति ? स शमं याति शमं परमवीतरागतां संसारभोगदेहोपरि वा वैराग्यं गच्छति । कथम्भूतं शमं ? अक्रियाभोगमित्येतदत्रापि सम्बंध-

नीयम् । क्रिया वाक्कायमनोव्यापारः । भोग इन्द्रियप्रणालिकया विषयानुभवनं विषयोत्सवः । तौ न विद्येते यत्र तमित्थम्भूतं शमं स याति । नेतरः तद्विलक्षणो बहिरात्मा ॥६७॥

सोऽप्येवं शरीरादिभिन्नमात्मानं किमिति न प्रतिपद्यत इत्याह—

शरीरकंचुकेनात्मा संवृतज्ञानविग्रहः ।
नात्मानं बुध्यते तस्माद् भ्रमत्यतिचिरं भवे ॥६८॥

टीका—शरीरमेव कंचुक तेन **संवृतः** सम्यक् प्रच्छादितो ज्ञानमेव **विग्रहः** स्वरूपं यस्य । शरीरसामान्योपादानेऽप्यत्र कार्मणशरीरमेव गृह्यते । तस्यैव मुख्यवृत्त्या तदावरकत्वोपपत्तेः । इत्थंभूतो बहिरात्मा **नात्मानं बुध्यते तस्मादा**त्मस्वरूपानवबोधात् **अतिचिरं** बहुतरकालं **भवे** संसारे **भ्रमति** ॥६८॥

यद्यात्मनः स्वरूपमात्मत्वेन बहिरात्मानो न बुद्धयन्ते तदा किमात्मत्वेन ते बुद्धयन्ते इत्याह—

प्रविशद्गलतां व्यूहे देहेऽणूनां समाकृतौ ।
स्थितिभ्रान्त्या प्रपद्यन्ते तमात्मानमबुद्धयः ॥६९॥

टीका—तं देहात्मानं प्रपद्यन्ते । के ते ? अबुद्धयो बहिरात्मानः । कया कृत्वा ? स्थितिभ्रान्त्या । क्व ? **देहे** । कथम्भूते देहे ? **व्यूहे** समूहे । केषां ? **अणूनां** परमाणूनां । किं विशिष्टानां ? **प्रविशद्गलतां** अनुप्रविशतां निर्गच्छतां च । पुनरपि कथम्भूते ? **समाकृतौ** समानाकारे सदृशा परापरोत्पादेन । आत्मना सहैकक्षेत्रे समानावगाहेन वा । इत्थम्भूते देहे वा स्थितिभ्रान्तिः स्थित्या कालान्तरावस्थायित्वेन एकक्षेत्रावस्थानेन वा भ्रान्तिर्देहात्मनोरभेदाध्यवसायस्तया ॥ ६९॥

ततो यथावदात्मस्वरूपप्रतिपत्तिमिच्छन्नात्मानं देहाद्भिन्नं भावयेदित्याह—

गौरः स्थूलः कृशो वाऽहमित्यङ्गेनाविशेषयन् ।
आत्मानं धारयेन्नित्यं केवलज्ञप्तिविग्रहम् ॥७०॥

टीका— **गौरोऽहं स्थूलोऽहं कृशोवाऽहमित्यनेन** प्रकारेणा**ङ्गेन** विशेषणेन **अविशेषयन्** विशिष्टं अकुर्वन्नात्मानं **धारयत्** चित्तेऽविचलं भावयेत् **नित्यं** सर्वदा । कथम्भूतं ? **केवलज्ञप्तिविग्रहं** केवलज्ञानस्वरूपं । अथवा केवला रूपादिरहिता ज्ञप्तिरेवोपयोग एव विग्रहः स्वरूपं यस्य ॥७०॥

यश्चैव विधमात्मानमेकाग्रमनसा भावयेत्तस्यैव मुक्तिर्नान्यस्येत्याह—

मुक्तिरेकान्तिकी तस्य चित्ते यस्याचला धृतिः ।
तस्य नैकान्तिकी मुक्तिर्यस्य नास्त्यचला धृतिः ॥७१॥

टीका—**एकान्तिकी** अवश्यम्भाविनी **तस्यान्त**रात्मानो **मुक्तिः** । **यस्य चित्ते अविचला धृतिः** आत्मस्वरूपधारणं स्वरूपविषया प्रसत्तिर्वा **यस्य** तु चित्ते **नास्त्यचला धृतिस्तस्य नैकान्तिकी मुक्तिः** ॥७१॥

चित्तेऽचला धृतिश्च लोकसंसर्गं परित्यज्यात्मस्वरूपस्य संवेदनानुभवे सति स्यान्नान्यथेति दर्शयन्नाह—

जनेभ्यो वाक्, ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः ।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ॥७२॥

टीका—**जनेभ्योवाक्** वचनप्रवृत्तिर्भवति । प्रवृत्तेः **स्पन्दो मनसः** व्यग्रतामानसे भवति । **तस्यात्मनः** स्पन्दा**च्चित्तविभ्रमाः** नाना विकल्पप्रवृत्तयो भवन्ति । यत एवं **ततस्तस्मात्** योगी त्यजेत् कं ? संसर्गं सम्बन्धम् कैः सह ? **जनैः** ॥७२॥

तर्हि तैः संसर्गं परित्यज्याटव्यां निवासः कर्तव्य इत्याशंकां निराकुर्वन्नाह—

ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासोऽनात्मदर्शिनाम् ।
दृष्टात्मनां निवासस्तु विविक्तात्मैव निश्चलः ॥७३॥

टीका— **ग्रामोऽरण्यमित्येवं द्वेधा निवासः** स्थानं **अनात्मदर्शिना**मलब्धात्मस्वरूपोपलम्भानां, **दृष्टात्मना**मुपलब्धात्मस्वरूपाणां **निवासस्तु** विमुक्तात्मैव रागादिरहितो विशुद्धात्मैव निश्चलः चित्तव्याकुलतारहितः ॥७३॥

अनात्मदर्शिनो दृष्टात्मनश्च फलं दर्शयन्नाह—

देहान्तरगतेर्बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना ।
बीजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥७४॥

टीका—देहान्तरे भवान्तरे गतिर्गमनं तस्य **बीजं** कारणं किं ? **आत्मभावना** । क्व ? **देहेऽस्मिन्** अस्मिन् कर्मवशादगृहीते देहे । **विदेहनिष्पत्तेः** विदेहस्य सर्वथा देहत्यागस्य निष्पत्तेर्मुक्तिप्राप्तेः पुन**र्बीजं स्वात्मन्येवात्मभावना** ॥७४॥

तर्हि मुक्तिप्राप्तिहेतुः कश्चिद्गुरुर्भविष्यतीति वदन्तं प्रत्याह—

नयत्यात्मानमात्मैव जन्म निर्वाणमेव च* ।
गुरुरात्माऽऽत्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः ॥७५॥

टीका—**जन्म** संसारं **नयति** प्रापयति । कं ? **आत्मानं** । कोऽसौ ? **आत्मैव** देहादौ दृढात्मभावनावशात् । **निर्वाणमेव च** आत्मानमात्मैव नयति स्वात्मन्येवात्मबुद्धिप्रकर्षसद्भावात् । यत एवं **तस्मात्** परमार्थतो **गुरुरात्मात्मनः** । **नान्यो गुरुरस्ति परमार्थतः** । व्यवहारेण तु यदि भवति तदा भवतु ॥७५॥

देहे स्वबुद्धिर्मरणोपनिपाते किं करोतीत्याह—

दृढात्मबुद्धिर्देहादावुत्पश्यन्नाशमात्मनः ।
मित्रादिभिर्वियोगं च बिभेति मरणाद् भृशम् ॥७६॥

टीका—**देहादौ दृढात्मबुद्धि**रविचलात्मदृष्टिर्बहिरात्मा । **उत्पश्यन**वलोकयन् । **आत्मनो नाशं** मरणं **मित्रादिभिर्वियोगं च** मम भवति इति बुद्ध्यमानो **मरणाद्बिभेति भृश**मत्यर्थम् ॥७६॥

यस्तु स्वात्मन्येवात्मबुद्धिः स मरणोपनिपाते किं करोतीत्याह—

आत्मन्येवात्मधीरन्यां शरीरगतिमात्मनः ।
मन्यते निर्भयं त्यक्त्वा वस्त्रं वस्त्रांतरग्रहम् ॥७७॥

टीका—**आत्मन्येवा**त्मस्वरूप एव **आत्मधीः** अन्तरात्मा **शरीरगतिं** शरीरविनाशं शरीरपरिणतिं वा बालाद्यवस्थारूपां **आत्मनो अन्यां** भिन्नां

---

* निर्वाणमेव 'वा' इति पाठान्तरं 'ग' पुस्तके ।

निर्भयं यथा भवत्येवं **मन्यते**। शरीरविनाशोत्पादौ आत्मनो विनाशोत्पादौ न मन्यत इत्यर्थः। **वस्त्रं त्यक्त्वा** वस्त्रान्तरग्रहणमिव ॥७७॥

एवं च स एव बुध्यते यो व्यवहारेऽनादरपरः यस्तु तत्रादरपरः स न बुध्यत इत्याह—

व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे ।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे ॥७८॥

टीका—**व्यवहारे** विकल्पाभिधानलक्षणे प्रवृत्तिनिवृत्त्यादिस्वरूपे वा **सुषुप्तो**ऽप्रयत्नपरो **यः स जागर्त्यात्मगोचरे** आत्मविषये संवेदनोद्यतो भवति। **यस्तु व्यवहारे**ऽस्मिन्नुक्तप्रकारे **जागर्ति** स **सुषुप्तः आत्मगोचरे** ॥७८॥

यश्चात्मगोचरे जागर्ति स मुक्तिं प्राप्नोतीत्याह—

आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा दृष्ट्वा देहादिकं बहिः ।
तयोरन्तरविज्ञानादभ्यासादच्युतो भवेत् ॥७९॥

टीका—**आत्मानमन्तरे**ऽभ्यन्तरे **दृष्ट्वा देहादिकं बहिर्दृष्ट्वा तयो**-रात्मदेहयोर**न्तरविज्ञानात्** भेदविज्ञानात् **अच्युतो** मुक्तो **भवेत्**। ततोऽच्युतो भव-**न्नप्यभ्यासाद्**भेदज्ञानभावनातो भवति न पुनर्भेदविज्ञानमात्रात् ॥७९॥

यस्य च देहात्मनोर्भेददर्शनं तस्य प्रारब्धयोगावस्थायां निष्पन्नयोगावस्थायां च कीदृशं जगत्प्रतिभासत इत्याह—

पूर्वं दृष्टात्मतत्त्वस्य विभात्युन्मत्तवज्जगत् ।
स्वभ्यस्तात्मधियः पश्चात् काष्ठपाषाणरूपवत् ॥८०॥

टीका—**पूर्वं** प्रथमं **दृष्टात्मतत्त्वस्य** देहाद्भेदेन प्रतिपन्नात्मस्वरूपस्य प्रारब्धयोगिनः **विभात्युन्मत्तवज्जगत्** स्वरूपचिंतनविकलत्वाच्छुभेतरचेष्टायुक्त-मिदं जगत् नानाबाह्यविकल्पैरुपेतमुन्मत्तमिव प्रतिभासते। **पश्चान्निष्पन्नयोगाव**-स्थायां सत्यां **स्वभ्यस्तात्मधियः** सुष्टुभावितमात्मस्वरूपं येन तस्य निश्चलात्म-

स्वरूपमनुभवतो जगद्विषयचिन्ताभावात् **काष्ठपाषाणरूपवत्प्रतिभाति**। न तु परमौदासीन्यावलम्बात् ॥८०॥

ननु स्वभ्यस्तात्मधियः इति व्यर्थम्। शरीराद्भेदेनात्मनस्तत्स्वस्वरूपविद्भ्यः श्रवणात्स्वयं वाऽन्येषां तत्स्वरूपप्रतिपादनान्मुक्तिर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह—

शृण्वन्नप्यन्यतः कामं वदन्नपि कलेवरात्।
नात्मानं भावयेद्भिन्नं यावत्तावन्न मोक्षभाक् ॥८१॥

टीका—**अन्यत** उपाध्यायादेः **कामं** अत्यर्थं **शृण्वन्नपि** कलेवराद्भिन्नमात्मानमाकर्णयन्नपि ततो भिन्नं तं स्वयमन्यान् प्रति **वदन्नपि यावत्कलेवराद्भिन्नमात्मानं न भावयेत। तावन्न मोक्षभाक्** मोक्षभाजनं तावन्न भवेत् ॥८१॥

तद्भावनायां च प्रवृत्तोऽसौ किं कुर्यादित्याह—

तथैव भावयेद्देहाद्व्यावृत्यात्मानमात्मनि।
यथा न पुनरात्मानं देहे स्वप्नेऽपि योजयेत् ॥८२॥

टीका—**देहाद्व्यावृत्य** शरीरात्पृथक्कृत्वा **आत्मानं** स्वस्वरूपं **आत्मनि** स्थितं **तथैव भावयेत्** शरीराद्भेदेन दृढतरभेदभावनाप्रकारेण भावयेत्। **यथा पुनः स्वप्ने** स्वप्नावस्थायां **देहे** उपलब्धेपि तत्र **आत्मानं न योजयेत्** देहमात्मतया नाध्यवस्येत् ॥८२॥

यथा परमौदासीन्यावस्थायां स्वपरविकल्पस्त्याज्यस्तथा व्रतविकल्पोऽपि। यतः—

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ॥८३॥

टीका—**अपुण्यम**धर्मः **अव्रतै**र्हिंसादिविकल्पैः परिणतस्य भवति। **पुण्यं** धर्मो **व्रतैः** हिंसादिविरतिविकल्पैः परिणतस्य भवति। **मोक्षः** पुन**स्तयोः** पुण्यापुण्ययो**र्व्ययो** विनाशो। यथैव हि लोहशृङ्खला बंधहेतुस्तथा सुवर्णशृङ्खलाऽपि। अतो यथोभयशृङ्खलाभावाद्व्यवहारे मुक्तिस्तथा परमार्थेऽपीति।

ततस्तस्मात् **मोक्षार्थी अव्रतानीव** इव शब्दो यथाऽर्थः यथाऽव्रतानि **त्यजेत्तथा व्रतान्यपि** ॥८३॥

कथं तानि त्यजेदिति तेषां त्यागक्रमं दर्शयन्नाह—

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः ।
त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः ॥८४॥

टीका—**अव्रतानि** हिंसादीनि प्रथमतः **परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितो** भवेत् । पश्चात्तान्यपि **त्यजेत्** । किं कृत्वा ? **सम्प्राप्य** । किं तत् ? **परमं पदं** परमवीतरागतालक्षणं क्षीणकषायगुणस्थानं । कस्य तत्पदं ? **आत्मनः** ॥८४॥

कुतोऽव्रत-व्रतविकल्पपरित्यागे परमपदप्राप्तिरित्याह—

यदन्तर्जल्पसंपृक्तमुत्प्रेक्षाजालमात्मनः ।
मूलं दुःखस्य तन्नाशे शिष्टमिष्टं परं पदम् ॥८५॥

टीका—**यदुत्प्रेक्षाजालं** चिन्ताजालं । कथम्भूतं ? **अन्तर्जल्पसंपृक्तं** अन्तर्वचनव्यापारोपेतं । **आत्मनो दुःखस्य मूलं** कारणं । **तन्नाशे** तस्योत्प्रेक्षाजालस्य विनाशे । **इष्टमभिलषितं** यत्पदं **तच्छिष्टं** प्रतिपादितम् ॥८५॥

तस्य चोत्प्रेक्षाजालस्य नाशं कुर्वाणोऽनेन क्रमेण कुर्यादित्याह—

अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायणः ।
परात्मज्ञानसम्पन्नः स्वयमेव परो भवेत् ॥८६॥

टीका—अव्रतित्वावस्थाभावि विकल्पजालं **व्रतमादाय** विनाशयेत् । व्रतित्वावस्थाभावि पुनर्विकल्पजालं **ज्ञानपरायणो** ज्ञानभावनानिष्ठो भूत्वा परमवीतरागतावस्थायां विनाशयेत् । सयोगिजिनावस्थायां **परात्मज्ञानसम्पन्नः** परं सकलज्ञानेभ्यः उत्कृष्टं तच्च तदात्मज्ञानं च केवलज्ञानं तेन सम्पन्नो युक्तः **स्वयमेव** गुर्वाद्युपदेशानपेक्षः **परः** सिद्धस्वरूपः परमात्मा **भवेत्** ॥८६॥

यथा च व्रतविकल्पो मुक्तिहेतुर्न भवति तथा लिङ्गविकल्पोऽपीत्याह—

लिङ्गं देहाश्रितं दृष्टं देह एवात्मनो भवः ।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिङ्गकृताऽऽग्रहाः ॥८७॥

टीका—**लिङ्गं** जटाधारणनग्नत्वादि **देहाश्रितं दृष्टं** शरीरधर्मतया प्रतिपन्नं। **देह एवात्मनो भवः** संसारः। यत एवं **तस्माद्ये लिंगकृताग्रहाः** लिंगमेव मुक्तेर्हेतुरिति कृताभिनिवेशास्ते **न मुच्यंते**। कस्मात् **भवात्** ॥८७॥

येऽपि 'वर्णानां ब्राह्मणो गुरुरतः स एव परमपदयोग्य' इति वदन्ति तेऽपि न मुक्तियोग्या इत्याह—

जातिर्देहाश्रिता दृष्टा देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये जातिकृताग्रहाः ॥८८॥

टीका—**जातिर्ब्राह्मणत्वादिर्दे**हाश्रितेत्यादि सुगमं ।८८॥

तर्हि ब्राह्मणत्वादिजातिविशिष्टो निर्वाणादिदीक्षया दीक्षितो मुक्ति प्राप्नोतीति वदन्त प्रत्याह—

जातिलिंगविकल्पेन येषां च समयाग्रहः।
तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः ॥८९॥

टीका—जातिलिंगरूपोविकल्पो भेदस्तेन **येषां** शैवादीनां **समयाग्रहः** आगमानुबधः उत्तमजातिविशिष्ट हि लिगं मुक्तहेतुरित्यागमे प्रतिपादितमतस्तावन्मात्रेणैव मुक्तिरित्येवंरूपो येषामागमाभिनिवेशः **तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः** ॥८९॥

तत्पदप्राप्त्यर्थं जात्यादिविशिष्टे शरीरे निर्ममत्वसिद्ध्यर्थं भोगेभ्यो व्यावृत्यापि पुनर्मोहवशाच्छरीर एवानुबन्धं प्रकुर्वन्तीत्याह—

यत्त्यागाय निवर्तन्ते भोगेभ्यो यदवाप्तये।
प्रीतिं तत्रैव कुर्वन्ति द्वेषमन्यत्र मोहिनः ॥९०॥

टीका—यस्य शरीरस्य त्यागाय निर्ममत्वाय **भोगेभ्यः** स्रग्वनितादिभ्यो **निवर्तन्ते**। तथा **यदवाप्तये** यस्य परमवीतरागत्वस्यावाप्तये प्राप्तिनिमित्तं भोगेभ्यो निवर्तन्ते। **प्रीतिमनुबन्धं तत्रैव** शरीरे आबद्धे एव **कुर्वन्ति द्वेषं** पुन**रन्यत्र** परमवीतरागत्वे। के ते? **मोहिनो** मोहवन्तः ॥९०॥

तेषां देहे दर्शनव्यापारविपर्यासं दर्शयन्नाह—

अन्तरज्ञः संधत्ते दृष्टिं पंगोर्यथाऽन्धके ।
संयोगात् दृष्टिमङ्गेऽपि संधत्ते तद्वदात्मनः ॥९१॥

टीका—**अनन्तरज्ञो** भेदाग्राहकः पुरुषो यथा **पंगोर्दृष्टिमन्धके सन्धत्ते** आरोपयति । कस्मात् **संयोगात्** पंग्वन्धयो सम्बन्धमाश्रित्य । तद्वत् तथा देहात्मनोः संयोगादात्मनो **दृष्टिमंगेऽपि सन्धत्ते** अंगं पश्यतीति [मन्यते] मोहाभिभूतो बहिरात्मा ॥९१॥

अन्तरात्मा किं करोतीत्याह—

दृष्टभेदो यथा दृष्टिं पङ्गोरन्धे न योजयेत् ।
तथा न योजयेद्देहे दृष्टात्मा दृष्टिमात्मनः ॥९२॥

टीका—**दृष्टभेदः** पंग्वन्धयोः प्रतिपन्नभेदः पुरुषो **यथा पंगोर्दृष्टिमन्धे न योजयेत् । तथा आत्मनो दृष्टिं** देहे **न** योजयेत । कोऽसौ ? **दृष्टात्मनः** देहभेदेन प्रतिपन्नात्मा ॥९२॥

बहिरन्तरात्मनोः काऽवस्था भ्रान्तिः का वाऽभ्रान्तिरित्याह—

सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव विभ्रमोऽनात्मदर्शिनाम् ।
विभ्रमोऽक्षीणदोषस्य सर्वावस्थाऽऽत्मदर्शिनः ॥९४॥

टीका—**सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव विभ्रमः** प्रतिभासते । केषाम् ? **अनात्मदर्शिनां** यथावदात्मस्वरूपपरिज्ञानरहितानां बहिरात्मनाम् । **आत्मदर्शिनोऽन्तरात्मनः** पुनर**क्षीणदोषस्य** मोहाक्रान्तस्य बहिरात्मनः सम्बंधिन्यः **सर्वावस्थाः** सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थावत् जाग्रत्प्रबुद्धानुन्मत्ताद्यवस्थाऽपि **विभ्रमः** प्रतिभासते यथावद्वस्तुप्रतिभासाभावात् । अथवा—**सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव** एवकारोऽपिशब्दार्थे तेन सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थाऽपि **न विभ्रमः** केषाम् ? **आत्मदर्शिनां** दृढतराभ्यासात्तदवस्थायामपि आत्मनि तेषामविपर्यासात् स्वरूपसंवित्तिवैकल्यासम्भवाच्च यदि सुप्ताद्यवस्थायामप्यात्मदर्शनं स्यात्तदा जाग्रदवस्थावत्तत्राप्यात्मनः कथं सुप्तादिव्यपदेश इत्यप्ययुक्तम् यतस्तत्रेन्द्रियणां स्वविषये निद्रया प्रतिबन्धात्तद्व्यपदेशो न पुनरात्मदर्शनप्रतिबन्धादिति । तर्हि कस्याऽसौ **विभ्रमो**

भवति ? **अक्षीणदोषस्य** बहिरात्मनः । कथम्भूतस्य ? **सर्वावस्थात्मदर्शिनः** सर्वावस्थां बालकुमारादिलक्षणां सुप्तोन्मत्तादिरूपां चात्मेति **पश्यत्येवं** शीलस्य ॥६३॥

ननु सर्वावस्थात्मदर्शिनोऽप्यशेषशास्त्रपरिज्ञानान्निद्रारहितस्य मुक्तिर्भविष्यतीति वदन्तं प्रत्याह—

विदिताशेषशास्त्रोऽपि न जाग्रदपि मुच्यते ।
देहात्मदृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते ॥६४॥

टीका—**न मुच्यते** न कर्मरहितो भवति । कोऽसौ ? **देहात्मदृष्टिर्बहि**-रात्मा । कथम्भूतोऽपि? **विदिताशेषशास्त्रोऽपि** परिज्ञाताशेषशास्त्रोऽपि **देहात्मदृष्टिर्यतः** देहात्मनोर्भेदरुचिरहितो यतः पुनरपि कथम्भूतोऽपि ? **जाग्रदपि** निद्रयाऽनभिभूतोऽपि । यस्तु **ज्ञातात्मा** परिज्ञातात्मस्वरूपः स **सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते** विशिष्टां कर्मनिर्जरां करोति दृढतराभ्यासात्सुप्ताद्यवस्थायामप्यात्मस्व-रूपसंवित्त्यवैकल्यात् ॥६४॥

कुतस्तदा तदवैकल्यमित्याह—

यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते ।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते ॥६५॥

टीका—**यत्रैव** यस्मिन्नेव विषये **आहितधीः** दत्तावधाना बुद्धिः । "यत्रात्महितधीरति च पाठः यत्रात्मनो हितमुपकारस्तत्राहितधीरिति ।" स हितमुपकारक इति बुद्धिः । कस्य ? पुंसः । **श्रद्धा** रुचिस्तस्य **तत्रैव** तस्मिन्नेव विषये **जायते । यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते** आसक्तं भवति ॥६५॥

क्व पुनरनासक्तं चित्तं भवतीत्याह—

यत्रानाहितधीः पुंसः श्रद्धा तस्मान्निवर्तते ।
यस्मान्निवर्तते श्रद्धा कुतश्चित्तस्य तल्लयः ॥६६॥

टीका—**यत्र** यस्मिन्विषये **अनाहितधीरदत्तावधाना** बुद्धिः । 'यत्रैवा-हितधीरति च पाठः यत्र च अहितधीरनुपकारकबुद्धिः ।" कस्य ? **पुंसः** ।

तस्माद्विषयात्सकाशात् **श्रद्धा निवर्तते। यस्मान्निवर्तते श्रद्धा कुतश्चित्तस्य तल्लयः** तस्मिन् विषये लय आसक्तिस्तल्लयः कुतो ? नैव कुतश्चिदपि ॥९६॥

यत्र च चित्तं विलीयते तद्ध्येयं भिन्नमभिन्नं च भवति, तत्र भिन्नात्मनि ध्येये फलमुपदर्शयन्नाह—

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः।
वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ॥९७॥

टीका—**भिन्नात्मानम्**आराधकात् पृथग्भूतमात्मानमर्हत्सिद्धरूपं **उपास्याराध्य आत्मा** आराधकः पुरुषः **परः** परमात्मा **भवति तादृशो**ऽर्हत्सिद्धस्वरूपसदृशः। अत्रैवार्थे दृष्टान्तमाह—वर्तिरित्यादि। दीपाद्भिन्ना **वर्तिर्यथा दीपमुपास्य** प्राप्य **तादृशी भवति** दीपरूपा भवति ॥९७॥

इदानीमभिन्नात्मनोपासने फलमाह—

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा।
मथित्वाऽऽत्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरुः ॥९८॥

टीका—**अथवा आत्मानमेव** चित्स्वरूपमेव चिदानन्दमय**मुपास्य आत्मा परमः** परमात्मा **जायते**। अमुमेवार्थं दृष्टान्तद्वारेण समर्थयमानः प्राह—मथित्वेत्यादि। **यथाऽऽत्मानमेव मथित्वा** घर्षयित्वा तरु**रात्मा तरुरूपः** स्वभावः स्वत एवा**ग्निर्जायते** ॥९८॥

उक्तमर्थमुपसंहृत्य फलमुपदर्शयन्नाह—

इतीदं भावयेन्नित्यमवाचांगोचरं पदम्।
स्वत एव तदाप्नोति यतो नावर्तते पुनः ॥९९॥

टीका—**इति** एवमुक्तप्रकारेण **इदं** भिन्नमभिन्नं चात्मस्वरूपं **भावयेत् नित्यं** सर्वदा। ततः किं भवति ? **तत्पदं** अवाप्नोति। किं तत्पदं **मोक्षस्थानं**। कथम्भूतं ? **अवाचांगोचरं** वचनैरनिर्देश्यं। कथं तत्प्राप्नोति ? **स्वत एव** आत्मनैव परमार्थतो न पुनर्गुर्वादिबाह्यनिमित्तात्। **यतः** प्राप्तात् तत्पदा**न्नावर्तते** संसारे **पुनर्न** भ्रमति ॥९९॥

नन्वात्मनि सिद्धे तस्य तत्पदप्राप्तिः स्यात् । न चासौ तत्त्वचतुष्टयात्मकाच्छरीरात्तत्त्वान्तरभूतः सिद्ध इति चार्वाकाः । सदैवात्मा मुक्तः सर्वदा स्वरूपोपलम्भसम्भवादिति सांख्यास्तान् प्रत्याह—

अयत्नसाध्यं निर्वाणं चित्तत्त्वं भूतजं यदि ।
अन्यथा योगतस्तस्मान्न दुःखं योगिनां क्वचित् ॥१००॥

टीका—**चित्तत्त्वं** चेतनालक्षणं तत्त्वं **यदि भूतजं** पृथिव्यप्तेजोवायुलक्षणभूतेभ्यो जातं यद्यभ्युपगम्यते तदाऽयत्नसाध्यं निर्वाणं यत्नेन तात्पर्येण साध्यं निर्वाणं न भवति । एतच्छरीरपरित्यागेन विशिष्टावस्थाप्राप्तियोगस्यात्मन एव तन्मते अभावादित्यात्मनो मरणरूपविनाशादुत्तरकालमभावः । सांख्यमते तु भूतजं सहजं भवनं भूतं शुद्धात्मतत्त्वं तत्र जातं तत्स्वरूप संवेदकत्वेन लब्धात्मलाभं एवंविधं चित्तत्त्वं यदि तदाऽयत्नसाध्यं निर्वाणं यत्नेन ध्यानानुष्ठानादिना साध्यं न भवति निर्वाणं । सता शुद्धात्मस्वरूपानुभवे सर्वदैवात्मनो निरूपायमुक्तिप्रसिद्धेः अथवा निष्पन्नेतरयोग्यपेक्षया अयत्नेत्यादिवचनम् । तत्र निष्पन्नयोग्यपेक्षया चित्तत्त्वं भूतजं स्वभावजं । भूतशब्दोऽत्र स्वभाववाची । मनोवाक्कायेन्द्रियैरविक्षिप्तमात्मस्वरूपं भूतं तस्मिन् जातं तत्स्वरूपसंवेदकत्वेन लब्धात्मलाभं एवंविधं चित्तत्त्वं यदि तदाऽयत्नसाध्यं निर्वाणं तथाविधमात्मस्वरूपमनुभवतः कर्मबंधाभावतो निर्वाणस्याप्रयासमसिद्धत्वात् । अथवा **अन्यथा** प्रारब्धयोग्यपेक्षया भूतजं चित्तत्त्वं न भवति । तदा **योगतः** स्वरूपसंवेदनात्मकचित्तवृत्तिनिरोधाभ्यासप्रकर्षान्निर्वाणं । यत एवं **तस्मात् क्वचिदप्यवस्था**विशेषे दुर्धरानुष्ठाने छेदनभेदनादौ वा **योगिनां दुःखं न** भवति । आनन्दात्मकस्वरूपसंवित्तौ तेषां तत्प्रभवदुःखसंवेदनासम्भवात् ॥१००॥

नन्वात्मना मरणरूपविनाशदुत्तरकालमभावसिद्धेः कथं सर्वदाऽस्तित्वं सिध्येदिति वदन्तं प्रत्याह—

स्वप्ने दृष्टे विनष्टेऽपि न नाशोऽस्ति यथात्मनः ।
तथा जागरदृष्टेऽपि विपर्यासाविशेषतः ॥१०१॥

टीका—**स्वप्ने** स्वप्नावस्थायां दृष्टे **विनष्टेऽपि** शरीरादौ **आत्मनो यथा नाशो नास्ति तथा जागरदृष्टेऽपि** जागरे जाग्रदवस्थायां दृष्टे विनष्टेऽपि शरीरादौ **आत्मनो नाशो नास्ति** । ननु स्वप्नावस्थायां भ्रांतिविशादात्मनो विनाशः प्रतिभातीति चेत्तदेतदन्यत्रापि समानं । न खलु शरीरविनाशे आत्मनो विनाशमभ्रांतो मन्यते । तस्मादुभयत्राप्यात्मनो विनाशोऽनुपपन्नो **विपर्यासाविशेषात्** । यथैव हि स्वप्नावस्थायामविद्यमानेऽप्यात्मनो विनाशे विनाशः प्रतिभासत इति विपर्यासः तथा जाग्रदवस्थायामपि ॥१०१॥

नन्वेवं प्रसिद्धस्याप्यनाद्यनिधनस्यात्मनो मुक्त्यर्थं दुर्द्धरानुष्ठानक्लेशो व्यर्थो ज्ञानभावनामात्रेणैव मुक्तिसिद्धेरित्याशङ्क्याह—

अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ ।
तस्माद्यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः ॥१०२॥

टीका—अदुःखेन कायक्लेशादिकष्टं विना सुकुमारोपक्रमेण **भावित**मेकाग्रतया चेतसि पुनः पुनः संचिन्तितं **ज्ञानं** शरीरादिभ्यो भेदेनात्मस्वरूपपरिज्ञानं **क्षीयते** अपकृष्यते । कस्मिन् ? **दुःखसन्निधौ** दुःखोपनिपाते सति । यत एवं **तस्मात्**कारणात् **यथाबलं** स्वशक्त्यनतिक्रमेण **मुनि**र्योगी **आत्मानं दुःखैर्भावयेत** कायक्लेशादिकष्टैः सहाऽऽत्मस्वरूपं भावयेत् । कष्टसहोभवन् आत्मस्वरूपं चिन्तयेदित्यर्थः ॥१०२॥

ननु यद्यात्मा शरीरात्सर्वथा भिन्नस्तदा कथमात्मनि चलति नियमेन तच्चलेत् तिष्ठति नियमेन तत् तिष्ठेदिति वदन्तं प्रत्याह—

प्रयत्नादात्मनो वायुरिच्छाद्वेषप्रवर्तितात् ।
वायोः शरीरयंत्राणि वर्तन्ते स्वेषु कर्मसु ॥१०३॥

टीका—**आत्मनः** सम्बन्धिनः **प्रयत्नाद्वायुः** शरीरे समुच्चलति कथम्भूतात् प्रयत्नात् ? **इच्छाद्वेषप्रवर्तितात्** रागद्वेषाभ्यां जनितात् । तत्र समुच्चलिताच्च **वायोः शरीरयंत्राणि** शरीराण्येव यंत्राणि शरीरयंत्राणि । किं पुनः शरीराणां यंत्रैः साधर्म्यं यस्तानि यन्त्राणीत्युच्यन्ते ? इति चेत् उच्यते—

यथा यंत्राणि काष्ठादिविनिर्मितसिंहव्याघ्रादीनि स्वसाध्यविविधक्रियायां परप्रेरितानि प्रवर्तन्ते तथा शरीराण्यपीत्युभयोस्तुल्यता। तानि शरीरयंत्राणि वायोः सकाशाद्वर्तन्ते। केषु ? **कर्मसु** क्रियासु कथम्भूतेषु ? **स्वेषु** स्वसाध्येषु ॥१०३॥

तेषां शरीरयंत्राणामात्मन्यारोपाऽनारोपौ कृत्वा जडविवेकिनौ किं कुरुत् इत्याह—

तान्यात्मनि समारोप्य साक्षाण्यास्तेऽसुखं जडः।
त्यक्त्वाऽरोपं पुनर्विद्वान् प्राप्नोति परमं पदम् ॥१०४॥

टीका—**तानि** शरीरयंत्राणि **साक्षाणि** इंद्रियसहितानि **आत्मनि समारोप्य** गौरोऽहं सुलोचनोऽहं स्थूलोऽहमित्याद्यभेदरूपतया आत्मन्यध्यारोप्य **जडो** बहिरात्मा असुखं **सुखं** वा यथा भवत्येव**मास्ते**। **विद्वा**नन्तरात्मा **पुनः प्राप्नोति** किं ? तत्**परम पदं** मोक्षं। किं कृत्वा ? **त्यक्त्वा** ? कं ? **आरोपं** शरीरादीनामात्मन्यध्यवसायम् ॥१०४॥

कथमसौ तं त्यजतीत्याह—अथवा स्वकृतग्रन्थार्थमुपसंहृत्य फलमुपदर्शयन्मुक्त्वेत्याह—

मुक्त्वा परत्र परबुद्धिमहंधियं च,
संसार-दुःखजननीं जननाद्विमुक्तः।
ज्योतिर्मयं सुखमुपैति परात्मनिष्ठ-
स्तन्मार्गमेतदधिगम्य समाधितंत्रम् ॥१०५॥

टीका—**उपैति** प्राप्नोति। किं तत् ? **सुखं** कथम्भूतं ? **ज्योतिर्मयं** ज्ञानात्मकं। किं विशिष्टः सन्नसौ तदुपैति ? **जननाद्विमुक्तः** संसाराद्विशेषेण मुक्तः। ततो मुक्तोऽप्यसौ कथम्भूतः सम्भवति ? **परमात्मनिष्ठः** परमात्मस्वरूपसंवेदकः किं कृत्वाऽसौ तन्निष्ठः स्यात् ? **मुक्त्वा**। कां ? **परबुद्धि महंधियं च** स्वात्मबुद्धि च। क्व ? **परत्र** शरीरादौ। कथम्भूतां ताम् ? **संसार-दुःखजननीं** चातुर्गतिकदुःखोत्पत्तिहेतुभूतां। यतस्तथाभूतां तां त्यजेत्। किं

कृत्वा ? **अधिगम्य** । किं तत् ? **समाधितंत्रं** समाधेः परमात्मस्वरूपसंवेदनैकाग्रतायाः परमोदासीनताया वा तन्त्रं प्रतिपादकं शास्त्रं । कथम्भूतं तत् ? **तन्मार्गं** तस्य ज्योतिर्मयसुखस्य मार्गमुपायमिति ॥१०५॥

टीका-प्रशस्तिः

येनात्मा बहिरन्तरुत्तमभिधा त्रेधा विवृत्योदितो,
मोक्षोऽनन्तचतुष्टयाऽमलवपुः सद्धयानतः कीर्तितः ।
जीयात्सोऽत्र जिनः समस्तविषयः श्रीपूज्यपादोऽमलो,
भव्यानन्दकरः समाधिशतकश्रीमत्प्रभेन्दुः प्रभुः ॥१॥

इति श्रीपण्डितप्रभाचन्द्रविरचिता समाधिशतकटीका समाप्ता❋

❋ मूलबिद्री के मठ की प्रतिमें उक्त पुष्पिका-वाक्य निम्न-प्रकार पाया जाता है :—'इति श्रीजयसिंहदेव राज्ये श्रीमद्धारा निवासिना परापर परमेष्ठि-प्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृताखिलमलकलंकेन श्रीमत्प्रभाचन्द्र पण्डितेन समाधिशतकटीका कृतेति ॥" इस वाक्य से प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि न्यायग्रन्थोंके कर्ता धारानिवासी प्रभाचन्द्र ही जान पड़ते हैं ।
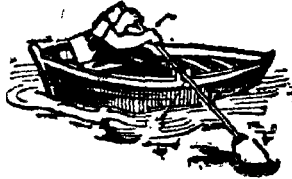
ॐ

श्रीमद्देवनन्द्यपरमनाम पूज्यपाद स्वामिविरचितः

इष्टोपदेशः

श्रीपण्डित-आशाधर विरचित टीकोपेतः

(टीकाकर्तुः मंगलाचरणम्)

परमात्मानमानम्य मुमुक्षुः स्वात्म-संविदे ।
इष्टोपदेशमाचष्टे स्वशक्त्याशाधरः स्फुटम् ॥

तत्राऽऽदौ यो यद्गुणार्थी स तद्गुणोपेतं पुरुषविशेषं नमोस्करोति इति परमात्मगुणार्थी ग्रन्थकर्ता परमात्मानं नमस्करोति, तद्यथा :—

यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मणः ।
तस्मै संज्ञानरूपाय नमोऽस्तु परमात्मने ॥१॥

टीका—**अस्तु** भवतु । किं तत् ? **नमः**—नमस्कारः कस्मै ? **तस्मै परमात्मने**—परम अनाध्येया अहेयातिशयत्वात्सकलसंसारिजीवेभ्य उत्कृष्ट आत्मा चेतनः परमात्मा, तस्मै । किंविशिष्टाय, **संज्ञानरूपाय** (संज्ञानं) सम्यक्सकलार्थसाक्षात्कारित्वादितदत्यन्तसूक्ष्मत्वादीनामपि लाभात्कर्महंतृत्वादेरपि विकारस्य त्यागाच्च सम्पूर्णज्ञानं स्व-परावबोधस्तदेव रूपं यस्य-तस्मै । एवमाराध्यस्वरूपमुक्त्वा तत्प्राप्त्युपायमाह—**यस्य** अभूत् काऽसौ, **स्वभावाऽऽप्तिः**—स्वभावस्य निर्मलनिश्चलचिद्रूपस्य आप्तिर्लब्धिः कथंचित्तादात्म्यपरिणतिः—कृतकृत्यतया स्वरूपेऽवस्थितिरित्यर्थः । केन ? **स्वयं**—सम्पूर्णरत्नत्रयात्मनाऽऽत्मना । क्व सति ?

अभावे—शक्तिरूपतया विनाशे । कस्य ? **कृत्स्नकर्मणः**—कृत्स्नस्य सकलस्य द्रव्यभावरूपस्य कर्मणः आत्मपारतंत्र्यनिमित्तस्य ॥१॥

स्वस्य स्वयं स्वरूपोपलब्धिः कथमिति ? स्वस्यात्मनः—अथ शिष्यः प्राह—स्वयं आत्मना **स्वरूपोपलब्धिः** स्वरूपस्य सम्यक्त्वादिगुणाष्टकाभिव्यक्तिरूपस्य उपलब्धिः कथं केनोपायेन दृष्टान्ताभावादिति ? अत्राऽऽचार्यः समाधत्तेः—

योग्योपादानयोगेन दृषदः स्वर्णता मता (यथा) ।
द्रव्यादिस्वादिसंपत्तावात्मनोऽप्यात्मता मता ॥२॥

टीका—**मता** अभिप्रेता लोकैः । काऽसौ ? **स्वर्णता** सुवर्णभावः । कस्य ? **दृषदः** सुवर्णाविर्भावयोग्यपाषाणस्य । केन ? **योग्योपादानयोगेन**—योग्यानां सुवर्णपरिणामकरणोचितानां उपादानानां कारणानां योगेन मेलापकेन संपत्त्या यथा । **एवमात्मानोऽपि** पुरुषस्यापि न केवलं दृषदः इत्यपि शब्दार्थः । **मता** कथिता । कासौ ? **आत्मता**—आत्मनो जीवस्य भावो निर्मलनिश्चलचैतन्यं । कस्यां सत्यां ? **द्रव्यादिस्वादिसंपत्तौ** द्रव्यमन्वयिभावः आदिर्येषां क्षेत्रकालभावनां ते च ते स्वादयश्च सुशब्दः स्वशब्दो वा आदिर्येषां ते स्वादयो द्रव्यादयश्च स्वादयश्च । 'इच्छातो विशेषणविशेष्यभावः इति समासः' । सुद्रव्यं सुक्षेत्रं सुकालः सुभाव इत्यर्थः । सुशब्दः प्रशंसार्थः **प्राशस्त्यं चात्र प्रकृतकार्योपयोगित्वं द्रव्यादिस्वादीनां सम्पत्तिः** संपूर्णता तस्यां सत्यां ॥२॥

तर्हि व्रतादीनामानर्थक्यमिति तन्नेति—अथ शिष्यः प्राह भगवन् ! यदि सुद्रव्यादिसामग्र्यां सत्यामेवायमात्मा स्वात्मानमुपलप्स्यते **तर्हि** व्रतानि हिंसाविरत्यादीनि आदयो येषां समित्यादीनां तेषा**मानर्थक्यं** निष्फलत्वं स्यादभिप्रेतायाः स्वात्मोपलब्धेः सुद्रव्यादिसम्पत्त्यपेक्षत्वादित्यर्थः ।

अत्राचार्यो निषेधमाह—**तन्नेति** । वत्स ! यस्त्वया शंकितं व्रतादीनामानर्थक्यं **तन्न**-तन्न भवति । तेषामपूर्वशुभकर्मनिरोधेनोपार्जिताशुभकर्मैकदेश क्षपणेन च सफलत्वात्तद्विषयरागलक्षणशुभोपयोगजनितपुण्यस्य च स्वर्गादिपदप्राप्तिनिमित्तत्वात् एतदेव च व्यक्तीकर्तुं वक्ति :—

वरं व्रतैः पदं दैवं नाऽव्रतैर्वत नारकम् ।
छायाऽऽतपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥३॥

टीका—**वरं** भवतु । किं तत् ? **पदं**-स्थानं । किंविशिष्टं ? **दैवं**-देवानामिदं दैवं, स्वर्गः कैर्हेतुभिः ? **व्रतैः**व्रतादिविषयरागजनितपुण्यैः तेषां स्वर्गादिपदाभ्युदयनिबंधनत्वेन सकलजनसुप्रसिद्धत्वात् । तर्ह्यव्रतान्यपि तथाविधानि भविष्यंतीत्याशंक्याह—नेत्यादि । **न** नवरं भवति । किंतत् ? **पदं**, किंविशिष्टं ? **नारकं**-नरकसंबंधि । कैः ? **अव्रतैः** हिंसादिपरिणामजनितपातकैः, **वतेति**खेदे कष्टे वा । तर्हि व्रताव्रतनिमित्तयोरपि देवनारकपक्षयोः साम्यं भविष्यति इत्याशंकायां तयोर्महदंतरमिति दृष्टान्तेन प्रकटयन्नाह—

'छायेत्यादि' भवति । कोऽसौ, **भेदः** अन्तरं । किंविशिष्टो ? **महान्** बृहत् । कयोः, पथिकयोः । किं कुर्वतोः ? स्वकार्यवशान्नगरांतर्गतं तृतीयं स्वसार्थिकमागच्छंतं पथि **प्रतिपालयतोः** प्रतीक्षमाणयोः । किंविशिष्टयोः सतोः **छायाऽऽतपस्थयोः**—छाया च आतपश्च छायातपौ तयोः स्थितयोः । अयमर्थः यथैव छायास्थितस्तृतीयागमनकालं यावत्सुखेन तिष्ठति आतपस्थितश्च दुःखेन तिष्ठति तथा व्रतादि कृतानि (**कुर्वन्**) स आत्मा—जीवः सुद्रव्यादयो मुक्तिहेतवो यावत्संपद्यते(न्ते) तावत्स्वर्गादिपदेषु सुखेन तिष्ठति अन्यश्च नरकादिपदेषु दुःखेनेति ॥३॥

एवमात्मनि भक्तिरयुक्ता स्यादिति—अथ विनेयः पुनराशंकते भगवन् ! एवं चिरभाविमोक्षसुखस्य व्रतसाध्ये संसारसुखे सिद्धे सत्यात्मनि चिद्रूपे भक्तिः भावविशुद्ध आंतरोऽनुराग **अयुक्ता** अनुपपन्ना **स्याद्**भवेत् । तत्साध्यस्य मोक्षसुखस्य सुद्रव्यादिसंपत्त्यपेक्षया दूरवर्तित्वादवांतरप्राप्यस्य च स्वर्गादिसुखस्य व्रतैकसाध्यत्वात् इति ।

अत्राप्याचार्यः समाधत्ते—**तदपिनेति**—**न** केवलं व्रतादीनामानर्थक्यं भवेत् किं तर्हि ? **तदपि** आत्मभक्त्यनुपपत्तिप्रकाशनमपि त्वया क्रियमाणं न साधुः स्यादित्यर्थः । **यतः**—

यत्र भावः शिवं दत्ते द्यौः कियद्दूरवर्तिनी ।
यो नयत्याशु गव्यूतिं क्रोशार्धे किं स सीदति ॥४॥

टीका—**यत्र** आत्मनि विषये **भावः*** प्रणिधानं, कर्त्ता**दत्ते प्रयच्छति ।** किं ? **तच्छिवं** मोक्षं। भावु(व)काय—भव्याय इति शेषः । तस्यात्मविषयस्य शिवदानसमर्थस्यभावस्य **द्यौः** स्वर्गः **कियद्दूरवर्तिनी**—कियद्दूरे किंपरिमाणे व्यवहितदेशे वर्तते ? निकट एव तिष्ठतीत्यर्थः । स्वात्मध्यानोपात्तपुण्यस्य तदेक-फलत्वात् । तथा चोक्तं [तत्त्वानुशासने]—

गुरूपदेशमासाद्य ध्यायमानः समाहितः ।
अनंतशक्तिरात्मायं मुक्तिं भुक्तिं च यच्छति ॥१९६॥
ध्यातोऽर्हत्सिद्धरूपेण चरमांगस्य मुक्तये ।
तद्ध्यानोपात्तपुण्यस्य स एवान्यस्य भुक्तये ॥१९७॥

अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयन्नाह—य इत्यादि । **यो** वाहीको **नयति** प्रापयति किं ? स्वबाह्यं भारं । कां ? **गव्यूतिं** क्रोशयुगं । कथं ? **आशु** शीघ्रं **स किं क्रोशार्द्धे** स्वभारं नयन् **सीदति** खिद्यते ? न खिद्यत इत्यर्थः । महाशक्तावल्पशक्तेः सुघटत्वात् ।

स्वर्गे गतानां किं फलामिति ? अथैवमात्मभक्तेः स्वर्गगतिसाधनत्वेऽपि समर्थिते प्रतिपाद्यस्तत्फल जिज्ञासया गुरुं पृच्छति स्पष्टं गुरुरुत्तरयति—

हृषीकजमनातंकं दीर्घकालोपलालितम् ।
नाके नाकौकसां सौख्यं नाके नाकौकसामिव ॥५॥

टीका—वत्स ! अस्ति, किं तत् ? सौख्यं शर्म्म । केषां ? नाकौकसां देवानां न पुनः स्वर्गेऽपि जातानामेकेंद्रियाणां । क्व वसतां ? नाके स्वर्गे न पुनः क्रीडादिवशाद्रमणीयपर्वतादौ । किमतींद्रियं ? तन्नेत्याह—हृषीकजं हृषीकेभ्यः समीहितानंतरमुपस्थितं निजं, निजं विषयमनुभवद्भ्यः स्पर्शनादींद्रियेभ्यः जातं सर्वांगीणाल्हादनाकारतया प्रादुर्भूतं तथा राज्यादिसुखवत्सातंकं भविष्यतीत्या-

---

* प्रणिधाने भावः कर्ता पाठः ।

शकापनोदार्थमाह—**अनातङ्कं** न विद्यते आतङ्कः प्रतिपक्षादिकृतश्चित्तक्षोभो यत्र तं तथापि भोगभूमिजसुखवदल्पकालभोग्यं भविष्यतीत्याशंकायामाह—**दीर्घकालोपलालितं**—दीर्घकालं सागरोपमपरिछिन्नकालं यावदुपलालितमाज्ञाविधेयदेवदेवीस्वविलासिनीभिः क्रियमाणोपचारत्वात् उत्कर्षं प्रापितं । तर्हि क्व केषामिव तद् ? इत्याह—नाके नाकौकसामिव स्वर्गदेवानां यथा अनन्योपममित्यर्थः ।

यदि स्वर्गेऽपि सुखमुत्कृष्टं, किमपवर्गप्रार्थनया इति—अत्र शिष्यः प्रतिवतिष्ठते, भगवन् ! यदि चेत् स्वर्गेऽपि न केवलमपवर्गे—सुखमस्ति कीदृशं ? उत्कृष्टं मर्त्यादि सुखातिशायि तर्हि, कि कार्यं ? कया ? अपवर्गस्य मोक्षस्य प्रार्थनया—अपवर्गो मे भूयादित्यभिलाषेण ।

एवं च संसारसुख एव निर्बन्धं कुर्वन्तं प्रबोध्यं तत्सुखदु.खस्य भ्रांतत्वप्रकाशनाय आचार्यः प्रबोधयति:—

वासनामात्रामेवैतत्सुखं दुःखं च देहिनां ।
तथा ह्युद्वेजयंत्येते भोगा रोगा इवाऽऽपदि ॥६॥

टीका—एतत् प्रतीयमानं ऐंद्रियकं **सुखं दुःखं** चास्ति । कीदृशं ? **वासनामात्रमेव** जीवस्योपकारकत्वापकारकत्वाभावेन परमार्थतो देहादौ उपेक्षणीये तत्त्वानवबोधात् इदं ममेष्टमुपकारकत्वात् इदं चानिष्टमपकारकत्त्वादिति विभ्रमाज्जातः संस्कारो वासना, इष्टानिष्टार्थानुभवानंतरमुद्भूतः स्वसंवेद्य आभिमानिकः परिणामो। वासनैव, न स्वाभाविकमात्मस्वरूपमित्यन्ययोगव्यवच्छेदार्थो मात्र इति, स्वयोगव्यवस्थापकश्चैव शब्दः । केषां एतदेवंभूतमस्ति इत्याह—देहिनां—देह एवात्मत्वेन गृह्यमाणो अस्ति येषां ते देहिनो बहिरात्मानस्तेषां । एतदेव समर्थयितुमाह—तथाहीत्यादि । उक्तार्थस्य दृष्टान्तेन समर्थनार्थस्तथाहीति शब्दः । **उद्वेजयंति**—उद्वेगं कुर्वन्ति न सुखयन्ति । के ते ? **एते** सुखजनकत्वेन लोके प्रतीता **भोगाः** रमणीयरमणीप्रमुखाः इंद्रियार्थाः । क इव ? **रोगा इव** ज्वरादिव्याधयो यथा । कस्यां सत्याम**आपदि**—दुर्निवारवैरिप्रभृतिसंपादित दौर्मनस्यलक्षणायां विपदि । तथा चोक्तम्—

"मुञ्चाऽङ्ग ग्लपयस्यल क्षिप कुतोऽयक्षाश्च विद्भात्यदो,
दूरे धेहि न हृष्य एष (व) किमभूरन्या न वेत्सि क्षणम् ।
स्थेयं चेद्धि निरुंधि गामिति तवोद्योगे द्विषः स्त्री क्षिप—
स्त्याश्लेषक्रमुकाङ्गरागललितालापैर्विधित्सू रतिम् ॥"

अपिच—'रम्यं हर्म्यं चन्दनं चन्द्रपादा, वेणुर्वीणा यौवनस्था युवत्यः ।
नैते रम्या क्षुत्पिपासार्दितानां, सर्वारंभास्तंदुलप्रस्थमूलाः ॥"

तथा—'आतपे धृतिमता सह वध्वा यामिनीविरहिणा विहगेन ।
सेहिरे न किरणाहिमरश्मेर्दुःखिते (खिते) मनसि सर्व्वमसह्यम ॥"

इत्यादि, अतो ज्ञायते ऐन्द्रियकं सुखं वासनामात्रमेव, नाऽऽत्मनः स्वाभाविकाऽनाकुलत्वस्वभावं । कथमन्यथा लोके सुखजनकत्वेन प्रतीतानां अपि भावानां दुःखहेतुत्वं । एवं दुःखमपि ॥

एते सुखदुःखे खलु वासनामात्रे कथं न लक्ष्येते इति— अत्राह पुनः शिष्यः खल्विति वाक्यालंकारे निश्चये वा । कथं ? केन प्रकारेण न लक्ष्येते न संवेद्येते लोकैरिति शेषः । शेषं स्पष्टम् ।

अत्राचार्यः प्रबोधयतिः—

मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते न हि ।
मत्तः पुमान्पदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः ॥७॥

टीका—**नहि-नैव लभते**-परिछिन्नति धातूनामनेकार्थत्वात्लभेर्ज्ञानेऽपि वृत्तिस्तथा वल्लोको वक्ति-मयाऽस्य चित्तं लब्धमिति । किं तत् कर्तृ ? **ज्ञानं** धर्म्म-धर्म्मिणोः कथंचित्तादात्म्यादर्थग्रहणव्यापारपरिणत आत्मा । कं ? **स्वभाव**, स्वोऽसाधारणो—अन्योऽन्यव्यतिकरे सत्यपि व्यक्त्यंतरेभ्यो विवक्षितार्थस्य व्यावृत्तिप्रत्ययहेतुर्भावो धर्म्मः स्वभावस्तं । केषां ? पदार्थानां । सुखदुःखशरीरादीनां । किंविशिष्टं सत् ज्ञानं ? **संवृतं** प्रच्छादितं वस्तुयाथात्म्यप्रकाशने अभिभूतसामर्थ्यं । केन ? **मोहेन**—मोहनीयकर्म्मणो विपाकेन ।

तथाचोक्तम् [लघीयस्त्रये]—

मलविद्धमणेर्व्यक्तिर्यथानैकप्रकारतः ।
कर्म्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथानैकप्रकारतः ॥

नन्वमूर्तस्यात्मनः कथं मूर्तेन कर्म्मणाभिभवो युक्तः ? इत्यत्राह—**मत्त** इत्यादि । यथा नैव लभते । कोऽसौ ? **पुमान्** व्यवहारी पुरुषः । कं ? **स्वभावं** केषां ? पदार्थानां घटपटादीनां । किं विशिष्टः सन् ? **मत्तः** जनितमदः । कैः ? **मदनकोद्रवैः** ॥७॥

'स्वभावमनासादयन् विसदृशान्यवगच्छतीति'—पुनराचार्य एव प्राह—विराधक इत्यादि यावत् **स्वभावं** शरीरादीनां स्वरूपं **अनासादयन्** अलभमानः पुरुषः **विसदृशानि** शरीरादीनि अन्यथाभूतानि **अवगच्छति** प्रतिपद्यत इत्यर्थः ।

अमुमेवार्थं स्फुटयति—

वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः ।
सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते ॥८॥

टीका—प्रपद्यते । कोऽसौ ? **मूढः** स्वपरविवेकज्ञानहीनः पुमान् । **कानि,** वपुर्गृहादीनि वस्तूनि । किं विशिष्टानि ? स्वानि स्वश्चात्मा स्वानि चात्मीयानि स्वानि एकशेषाश्रयणादेकस्य स्वशब्दस्य लोपः । अयमर्थः दृढतममोहाविष्टो देहादिकमात्मानं प्रपद्यते—आत्मत्वेनाभ्युपगच्छति । दृढतरमोहाविष्टश्च आत्मीयत्वेन । किंविशिष्टानि संति स्वानि प्रपद्यत इत्याह—**सर्वथान्यस्वभावानि**—सर्वेण द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-लक्षणेन प्रकारेण स्वस्वभावादन्यो भिन्नः स्वभावो येषां तानि । किं किं इत्याह—**वपुः** शरीरं तावदचेतनत्वादिस्वभाव प्रसिद्धमस्ति । एवं **गृहं धनं दाराः** भार्याः **पुत्राः** आत्मजाः **मित्राणि** सुहृदः **शत्रवः** अमित्राः ॥८॥

अत्र हितवर्गमुद्दिश्य दृष्टान्तः ।'—**अत्र** एतेषु वपुरादिषु मध्ये **हितवर्गं** हितानामुपकारकाणां दारादीनां वर्गो गणस्तं उदिश्य विषयीकृत्य दृष्टान्तः उदाहरणं प्रदर्श्यते, अस्माभिरिति शेषः । तद्यथाः—

दिग्देशेभ्यः खगा एत्य संवसंति नगे नगे ।
स्वस्वकार्यवशाद्यांति देशे दिक्षु प्रगे प्रगे ॥६॥

टीका—**संवसंति** मिलित्वा रात्रिं यावन्निवासं कुर्वन्ति के ते ? **खगाः** पक्षिणः । क्व क्व ? **नगे नगे** वृक्षे वृक्षे । किं कृत्वा ? **एत्य** आगत्य । केभ्यो ? **दिग्देशेभ्यः**—दिशः पूर्वादयो दिशं । देशस्तस्यैकदेशो (शा) अंगवंगादयस्तेभ्योऽवधिकृतेभ्यः तथा **यांति** गच्छन्ति । के ते ? खगाः । कासु ? **दिक्षु** दिग्देशेषु इति प्राप्तेर्विपर्ययनिर्देशो गमननियमनिवृत्त्यर्थं तेन यो यस्या दिशिगच्छति यश्च यस्माद्देशादायातः स तस्मिन्नेवदेशे गच्छतीति नास्ति नियमः । किं तर्हि यत्र क्वापि यथेच्छं गच्छंतीत्यर्थः । कस्मात् **स्वस्वकार्यवशात्** निजनिजकरणीयपारतंत्र्यात् । कदा कदा ? **प्रगे प्रगे** प्रातः प्रातः । एवं संसारिणो जीवा अपि नरकादिगतिस्थानेभ्य आगत्य कुले स्वायुः कालं यावत् संभूय तिष्ठंति तथा निजनिज (कर्म) पारतंत्र्यात् देवगत्यादिस्थानेष्वनियमेन स्वायुः कालान्ते गच्छन्ति इति प्रतीहि । कथ भद्र ! तव दारादिषु हितबुद्धया गृहीतेषु सर्वथान्यस्वभावेषु आत्मीयभावः ? यदि खलु एते त्वदात्मका स्युः तदा त्वयि तदवस्थयैव कथमवस्थान्तरं गच्छेयुः । यदि चैते तावकाः स्युस्तर्हि कथं ? तवप्रयोगमंतरेणैव यत्र क्वापि प्रयांतीति मोहग्रहावेशमपमार्य यथावत्पश्येति दार्ष्टान्ते दर्शनीयं ॥६॥

'अहितवर्गेऽपि दृष्टान्तः प्रदर्श्यते' अस्माभिरिति योज्यम्:—

विराधकः कथं हंत्रे जनाय परिकुप्यति ।
त्र्यगुलं पातयन्पद्भ्यां स्वयं दंडेन पात्यते ॥१०॥

टीका—कथमित्यरुचौ, न श्रद्दधे । **कथं परिकुप्यति** समंतात् कुप्यति । कोऽसौ ? **विराधकः** अपकारकर्ता जनः । कस्मै ? **हंत्रे जनाय** प्रत्यपकारकाय लोकाय ।

'सुखं वा यदि वा दुःखं येन यच्च कृतं भुवि ।
अवाप्नोति स तत्तस्मादेष मार्गः सुनिश्चितः ॥'

इत्यभिधानात् अन्याय्यमेतदिति भावः। अत्र दृष्टान्तमाचष्टे-**ध्यंगुल**-इत्यादिः—**पात्यते भूमौ** क्षिप्यते। कोऽसौ? यः कश्चिदसमीक्ष्यकारी जनः केन, **दंडेन** हस्तधार्यकाष्ठेन। कथं पात्यते? स्वयं—प्रेरणमंतरेणैव पात्यते। किं कुर्वन्? **पातयन्**–भूमिं प्रति नामयन्। किं तत्? ध्यंगुलं अंगुलित्रयाकारं **कच्चरा**धाकर्षणावयवं। काभ्यां? **पद्भ्यां** पादाभ्यां, ततोऽहिते प्रीतिरहिते चाऽप्रीतिः स्वहितैषिणा प्रेक्षावता न करणीया।

हिताहितयोः रागद्वेषौ कुर्वन्—अत्र विनेयः पृच्छति—**हिताहितयो रागद्वेषौ कुर्वन किं कुरुते**? दारादिषु रागं शत्रुषु च द्वेषं कुर्वाणः किं कुरुते आत्मने, हितं कार्यं कुरुते येन तावत् कार्यतयोपदिश्यते इत्यर्थः। अत्राऽऽचार्यः समाधत्ते—

रागद्वेषद्वयीदीर्घनेत्राऽऽकर्षणकर्मणा।
अज्ञानात्सुचिरं जीवः संसाराब्धौ भ्रमत्यसौ ॥११॥

टीका—भ्रमति संसरति। कोः? **असौ जीवश्चेतनः**। क्व? **संसाराब्धौ**—संसारः द्रव्यादिपरिवर्तनरूपो भवोऽब्धिः समुद्रइव दुःखहेतुत्वात् दुस्तरत्वाच्च तस्मिन्। कस्मात्? **अज्ञानात्** देहादिष्वात्मविभ्रमात्। कियत्कालं? **सुचिरं** अतिदीर्घकालं। केन? **रागद्वेषद्वयी दीर्घनेत्राऽऽकर्षणकर्मणा**—रागः इष्टे वस्तुनि प्रीतिः द्वेषश्चानिष्टेऽप्रीतिस्तयोर्द्वयी—रागद्वेषयोः शक्तिव्यक्तिरूपतया युगपत् प्रवृत्ति ज्ञापनार्थं द्वयो ग्रहणं, शेषदोषाणां च तद्द्वयप्रतिबद्धत्वबोधनार्थं। तथा चोक्तम् [ज्ञानार्णवे]—

'यत्र रागः पदं धत्ते द्वेषस्तत्रेति निश्चयः।
उभावेतौ समालम्ब्य विक्रमत्यधिकं मनः २३-२५॥'

अपि च—आत्मनि सति परसंज्ञा, स्व-पर-विभागात् परिग्रहद्वेषौ।
अनयोः संप्रतिबद्धाः सर्वे दोषाश्च जायंते॥

सा दीर्घनेत्रं आयतमंथाकर्षणपाश इव भ्रमणहेतुत्वात्तस्याकर्षणकर्म-जीवस्य रागादिरूपतया परिणमनं नेत्रस्याकर्षणत्वाभिमुखाऽऽनयनं तेन। अत्रोपमानभूतो मंथदंड आक्षेप्यस्तेन यथा—नेत्राकर्षणव्यापारे मंथाचलः समुद्रे सुचिरं भ्रांतो लोके प्रसिद्धस्तया स्वपरविवेकानवबोधात्। यदुद्भूतेन रागादिपरिणामेन

कारणे कार्योपचारात्तज्जनितकर्मबन्धेन संसारस्थो जीवो अनादिकालं संसारे भ्रांतो भ्रमति भ्रमिष्यति इति। भ्रमतीति इति "अत्र तिष्ठंते पर्वता" इत्यादिवत् नित्यप्रवृत्ते लटो विधानात्। उक्तं च—[पंचत्थिपाहुडे]—

'जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो हवदि गदि-सु-गदी ॥१२८॥
गदिमधिगदस्य देहो देहादो इंदियाणि जायंति।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥१२६॥
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कबालम्मि।
इदि जिणवरेहिं भणियं अणाइणिहणो सणिहणो वा ॥१३०॥'

'**तस्मिन्नपि यदि सुखी स्यात् को दोष ? इति**'—अथ प्रतिपाद्यः पर्यनुयुङ्क्ते भगवन्! **तस्मिन्नपि** संसारेपि न केवलं मोक्षे इत्यपि शब्दार्थः। यदि चेत्जीवः **सुखी** सुखयुक्तो भवेत् तर्हि को दोषः ? न कश्चित् दोषो ? दोषः दुष्टत्वं, संसारस्य सर्वेषां सुखस्यैवाप्तुमिष्टत्वात्; येन संसारच्छेदाय सन्तो यतेरन् इति अत्राऽऽह।

विपद्भवपदाऽऽवर्ते पदिकेवातिवाह्यते।
यावत्तावद्भवंत्यन्याः प्रचुरा विपदः पुरः ॥१२॥

टीका—वत्स! यावत् अतिबाह्यते अतिक्रम्यते; प्रेर्यते, काऽसौ? विपत् सहजशरीरमानसाऽऽगंतुकानामापदां मध्ये या काऽप्येका विवक्षिता आपत्। जीवनेति शेषः। क्व? भवपदाऽऽवर्ते भवः संसारः पदावर्तइव—पादचाल्यघटीयंत्रमिव—भूयो भूयः परिवर्तमानत्वत्। तस्मिन् क, इव ? पदिकाइव—पादाऽऽक्रांतदंडिका यथा तावद्भवंति। काः? अन्याः अपूर्वा प्रचुरा—बह्व्यो **विपदः** आपदः पुरः अग्रे जीवस्य, पदिकेव, काछिकस्येति सामर्थ्याद्व्याख्यायाम्। अतो जानीहि दुःखैकनिबंधनविपत्तिनिरंतरत्वात् संसारस्य अवश्यविनाशित्वम् ॥१२॥

न सर्वे विपद्वन्तः स-संपदोपि दृश्यंत इति'—पुनः शिष्य एवाह भगवन्! **सर्वे** समस्ता अपि संसारिणः विपद्वन्तः विपत्तियुक्ताः न सन्ति **ससम्पदोऽपि दृश्यन्ते** सश्रीकाणामपि केषांचिद् दृश्यमानत्वात् इति अत्राऽऽह—

दुरर्ज्येनाऽसुरक्षेण नश्वरेण धनादिना ।
स्वस्थंमन्यो जनः कोऽपि ज्वरवानिव सर्पिषा ॥१३॥

टीका—भवति । कोऽसौ ? **जनः** जीवः लोकः । किंविशिष्टः ? **कोऽपि**—कश्चिदपि सर्वः । किंविशिष्टो भवति ? **स्वस्थंमन्यो** स्वथमात्मानं मन्यमानो अहं सुखीति मन्यत इत्यर्थः । केन कृत्वा ? **धनादिना** द्रव्यकामिन्यादीष्टवस्तुजातेन । किंविशिष्टेन ? **दुरर्ज्येन**—अपायबहुलत्वाद् दुर्ध्यानावेशाच्च दुःखेन महता कष्टेनाऽर्ज्यत इति दुरर्ज्येन—तथा असुरक्षेण दुस्त्राणेन यत्नतो रक्ष्यमाणस्याप्यपायस्यावश्यं भावित्वात् । तथा नश्वरेण अशाश्वतेन रक्ष्यमाणस्यापि विनाशसंभवात् । अत्र दृष्टांतमाह—ज्वरेत्यादि-इव शब्दो यथार्थे इव यथा कोऽपि मुग्धो **ज्वरवान्** अतिशयेन मतेर्विनाशात् सामज्वराऽऽर्तः **सर्पिषा** घृतेन पानाद्युपयुक्तेन, **स्वस्थंमन्यो** भवति—निरामयमात्मानं मन्यते । ततो बुद्धयस्व—दुरुपार्ज्य-दूरक्षण-भंगुर-द्रब्यादिना दुःखमेव स्यात् । उक्तं च—

'अर्थस्योपार्ज्जने दुःखमर्जितस्य च रक्षणे ।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थ दुःखभाजनम् ।"

एवं विधां संपदं कथं न त्यजतीति ।'—भूयोऽपि विनेयः पृच्छति **एवं विधां** अनेन दुरर्ज्यत्वादिप्रकारेण लोकद्वयोऽपि दुःखदां **सम्पदं** धनादिसंपत्ति **कथं न त्यजति** मुंचति जनः कथमिति विस्मयगर्भे प्रश्ने । अत्रगुरुरुत्तरमाह—

विपत्तिमात्मनो मूढ़ः परेषामिव नेक्षते ।
दह्यमान-मृगाऽऽकीर्णवनांतर-तरुस्थवत् ॥१४॥

टीका—**नेक्षते** न पश्यति । कोऽसौ ? मूढः-धनाद्यासक्त्या लुप्तविवेको लोकः । कां ? **विपत्ति**-चौरादिना क्रियमाणां धनापहाराद्यापदं । कस्य ? **आत्मनः**-स्वस्य । केषामिव ? **परेषामिव**, यथा इमे विपदा आक्रम्यन्ते तथाऽहमपि आक्रंतव्य इति न विवेचयतीत्यर्थः । क इव ? **दह्यमान-मृगाकीर्ण-वनान्तर-तरुस्थवत्** दह्यमानैः दावानलज्वालादिभिर्भस्मीक्रियमाणैर्मृगैर्हरिणादिभिराकीर्णस्य संकुलस्य वनस्यांतरे मध्ये वर्तमानं । तरुं वृक्षमारूढो जनो यथा, आत्मनो मृगाणामिव विपत्ति न पश्यति ॥१४॥

कुत एतदिति ? लोभादिति—पुनराह शिष्यः भगवन् ! **कुत** कस्माद्धेतो एतत् इदं सन्निहिताया अपि विपदोऽदर्शनं जनस्य इति ? गुरुराह वत्स ! **लोभादिति,** धनादिगाध्र्यात् पुरोवर्तिनीमप्यापदं धनिनो न पश्यंति इति। यतः—

आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं कालस्य निर्गमं।
वांछतां धनिनामिष्टं जीवितात्सुतरां धनम् ॥१५॥

टीका—वर्तते। किं तत् ? **धनं**। किंविशिष्टं ? **इष्टं** अभिमतं। कथं ? **सुतरां** अतिशयेन कस्मात् ? **जीवितात्** प्राणेभ्यः। केषां ? **धनिनां** किं कुर्वतां ? **वांछतां**। कं ? **निर्गमं** अतिशयेन गमनं। कस्य ? **कालस्य**। किंविशिष्टं ? **आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं** आयुः क्षयस्य वृद्ध्युत्कर्षस्य च कालांतरवर्द्धनस्य कारणं अयमर्थः–धनिनां तथा जीवितव्यं नेष्टं यथा धनं। कथमन्यथा जीवितक्षयकारणमपि धनवृद्धिहेतुं कालनिर्गमं वांछंति। अतो 'धिग्धनम्' एवंविधव्यामोहहेतुत्वात्।

धनं कथं निंद्यं ? येन पुण्यमुपार्ज्यते इति'—अत्राह शिष्यः। पात्रदानदेवार्चनादिक्रियायाः पुण्यहेतोर्धनं विना असंभवात्, पुण्यसाधनं धनं कथं निंद्यं ? किं तर्हि प्रशस्यमेव अतो **येन** धनेन यथा कथंचिद्धनमुपार्ज्य पात्रादौ च नियुज्य सुखाय पुण्यमुपार्जनीयं इति अत्राह—

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः।
स्वशरीरं स पंकेन स्नास्यामीति विलिम्पति ॥१६॥

टीका—यः अवित्तः, निर्धनः सन् **संचिनोति** सेवाकृष्यादिकर्मणोपार्जयति। किं तत् ? **वित्त**-धनं। कस्मै ? **त्यागाय** पात्रदानदेवपूजाद्यर्थं त्यागायेत्यस्य देवपूजाद्युपलक्षणार्थत्वात्। कस्मै त्यागः ? **श्रेयसे** अपूर्वपुण्याय पूर्वोपात्तपापक्षयाय। यस्य तु चक्रवर्त्यादेरिवायत्नेन धनं सिद्ध्यति स तेन श्रेयोऽर्थं पात्रदानादिकमपि करोतु इति भावः। स किं करोति इत्याह **विलिंपति** विलेपनं करोति। कोऽसौ ? **सः**, किं तत् ? **स्वशरीरं**। केन ? **पङ्केन**-कर्दमेन। कथं कृत्वा इत्याह **स्नास्यामीति**। अयमर्थः, यथा कश्चिन्निर्मलमङ्गं स्नानं करिष्यामीति पंकेन

विलिपन् असीक्ष्यकारी तथा पापेन धनुमुपार्ज्य पात्रदानादिपुण्येन पापं क्षपयिष्यामीति धनार्जने प्रवर्तमानोऽपि । न च शुद्धवृत्या कस्यापि धनार्जनं संभवति ।

तथा चोक्तम् [आत्मानुशासने]—

"शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते सतामपि न संपदः ।
नहि स्वच्छांबुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिंधवः ॥"

'भोगोपभोगायस्यादिति तदपि नेति यतः'—पुनराह शिष्यः भगवन् ! यद्येवं धनार्जनस्य पापप्रायतया दुःखहेतुर्वा धनं निद्यं, तर्हि धनं विना सुखहेतोर्भोगोपभोगस्यासंभवात् तदर्थं धनं **स्यादिति** प्रशस्यं भविष्यतीति । **भोगोभोगाय** भोगो-भोजनताम्बूलादिः । उपभोगो-वास्तुकामिन्यादिः । भोगाश्चोपभोगाश्च भोगोपभोगं तस्मै । **तदपि नेतियत्** न **तदपि** केवलं पुण्यहेतुतया धन प्रशस्यमिति यत्त्वयोक्तं तदुक्तरीत्या न स्यात् । किं तर्हि ? भोगोपभोगार्थ तत्साधनं प्रशस्यमिति यत्त्वया संप्रति उच्यते तदपि न स्यात् । कुत इति चेत्, यतः ।

आरंभे तापकान्प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान् ।
अंते सुदुस्त्यजान कामं* कामान् कः सेवते सुधीः ॥१७॥

टीका—**कः**, न कश्चित् **सुधीः** विद्वान् **सेवते** इंद्रियप्रणालिकयाऽनुभवति । कान् ? भोगोपभोगान् । उक्तं च—

"तदात्वसुखसंज्ञेषु भावेष्वज्ञोऽनुरज्यते ।
हितमेवानुरुध्यंते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः ॥"

कथं भूतान्, **कामान् तापकान्** देहेंद्रियमनः क्लेशहेतून् । क्व ? आरंभे उत्पत्त्युपक्रमे । अन्नादिभोग्यद्रव्य—संपादनस्य कृष्यादिक्लेशबहुलतया सर्वजनसुप्रसिद्धत्वात् । तर्हि किं भुज्यमानाः कामाः संभूतिसेव्यास्ते इति अत्राह । **प्राप्तौ** इन्द्रियेण सम्बन्धे सति **अतृप्ति प्रतिपादकान्** अतृप्तेः सुतृष्णायाः प्रतिपादकान् दायकान् । उक्तं च [ज्ञानार्णवे]—

"अपि संकल्पिताः कामाः संभवंति यथा यथा ।
तथा तथा मनुष्याणां तृष्णा विश्वं विसर्पति ॥"२०—३०

---

* कामान् कामं इति पाठः ।

तर्हि यथेष्टं भुक्त्वातृप्तेषु तेषु तृष्णासंतापः शाम्यतीति सेव्यास्ते इत्याह। **अंते सुदुस्त्यजान्** भुक्तिप्रांते त्यक्तुमशक्यान्। सुभक्तेष्वपि तेषु मनोव्यतिषङ्गस्य दुर्निवारत्वात्। उक्तं च [चन्द्रप्रभचरिते]—

"दहनस्तृणकाष्ठसंचयैरपि तृप्येदुदधिर्नदीशतैः।

न तु कामसुखैः पुमानहो बलवत्ता खलु काऽपि कर्म्मणः॥

अपि च—किमपीदं विषयमयं विषमतिविषमं पुमानयं येन।

प्रसभमनुभूयमानो भवे भवे नैव चेतयते॥"

ननु तत्त्वविदोऽपि भोगानभुक्तवंतो न श्रूयंते इति **कामान् कः सेवते सुधीः इत्युपदेशः कथं** श्रद्धीयत इत्याह **कामं** इति। कामं अत्यर्थं। इदमत्र तात्पर्यं चारित्रमोहोदयात् भोगान् त्यक्तुमशक्नुवन्नपि तत्त्वज्ञो हेयरूपतया कामान्पश्यन्नेव सेवते, मंदीभवन्मोहोदयस्तु ज्ञान-वैराग्य-भावनया करणग्रामं संयम्य सहसा स्वकार्यायोत्सहत एव। तथा चोक्तम्—

'इदं फलमियं क्रिया करणमेतदेष क्रमो, व्ययोऽयमनुषंगजं फलमिदं दशेयं मम।
अयं सुहृदयं द्विषन् प्रयतिकालदेशाविमाविति प्रतिवितर्कयन् प्रयतते बुधो नेतरः॥

किंच '**यदर्थमेतदेवंविधमिति**।'—(स एव विध इति) भद्र ! यदर्थं यत्कायलक्षणं वस्तुसंतापाद्युपेतं उपकर्तुं कामस्त्वया प्रार्थ्यते एतद् एवं विधं वक्ष्यमाण लक्षणमित्यर्थः, **स एवंविध** इत्यपि पाठः। तद्यथा—

भवंति प्राप्य यत्संगमशुचीनि शुचीन्यपि।
स कायः संततापायस्तदर्थं प्रार्थना वृथा॥१८॥

टीका—वर्तते। कोऽसौ? स कायः शरीरं। किंविशिष्टः? संततापायः नित्य-क्षुधाद्युपतापः। स कः, इत्याह—यत्संगं—येन कायेन सह संबंधं, प्राप्य लब्ध्वा शुचीन्यपि पवित्ररम्याण्यपि भोजनवस्त्रादिवस्तून्यशुचीनि भवंति। यतश्चैवं ततस्तदर्थं तं संततापायं, कायं शुचिवस्तुभिरुपकर्तुं प्रार्थना आकांक्षा तेषामेव वृथा-व्यर्था केनचिदुपायेन निवारितेऽपि एकस्मिन्नपाये क्षणे क्षणे पराऽपरापायो-पनिपातसम्भवात्॥१८॥

'तर्हि धनादिनाप्यात्मोपकारो भविष्यतीति' तन्नेति पुनरप्याह शिष्यः ! भगवन् ! संततापायतया कायस्य धनादिना यद्युपकामो न स्यात्तर्हि धनादिनाऽपि न केवलमनशनादितपश्चरणेन इत्यपि शब्दार्थः । आत्मनो जीवस्योपकारोऽनुग्रहो भविष्यतीत्यर्थः । गुरुराह । यत्त्वया धनादिना आत्मोपकारभवनं संभाव्यते **तन्न** तन्नास्तीति । यतः—

यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्याऽपकारकम् ।
यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकम् ॥१९॥

टीका—यत् अनशनादितपोऽनुष्ठानं **जीवस्य** पूर्वापूर्वपापक्षपणनिवारणाभ्यां **उपकाराय** स्यात**द्देहस्यापकारकं** ग्लान्यादिनिमित्तत्वात् । यत्पुनर्धनादिकं देहस्य भोजनाद्युपयोगेन क्षुधाद्युपतापक्षयत्वादुपकाराय स्यात्तज्जीवस्योपार्ज्जनादौ पापजनकत्वेन दुर्गतिदुःखनिमित्तत्वादपकारकं स्यादतो जानीहि जीवस्य धनादिना नोपकारगंधोऽप्यस्ति धर्मस्यैव तदुपकारकत्वात् ।

तर्हि कायस्योपकारश्चित्यते इति तन्नेति—अत्राह शिष्यः । भगवन् ! यद्येवं तर्हि 'शरीरमाद्यं खलु धर्म्मसाधनम्' इत्यभिधानात्तस्यापायनिरासाय यत्नः क्रियते न च कायस्यापायनिरासो दुष्कर इति वाच्यं । ध्यानेन तस्यापि सुकरत्वात् । तथा चोक्तम् [तत्त्वानुशासने]—

"यदात्रिकं फलं किंचित्फलमामुत्रिकं च यत् ।
एतस्य द्वितयस्यापि ध्यानमेवाऽग्रकारणम्" ॥२१७॥

'झाणस्स ण दुल्लहं किंपि इति च—अत्र गुरुः प्रतिषेधमाह **तन्न** ध्यानेन कायस्योपकारो न चिंत्य इत्यर्थः । [यतः]

इतश्चिन्तामणिर्दिव्य इतः पिण्याकखण्डकम् ।
ध्यानेन चेदुभे लभ्ये क्वाऽऽद्रियन्तां विवेकिनः ॥२०॥

टीका—अस्ति । कोऽसौ ? **चिन्तामणिः**—चिंततार्थप्रदो रत्नविशेषः । किंविशिष्टो ? **दिव्यो** देवेनाधिष्ठितः । **क्व इतः** ? अस्मिन्नेकस्मिन् पक्षे

इतश्चान्यस्मिन् पक्षे **पिण्याकखण्डकं** कुत्सितं अल्पं वा खलखंडकं अस्ति । एते च उभे द्वे अपि यदि **ध्यानेन** लभ्ये-अवश्यं लभ्ये, तर्हि **कथय क्व द्वयोर्मध्ये** कतरस्मिन्नेकस्मिन् विवेकिनः लोभच्छेदविचारचतुरा **आद्रियंतां** आदरं कुर्वन्तु। तदैहिकफलाभिलाषं त्यक्त्वा आमुत्रिकफलसिद्ध्यर्थमेवात्मा ध्यातव्यः । उक्तं च [तत्त्वानुशासने]—

"तद्ध्यानं रौद्रमार्त्तं वा यदैहिकफलार्थिनां ।
तस्मादेतत्परित्यज्य धर्म्यं शुक्लमुपास्यताम् ॥"२२०

स आत्मा कीदृश इति—अथैवमुद्बोधितश्रद्धानो विनेयः पृच्छति यो युष्माभिर्ध्यातिव्यतयोपदिष्टः पुमान् स किंस्वरूप इत्यर्थः । गुरुराह:—

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः ।
अत्यंतसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः ॥२१॥

टीका—अस्ति । कोऽसौ ? **आत्मा** । कीदृशः ? **लोकालोकविलोकनः** लोकोजीवाद्याकीर्णमाकाशं ततोऽन्यदलोकः तौ विशेषेण अशेषविशेषनिष्ठतया लोक्यते पश्यति जानाति इति [विलोकनः]। एतेन "**ज्ञानशून्यं चैतन्यमात्रमात्मा**" इति सांख्यमतं, बुद्ध्यादिगुणोज्झितः पुमानिति यौगमतं च प्रत्युक्तं । प्रतिध्वस्तश्च नैरात्म्यवादो बौद्धानां । पुन. कीदृशः ? **अत्यन्तसौख्यवान्**-अनन्तसुखस्वभावः एतेन सांख्ययौगतन्त्रं प्रत्याहृतं । पुनरपि कीदृशः? **तनुमात्रः** स्वोपात्तशरीरपरिमाणः इति । एतेन व्यापकं वटकणिकामात्रं चात्मान वदंतौ प्रत्याख्यातौ। पुनरपि कीदृशः ? **निरत्ययाः** द्रव्यरूपतया नित्यः एतेन गर्भादिमरणपर्यन्त जीवं प्रतिजानानश्चार्वाको निराकृतः ननु प्रमाणसिद्धे वस्तुन्येव गुणवादः श्रेयान्-नचात्मनस्तथा प्रमाणसिद्धत्वमस्तीत्यारेकायामाह । **स्वसंवेदन-सुव्यक्तः** इति । [उक्तं च तत्त्वानुशासने]—

"वेद्यत्वं वेदकत्वं च यत्स्वस्य स्वेन योगिनः ।
तत्स्वसंवेदनं प्राहुरात्मनोऽनुभवं दृशम् ॥१६१॥

इत्येवं लक्षणस्वसंवेदनप्रत्यक्षेण सकलप्रमाणधुर्येण **सुव्यक्तः** सु-सुष्ठु उक्तैश्च गुणैः संव्यक्तः इत्यपि पाठः संपूर्णतया व्यक्तः विशदतयानुभूतो योगिभिः स्वैकदेशेन ?॥२१॥

यद्येवं, तस्योपास्तिः कथमिति ?

अत्राह शिष्यः—**यद्येवमात्मास्ति तस्योपास्तिः कथमिति** स्पष्टम् आत्म-सेवोपायप्रश्नोऽयम् । गुरुराह—

संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः ।
आत्मानमात्मवान्ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितम् ।।२२।।

टीका—**ध्यायेत्**—भावयेत्, कोऽसौ ? **आत्मवान्** गुप्तेंद्रियमनाध्यस्त ? स्वायत्तवृत्तिर्वा । कं ? **आत्मानं** यथोक्तस्वभावं पुरुषं । केन ? **आत्मनैव** स्वसंवेदनरूपेण स्वेनैव तज्ज्ञप्तौ करणांतराभावात् उक्तं च [तत्त्वानुशासने]—

"स्वपरज्ञप्तिरूपत्वात् न तस्य करणांतरम् ।
ततश्चिन्तां परित्यज्य स्वसंवित्यैव वेद्यताम् ।।१६२।।"

क्व तिष्ठंतं इत्याह—**आत्मनि** स्थितं वस्तुतः सर्वभावानां स्वरूप मात्रा-धारत्वात् । किं कृत्वा ? संयम्य-रूपादिभ्यो व्यावृत्य । किं ? **करणग्रामं** चक्षुरा-दींद्रियगणं । केनोपायेन ? **एकाग्रत्वेन**-एकं विवक्षितमात्मानं तं द्रव्यं पर्यायो वा अग्रं प्राधान्येनालंबनं विषयो यस्य [तत्] अथवा एकं पूर्वापरपर्यायाऽनुस्यूतं अग्रं आत्मग्राह्यं यस्य तदेकाग्रं तद्भावेन । कस्य? चेतसः मनसः । अयमर्थः यत्र क्वचिदात्मन्येव वा श्रुतज्ञानावष्टंभात् आलंबितेन मनसा । इन्द्रियाणि निरुद्धय स्वात्मानं च भावयित्वा तत्रैकाग्रतामासाद्य चिंतां त्यक्त्वा स्वसंवेदते-नैवात्मानमनुभवेत् । उक्तं च—

"गहियं तं सुयणाणा पच्छा संवेयणेण भाविज्जा ।
जो ण हु सुयमवलंबइ सो मुज्झइ अप्पसब्भावो ।।"

तथा च [समाधितंत्रे]—"प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं मां मयैव मयि स्थितं ।
बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानन्दनिर्वृतम् ।।३२।।"२२।।

आत्मोपासनया किमिति—अथाह शिष्यः—भगवन् **आत्मोपासनया** आत्मसेवनया किं प्रयोजनं स्यात् ? फलप्रतिपत्तिपूर्वकत्वात् प्रेक्षावत्प्रवृत्तेरिति पृष्टः सन्(गुरु)राचष्टेः—

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः ।
"ददाति यत्तु यस्यास्ति"–सुप्रसिद्धमिदं वचः ॥२३॥

टीका—**ददाति** । काऽसौ, अज्ञानस्य देहादेर्मूढभ्रांतिः(न्तेः) संदिग्धगुर्वादेर्वा उपास्तिः सेवा किं ? अज्ञानं, मोहभ्रमसन्देहलक्षणं तथा ददाति । कोऽसौ ? **ज्ञानिनः** स्वभावस्यात्मनो ज्ञानसंपन्नगुर्वादेर्वा **समाश्रयः** । अनन्यपरतया सेवनं । किं ? ज्ञानं स्वार्थविबोधं । उक्तं च—

ज्ञानमेव फलं ज्ञाने ननु श्लाघ्यमनश्वरम् ।
अहो मोहस्य माहात्म्यमन्यदप्यत्र मृग्यते ॥

कोऽत्र दृष्टांतः ? इत्याह–यद् इत्यादि ददाति इत्यत्रापि योज्यं । 'तु अवधारेण' तेनायमर्थ संपद्यते । यदेव यस्य स्वाधीनं विद्यते स सेव्यमानस्तदेव ददातीतिएतद्वाक्यं लोके सुप्रतीतमतो भद्र ज्ञानिनमुपास्य समुल्लंभितस्वपरविवेकज्योतिरजस्रमात्मानमात्मनाऽऽत्मनि सेव्यश्च ॥२३॥

ज्ञानिनः किं ? इति ।

अत्राऽप्याह शिष्यः । **ज्ञानिनः अध्यात्मस्थस्य किं भवती इति** निष्पन्नयोग्यपेक्षया स्वात्मध्यानफलप्रश्नोऽयम् । गुरुराह—

परीषहाद्यविज्ञानादास्रवस्य निरोधिनी ।
जायतेऽध्यात्मयोगेन कर्मणामाशु निर्जरा ॥२४॥

टीका—**जायते** भवति । काऽसौ ? **निर्ज्जरा**–एकदेशेन संक्षयो विश्लेष-इत्यर्थः । केषां ? **कर्म्मणां** सिद्धयोग्यपेक्षयाऽशुभानां शुभानां च साध्ययोग्यपेक्षया त्वसद्वेद्यादीनां कथं ? **आशु-सद्यः** । केन ? **अध्यात्मयोगेन** आत्मन्यात्मनः प्राणिधानेन, किं केवला ? नेव इत्याह-**निरोधिनी**–प्रतिषेधयुक्ता कस्य ? आस्रवस्य आगमनस्य कर्मणामित्यत्रापि योज्यं कुत इत्याह [परिषहाद्यविज्ञानात्] परीषहाणां क्षुधादि दु.खभेदानां आदिशब्दाद्देवादिकृतोपसर्गबाधानां अविज्ञात् असंवेदनात् । तथा चोक्तम्—

'यस्य पुण्यं च पापं च निष्फलं गलति स्वयम् ।
स योगी तस्य निर्वाणं न तस्य पुनरास्रवः' ॥१॥

तथाच—[तत्त्वानुशासने]—

'तथाह्यचरमांगस्य ध्यानमभ्यस्तः सदा ।
निर्जरा संवरश्चास्य सकलाऽशुभकर्मणां ॥२२५॥

अपि च—[समाधितन्त्रे]—

आत्मदेहांतरज्ञानजनिताह्लादनिर्वृतः ।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुंजानोऽपि न खिद्यते ॥३४॥

सा खलु कर्म्मणो भवति तस्य सम्बन्धस्तदा कथमिति । (श्रूयतां)

टीका—एतच्च व्यवहारनयादुच्यते । कुत ? इत्याशंकायां पुनराचार्य एवाह । वत्स ! आकर्णय खलु यस्मात् सा एकदेशेन विश्लेषलक्षणा निर्ज्जरा कर्मणः चित्समान्यानुविधायिपुद्गलपरिणामरूपस्य द्रव्यकर्मणः सम्बन्धिनी संभवति द्रव्ययोरेव संयोगपूर्वविभागसंभवत् तस्य द्रव्यकर्मणस्तदा योगिनः स्वरूपमात्रावस्थानकाले सम्बन्धः प्रत्यासत्तिरात्मना सह । कथं ? केन संयोगादिप्रकारेण सम्भवति ? इति सूक्ष्मेक्षिकया समीक्षस्व न कथमपि सम्भवतीत्यर्थः । यदा खल्वात्मैव ध्यानं ध्येयं च स्यात्तदा सर्वात्मनाप्यात्मनः परद्रव्याद् व्यावृत्य स्वरूपमात्रावस्थितत्वात् कथं द्रव्यांतरेण संबंधः स्यात्तस्य द्विष्ठत्वात् । न चैतत् संसारिणो न संभवतीति वाच्यं । संसारतीरप्राप्तस्यायोगिनो मुक्तात्मवत्पचह्रस्वस्वरोच्चारणकालं यावत्तथावस्थानसंभवात् कर्मक्षपणाभिमुखस्य (तत्)-लक्षणोत्कृष्टशुक्ललेश्यासंस्कारावेशवशात्तावन्मात्रकर्म्मपारतन्त्र्यव्यवहरणात् ।

तथाचोक्तम् परमागमे—

"सीलेसि संपत्तो णिरुद्धणिस्सेसआसवो जीवो ।
कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि ॥"

श्रूयतां चास्यैवाऽर्थस्य संग्रहश्लोकः—

कटस्य कर्त्ताहमिति सम्बन्धः स्याद् द्वयोर्द्वयोः ।
ध्यानं ध्येयं यदात्मैव सम्बन्धः कीदृशस्तदा ॥२५॥

टीका—**स्यात्** भवेत् । कोऽसौ ? **सम्बन्धः** द्रव्यादिना प्रत्यासत्तिः । कयोः ?

द्वयोर्द्वयोः कथंचिद्भिन्नयोः पदार्थयोः इति अनेन लोकप्रसिद्धेन प्रकारेण कथं-मिति यथाहमस्मि । कीदृशः, कर्ता निर्माता । कस्य ? कटस्य वंशदलानां जला-दिप्रतिबंधाद्यर्थस्य परिणामस्य । एवं संबंधस्य द्विष्ठतां प्रदर्श्य प्रकृतेर्व्यतिरेक-माह । **ध्यान**मित्यादि ध्यायते येन ध्यायति वा यस्तद्ध्यानं ध्याति क्रियां प्रति करणं कर्ता वा । उक्तं च; [तत्त्वानुशासने]—

'ध्यायते येन तद्ध्यानं यो ध्यायति स एव वा ६७ ॥'

ध्यायत इति **ध्येयं** (तच्च)ध्यातिक्रिययाऽऽप्यं । यदा यस्मिन् आत्मनः परमा-त्मना सहैकीकरणकाले आत्मैव चिन्मात्रमेव स्यात् तदा कीदृशः (संयोगादिप्रकारः संबंधो द्रव्यकर्मणा सहात्मनः स्यात् 'येन जायते) ऽध्यात्मयोगेन कर्म्मणामाशु निर्ज्जरेति' परमार्थतः कथ्यते ।

तर्हि कथं बंधस्तत्प्रतिपक्षश्चमोक्ष इति ?—अत्राह शिष्यः भगवन् ! यदि आत्मकर्मद्रव्योयरध्यात्मयोगेन विश्लेषः क्रियते तर्हि कथं केनोपायप्रकारेण तयोः बंधः परस्परप्रदेशानुप्रवेशलक्षणः संश्लेषः स्यात् । तत्पूर्वकत्वात् विश्लेषस्य, कथं च तत्प्रतिपक्षो बंधविरोधी मोक्षः सकलकर्मविश्लेषलक्षणो जीवस्य स्यात् तस्यैवा-नंतर१ सुखहेतुत्वेन योगिभिः प्रार्थनीयत्वात् । गुरुराह—

बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥२६॥

टीका—मम इत्यव्ययं ममेदं इत्यभिनिवेशार्थं अव्ययानां तेन अनेकार्थत्वात् सममो ममेदं इत्यभिनिवेशाविष्टो ऽहमस्येत्यभिनिवेशाविष्टश्चोपलक्षणत्वात् जीवः कर्मभिर्बध्यते । तथा चोक्तम्—

'न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा,
न चापि करणानि वा न चिदचिद्वधो बंधकृत् ।'
यदैक्यमुपयोगभूसमुपयाति रागादिभिः ।
स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्नृणाम् ॥

तथा स एव जीवो निर्ममस्तद्विपरीतस्तैर्मुच्यत इति यथासंख्येन योजनार्थं क्रमादित्युपात्तं । उक्तं च [ज्ञानार्णवे]—

१. अनन्तर पाठः ।

"अकिञ्चनोऽहमित्यास्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः ।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः ॥"

अथवा "रागी बध्नाति कर्माणि वीतरागो१ विमुंचति ।
जीवो जिनोपदेशोऽयं संक्षेपाद्बन्धमोक्षयोः ॥"

यस्मादेवं तस्मात्सर्वप्रयत्नेन व्रताद्यवधानेन मनोवाक्कायप्रणिधानेन वा निर्ममत्वं विचिन्तयेत्—

"मत्तः कायादयोऽभिन्नास्तेभ्योऽहमपि तत्त्वतः ।
नाऽहमेषां किमप्यस्मि ममाप्येते न किञ्चन ॥"

इत्यादि श्रुतज्ञानभावनया मुमुक्षुर्विशेषेण भावयेत् । उक्तं च—

'निवृत्ति२ भावयेद्यावन्निवृ'त्ति३ तदभावतः ।
न वृत्तिर्न निवृत्तिश्च तदेव पदमव्ययम् ॥'

कथं नु तदिति ?—अथाह शिष्य. निर्ममत्वविचिंतनोपायप्रश्नोऽयं । अथ गुरुस्तत्प्रक्रियां मम विज्ञस्य का स्पृहेति यावदुपदिशति—

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः ।
बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ॥२७॥

टीका—द्रव्यार्थिकनया [देशा] देकः पूर्वापरपर्यायानुस्यूतो **निर्ममः**-ममेदमहमस्येत्यभिनिवेशशून्यः **शुद्धः** शुद्धनयादेशाद्द्रव्यभावकर्मनिर्मुक्तो **ज्ञानी** स्व-पर-प्रकाशनस्वभावो **योगीन्द्रगोचरः** ऽनंतपर्यायविशिष्टतया केवलिनां शुद्धोपयोगमात्रमयत्वेन श्रुतकेवलिनां च संवेद्यः अहं आत्मा अस्मि ये तु **संयोगजाः** संयोगात् द्रव्यकर्मसम्बंधाज्जाता मया सह सम्बन्धं प्राप्ता **भावाः** देहादयोस्ते **सर्वेऽपि मत्तः** मत्सकाशात् **सर्वथा** सर्वेण द्रव्यादिप्रकारेण **बाह्या** भिन्न संति ॥२७

संयोगात्किमिति संयोगात्—पुनर्भावुक एवं विमृशति देहादिभि. संबंधात् देहिनां किं फलं स्यादित्यर्थः । तत्र स्वयमेव समाधत्ते—

दुःखसन्दोहभागित्वं संयोगादिह देहिनाम् ।
त्यजाम्येनं ततः सर्वं मनोवाक्कायकर्मभिः ॥२८॥

टीका—**दुःख संदोह भागित्वं** दुःखानां संदोहः समूहस्तद्भागित्वं **देहिनां** इह

---

१. वीतरागी इति पाठः । २. निवृत्ति पाठः । ३. निर्वृ'तिं इति वा पाठः ।

संसारे संयोगात् देहादिसंबंधाद्भवेत् । यतश्चैवं तत एनं संयोगं सर्वं निःशेषं त्यजामि । कैः क्रियमाणं ? **मनोवाक्कायकर्मभिः** मनोवर्गणाद्यालम्बनैरात्मप्रदेश-परिस्पंदैस्तैरेव त्यजामि । अयमभिप्रायो—मनोवाक्कायान्प्रति परिस्पन्दमानात्म-प्रदेशान् भावतो **निरुणध्मिः** । तद्भेदाऽभेदाभ्यासमूलत्वात्सुखदुःखैकफलनिवृत्ति-संसृत्योः तथाचोक्तं [समाधितन्त्रे]—

"स्वबुद्धया यत्तु गृह्णीयात्कायवाक्चेतसां त्रयम् ।
संसारस्तावदेतेषां तदाभ्यासेन निर्वृतिः ॥६२॥"

पुद्गलेन किल संयोगस्तदपेक्षा मरणादयस्तद् व्यथाः कथं परिह्रियंत ? इति—पुनः स एवं विस्मृशति पुद्गलेन देहात्मना मूर्तद्रव्येण सह किल आगमे श्रूयमाणः **संयोगः** जीवस्य संबन्धोऽस्ति तदपेक्षाश्च पुद्गलसंयोगनिमित्त-[काः ?] जीवस्य मरणादयो मृत्युरोगादयः । तद्व्यथा मरणादि सम्बन्धिन्यो बाधाः सम्भवन्ति कथं ? केन भावनाप्रकारेण मया परिह्रियंते । तदभिभवः कथं निवार्यत इत्यर्थः । स्वयमेव समाधत्ते—

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा ।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले ॥२९॥

टीका—मे एकोहं* इत्यादिना निश्चितात्मस्वरूपस्य [मम] **मृत्युः** प्राणत्यागः न नास्ति । चिच्छक्तिलक्षणभावप्राणानां कदाचिदपि त्यागाभावात् यतश्च मे मरणं नास्ति ततः कुतः कस्मात्मरणकारणात्कृष्णसर्पादेर्भीति भयं मम स्यात् न कुत-श्चिदपि बिभेमीत्यर्थः । तथा व्याधिर्वातादिदोषवैषम्यं मम नास्ति मूर्त्तसम्बंधि-त्वाद्वातादीनां । यतश्चैवं ततः कस्मात् ज्वरादिविकारात् मम व्यथा स्यात् तथा **[नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवा]** बालाद्यवस्थोऽहं नास्मि, ततः कथं बाला-द्यवस्थाप्रभवैः दुःखैरभिभूयेयं अहमिति सामर्थ्यादत्र❀ दृष्टव्यं । तर्हि क्व मृत्यु-प्रभृतीनि स्युरित्याह—एतानिमृत्युव्याधिबाल्यादीनि पुद्गले मूर्त्ते देहादावेव सम्भवन्ति मूर्तिधर्मत्वादमूर्ते मयि तेषां नितरामसंभवात् । भूयोऽपि भावुक एव स्वयमाशंकते—

---

* एगोहं सस्सदो आदा णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोग लक्खणा ॥ ❀बाला इति पाठः ।

तर्हि तान्यासाद्य मुक्तानि पश्चात्तापकारीणि भविष्यंति इति तन्नेति—यद्युक्तरीत्या भयादयो मे न भवेयुस्तर्हि एतानि देहादि वस्तूनि आसाद्य जन्मप्रभृत्यात्मात्मीयभावेन प्रतिपद्य मुक्तानि इदानीं भेदभावनावष्टंभान्मया त्यक्तानि । चिराभ्यस्ताभेदसंस्कारवशात्पश्चात्तापकारीणि किमिति इमानि मयाऽऽत्मीयानि त्यक्तानीति अनुशयकारीणि मम भविष्यंति ।

अत्र स्वयमेव प्रतिषेधमनुध्यायति **तन्नेति यतः**—

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः ।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा ? ॥३०॥

टीका—**मोहात्** अविद्यावेशवशात् अनादिकालं कर्मादिभावेनोपादाय, सर्वेऽपि पुद्गलाः **मया** संसारिणा जीवेन वारंवारं **भुक्तोज्झिता** पूर्वमनुभूताः पश्चाच्च नीरसीकृत्य त्यक्ता; यतश्चैवं तत **उच्छिष्टेष्विव** स्वयं भुक्त्वा त्यक्तेषु भोजन-गंधमाल्यादिषु यथा लोकस्य तथा मम मे संप्रति **विज्ञस्य** तत्त्वज्ञानपरिणतस्य तेषु फेलाकल्पेषु पुद्गलेषु का **स्पृहा** ? न काचिदपि । वत्स ! त्वया मोक्षार्थिना निर्ममत्वं विचिंतनीयम् ॥३०॥

अथ कथं ते निबध्यंत इति—अत्राह शिष्यः । अथेति प्रश्ने कथं केन प्रकारेण ते पुद्गला जीवेन नियतमुपादीयन्त इत्यर्थः गुरुराह—

कर्म कर्महिताऽऽबन्धि जीवो जीवहितस्पृहः ।
स्व-स्व-प्रभाव-भूयस्त्वे स्वार्थं को वा न वांछति ॥३१॥

टीका—"कत्थवि बलिओ जीवो कत्थवि कम्माइं हुंति बलियाइं ।
जीवस्स य कम्मस्स य पुव्वविरुद्धाइं वइराइं ॥"

इत्यभिधानात् पूर्वोपार्जितं बलवत्**कर्महिताऽऽबन्धि** कर्मणः स्वस्यैव हितमाबध्नाति जीवस्यौदयिकादिभावमुद्भाव्य नवनवकर्माधायकत्वेन स्वसंतानं पुष्णातीत्यर्थः । तथाचोक्तं [पुरुषार्थसिद्ध्युपाये]—

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥१२॥
परिणममानस्य चिदश्चिदात्मकैः स्वमपि स्वकैर्भावैः ।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥१३॥

तथा जीवः कालादिलब्ध्या बलवानात्मा **जीवहितस्पृहः** जीवस्यैव हितमनंत-सुखहेतुत्वेनोपकारकं मोक्षमाकांक्षति । अत्र दृष्टान्तमाह—**स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे** निजनिजमाहात्म्यबहुतरत्वे सति **स्वार्थं** स्वस्योपकारकं वस्तु **को वा न वांछति ?** सर्वोऽप्यभिलषतीत्यर्थः, ततो विद्धि कर्माविष्टो जीवः कर्मसंचिनोति इत्यर्थः ॥३१॥

यतश्चैवं ततः—

परोपकार* मुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव ।
उपकुर्वन्परस्याज्ञो दृश्यमानस्य लोकवत् ॥३२॥

टीका—**परोपकारं** परस्य कर्मणो देहादेर्वा अविद्यावशात् क्रियमाणमुपकारं **उत्सृज्य** विद्याभ्यासेन त्यक्त्वा **स्वोकारपरः** आत्मानुग्रहप्रधानो भव त्वम् । किं कुर्वन सन् ? **उपकुर्वन्** ! कस्य, परस्य सर्वथा स्वस्माद्बाह्यस्य दृश्यमानस्य इति इन्द्रियैरनुभूयमानस्य देहादेः । किं विशिष्टः यतस्त्वं अज्ञस्तत्त्वानभिज्ञः किंवत् लोकवत् । यथा लोकः परं परत्वेनाऽजानंतस्योपकुर्वन्नपि तं तत्त्वेन ज्ञात्वा तदुपकारं त्यक्त्वा स्वोपकारपरो भवति एवं त्वमपि भव इत्यर्थः ॥३२॥

अथाह शिष्यः,—**कथं तयोर्विशेष इति—केनोपायेन तयो** स्वपरयोः भेदः विशेषः विज्ञायते । तद्धि (द्वि) ज्ञातुश्च किं स्यादित्यर्थः । गुरुराह—

गुरुपदेशादभ्यासात्संवित्तेः स्व-परांतरं ।
जानाति यः स जानाति मोक्षसौख्यं निरन्तरम् ॥३३॥

टीका—यो **जानाति** । किं तत् **स्वपरांतरं** आत्म-परयोर्भेदं यः स्वात्मानं परस्माद्भिन्नं पश्यतीत्यर्थः । कुतः **संवित्तेः** लक्षणतः स्वलक्ष्यानुभवात् । एषोऽपि कुतः ? **अभ्यासात्** अभ्यासभावनातः । एषोऽपि कुतः ? **गुरूपदेशात्** धर्माचार्यस्यात्मनश्च सुदृढ स्व-पर-विवेकज्ञानोत्पादकवाक्यात् स तथान्यापोढस्वात्मानुभविता **मोक्षसौख्यं निरन्तरम**विछिन्नमनुभवति । कर्मविविक्तानुभाव्यविनाभावित्वात्तस्य । तथाचोक्तं [तत्वानुशासने]—

'तमेवानुभवंश्चायमैकाग्र्यं परमृच्छति ।
तथात्माधीनमानंदमेति वाचामगोचरम् ॥१७०॥' इत्यादि

---

* परोपकृति इति पाठः ।

कस्तत्र गुरुरिति—अथ शिष्यः पृच्छति। तत्र मोक्षसुखानुभवविषये को गुरुरिति गुरुराह—

स्वस्मिन्सदाभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः।
स्वयं हित [तं] प्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः ॥३४॥

टीका—यः खलु शिष्यः **सदा अभीक्ष्णं** कल्याणमभिलषति तेन जिज्ञास्यमानं तदुपायं तं ज्ञापयति तत्र चाप्रवर्त्तमानं तं प्रवर्त्तयति स किल गुरुः प्रसिद्धः। एवं च सत्यात्मनः **आत्मैव** गुरुः स्यात्। कुत इत्याह—स्वयमात्मना **स्वस्मिन-**मोक्षसुखाभिलाषिण्यात्मनि **सदाभिलाषित्वात्** सत् प्रशस्तं मोक्षसुखं सदाभिलाषित्वात् इति वा पाठः सदा अभीक्ष्णमभिलषति मोक्षसुखं मे संपद्यतामित्याकांक्षती त्येवंभ्रमात्। तथा अभीष्ट **ज्ञापकत्वतः**, अभीष्टस्यात्मना जिज्ञास्यमानस्य मोक्षसुखोपायस्यात्मविषये ज्ञापकत्वात् एष मोक्षसुखोपायो मया सेव्य इति बोधकत्वात्। तथा स्वयं प्रयोक्तृत्वात् हितं मोक्षसुखोपाये स्वयं स्वस्य प्रयोक्तृत्वात्। अस्मिन् सुदुर्लभे मोक्षसुखोपाये दुरात्मन् आत्मन्! स्वयमद्यापि न प्रवृत्तः इति। तत्राप्रवर्तमानस्यात्मनः प्रवर्त्तकत्वात् ॥३४॥

एवं नान्योपास्तिः प्राप्नोतीति—न चैव मेतदिति। अथ शिष्यः साक्षेपमाह भगवन्नुक्तनी(री)त्या परस्परगुरुत्वे निश्चिते सति न धर्माचार्यादिसेवनं प्राप्नोति मुमुक्षु इति। मुमुक्षुणा धर्माचार्यादिः सेव्यो न भवतीति भावः। **न चैवमेतादि।त** वाच्यमपसिद्धांत प्रसंगादिति वदन्तं प्रत्याह—

नाऽज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाऽज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥३५॥

टीका—भद्र! अज्ञः यः तत्त्वज्ञानोत्पत्त्ययोग्यो-भव्यादि१ सविज्ञत्वं तत्त्वज्ञत्वं धर्माचार्याद्युपदेशसहस्रेणापि न गच्छति। तथा चोक्तम्—

'स्वाभाविकं हि निष्पत्तौ क्रिया गुणमपेक्ष्यते।
न व्यापारशतेनाऽपि शुकवत्पाठ्यते बकः ॥

तथा विज्ञः तत्त्वज्ञानपरिणतः अज्ञत्वं तत्त्वज्ञानात्परिभ्रंशं न ऋच्छति अपाय२ सहस्रेणापि न गच्छति। तयाचोक्तम्—[पद्मनंदि पंचविंशतिकायां]

---

१. 'अपेक्ष्येत' पाठः। २. उपाय इति पाठः।

'वज्रे पतत्यपि भयद्रुतविश्वलोके,
मुक्ताध्वनि प्रशमिनो न चलंति योगात्;
बोध - प्रदीप - हृत - मोहमहांधकाराः,
सम्यग्दृशः किमुत शेषपरीषहेषु ॥'

नन्वेवं बाह्यनिमित्तक्षेपः प्राप्नोतीत्यत्राह अन्यः पुनर्गुरुविपक्षादिः प्रकृतार्थसमुत्पादभ्रंशयोर्निमित्तमात्रं स्यात्तत्र योग्यताया एव साक्षात्साधकत्वात् ।

कस्याः को यथेत्यत्राह गते **धर्मास्तिकाय कायवत** इत्यादि । **अयमर्थः** यथा युगपद्भाविगतिपरिणामोन्मुखानां भावानां स्वकीया गतिशक्तिरेव गतेः साक्षाज्जनिका तद्वैकल्ये तस्याः केनापि कर्त्तुमशक्यत्वात् । धर्मास्तिकायस्तु गत्युपग्राहकद्रव्यविशेषस्तस्याः सहकारिकारणमात्रं स्यात्, एवं प्रकृतेऽपि, **अतो** व्यवहारादेव गुर्वादेः शुश्रूषा प्रतिपत्तव्या ॥३५॥

अभ्यासः कथमिति ?—अथाह शिष्यः अभ्यासः कथ्यत इति **क्वचित्पाठः** अभ्यासप्रयोगोपायप्रश्नोऽयं । तत्राभ्यासः स्यात् भूयोभूयः प्रवृत्तिलक्षणत्वेन सुप्रसिद्धत्वात् । कथ्यते तस्य स्थाननियमादिरूपेणोपदेशः क्रियत इत्यर्थः । एवं संवित्तिरिति । उच्यते इति संवित्तिरुच्यत इत्युत्तरपातनिकाया अपि व्याख्यानमेतत्पाठापेक्षया द्रष्टव्यम् । तथा च—

गुरोरेवंते वाक्ये व्याख्येये—शिष्यबोधार्थं गुरुराह;—

अभवच्चित्तविक्षेप एकांते तत्त्वसंस्थितिः ।
अभ्यस्येदभियोगेन योगी तत्त्वं निजात्मनः ॥३६॥

टीका—अभ्यस्येत् भावयेत् कोसौ, ? योगी संयमी । किं ? तत्त्वं याथात्म्यं । कस्य ? निजात्मनः । केन ? अभियोगेन आलस्यनिद्रादिनिरासेन ? क्व ? **एकांते** योग्यशून्यगृहादौ । किं विशिष्टःसन् —? अभवन्नजायमानश्चित्तस्य मनसो **विक्षेपो** रागादिसंक्षोभो यस्य सोऽयं इत्थंभूतः सन् । किंभूतो भूत्वा ? तथाभूतः इत्याह । **तत्त्वसंस्थितः** तत्त्वे हेये उपादेये च संस्थितः गुरुपदेशान्निश्चलधीः यदि वा तत्त्वेन साध्ये वस्तुनि सम्यक् स्थितो यथोक्तकायोत्सर्गादिना व्यवस्थितः ॥३६॥

संवित्तिरिति ! उच्यते इति ।

अभ्यासः **कथमित्यनुवर्त्य** नायमर्थः ते संयम्यते । अथाह शिष्यः भगवन् ! उक्तलणासंवित्तिः प्रवर्तमाना **कथं**—केनोपायेन योगिनो विज्ञायते कथं च प्रतिक्षणं प्रकर्षमापद्यते ? अत्राचार्यो वक्ति । धीमन् आकर्णय उच्यते वर्ण्यते तल्लिंगं तावन्मया इत्यर्थः ।

यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ।
तथा तथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि ॥३७॥

टीका—येन येन प्रकारेण संवित्तौ उत्तमं विशुद्धं **आत्मस्वरूपं समायाति** सांमुख्येनाऽऽगच्छति योगिनः **तथा तथा** [तेन तेन प्रकारेण] **सुलभा अपि** अनायास लभ्या अपि **विषया** रम्येंद्रियार्था **न रोचन्ते** तत्त्वं भोग्यबुद्धिं नोत्पादयन्ति । महासुखलब्धावल्पसुखकारणानां लोकेऽप्यनादरणीयत्वदर्शनात् । तथाचोक्तम्—

"शमसुखशीलितमनसामशनपि द्वेषमेति किमु कामाः ।
स्थलमपि दहति झषाणां किमङ्ग पुनरङ्गमङ्गारः ॥१॥"

अतो विषयारुचिरेव योगिनः स्वात्मसंवित्तेर्गमिका तदभावे तदभावात् प्रकृष्यमाणायां च विषयारुचौ स्वात्मसंवित्तिः प्रकृष्यते । तद्यथा—

यथा यथा न रोचंते विषयाः सुलभा अपि ।
तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ॥३८॥

टीका —अत्रापि पूर्ववद् व्याख्यानम् तथा चोक्तम् [समयसारकलशायां]—

"विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन,
स्वयमपि निभृतः सन्पश्य षण्मासमेकं ।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो,
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किंचोपलब्धिः ॥"

प्रकृष्यमाणायां च स्वात्मसंवित्तौ यानि चिह्नानि स्युस्तान्याकर्णय । यथा—

निशामयति निःशेषमिन्द्रजालोपमं जगत् ।
स्पृहयत्यात्मलाभाय गत्वाऽन्यत्राऽनुतप्यते ॥३९॥

टीका—योगी इत्यंतदीपकत्वात्सर्वत्र योज्यः । स्वात्मसंवित्तिरसिको ध्याता [**निःशेषं**] चराचरं बहिर्वस्तुजातं अवश्योपेक्षणीयतया हानोपादानबुद्धिविषयत्वात् **इन्द्रजालोपमं** इन्द्रजालिकोपदर्शितसर्पहारादिपदार्थसार्थसदृशं **निशामयति** पश्यति । तथा **आत्मलाभाय स्पृहयति**, चिदानंदस्वरूपमात्मानं संवेदयितुमिच्छति । तथा **अन्यत्र** स्वात्मव्यतिरिक्ते यत्र क्वापि वस्तुनि पूर्वसंस्कारादिवशात्मनोवाक्कायैर्गत्वा व्यापृत्य **अनुतप्यते** स्वयमेव आः कथं मयेद मनात्मनीनमनुष्ठितं इति पश्चातापं करोति ॥३९॥ तथा :—

इच्छत्येकांतसंवासं निर्जनं जनिताऽदरः ।
निजकार्यवशात्किञ्चिदुक्त्वा विस्मरति द्रुतम् ॥४०॥

टीका—[**एकान्त संवासं**] एकांते स्वभावतो निर्जने गिरिगहन(गुहा) दौ संवासं गुर्वादिभिः सहाऽवस्थानं **इच्छति** अभिलषति । किं विशिष्टः सन् ? **जनितादरः** जनमनोरंजनचमत्कारिमंत्रादिप्रयोगवार्त्तानिवृतौ कृतप्रयत्नः । कस्मै ? **निर्जनं** जनाभावाय स्वार्थवशाल्लाभाऽलाभादि प्रश्नार्थं लोकमुपसर्प्यंतं निषेधमित्यर्थः । ध्यानाद्धि लोकचमत्कारिणः प्रत्ययः स्युः । तथाचोक्तम्, [तत्त्वानुशासने]—

"गुरूपदेशमासाद्य समभ्यस्यन्ननारतम् ।
धारणासौष्ठवाद् ध्यानप्रत्ययानपि पश्यति ॥८७॥

तथा **निजकार्यवशात्** स्वावश्यकरणीयभोजनादि पारतंत्र्यात् **किञ्चित्** अल्पं असमग्रं श्रावकादिकं प्रति अहो इति अहो इदमिति अहो इदं कुरु इत्यादि **उक्त्वा** भाषित्वा **द्रुतं** तत्क्षण एव **विस्मरति** । भगवन् ! किमादिश्यते इति श्रावकादौ पृच्छति सति न किमप्युत्तरं ददाति ॥४०॥ तथा :—

ब्रुवन्नपि हि न ब्रुते गच्छन्नपि न गच्छति ।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु पश्यन्नपि न पश्यति ॥४१॥

टीका—स्थिरीकृतात्मतत्त्वः दृढप्रतीतिगोचरीकृतस्वरूपो योगी, संस्कार-वशात् परोपरोधेन ब्रुवन्नपि धर्मादिकं भाषमाणोऽपि न केवलं योगेन तिष्ठति [इति] ह्यपि शब्दार्थः। न ब्रूते हि न भाषत एव। तत्राभिमुख्याभावात्। उक्तं च [समाधितंत्रे]—

"आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।
कुर्यादर्थवशात्किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥५०॥

तथा **गच्छन्नपि न गच्छति** भोजनार्थं व्रजन्नपि न व्रजत्येव। तथा **पश्यन्नपि न पश्यति** सिद्धप्रतिमादिकमवलोकयन्नपि नाऽवलोकयत्येव। तु रेवार्थः।

तथा :—

किमिदं कीदृशं कस्य कस्मात्क्वेत्यविशेषयन्।
स्वदेहमपि नाऽवैति योगी योगपरायणः ॥४२॥

टीका—**इदं** अध्यात्मं अनुभूयमानं तत्त्वं किं किं रूपं **कीदृशं** केन सदृशं **कस्य** स्वामिकं **कस्मात्** कस्य सकाशात् **क्व** कस्मिन्नस्ति इति **अविशेषयन्** अविकल्पयन्सन् **योगपरायणः** समरसीभावमापन्नो **योगी स्वदेहमपि न अवैति** न चेतयति का कथा हिताहितदेहातिरिक्त चेतनायाः। तथा चोक्तम् [तत्त्वानुशासने]—

"तदा च परमैकाग्र्याद्बहिरर्थेषु सत्स्वपि।
अन्यन्न किञ्चनाऽऽभाति स्वमेवाऽऽत्मनि पश्यतः ॥१७२॥"

कथमेतदिति ? अत्राह शिष्यः—निबोध भगवन्! विस्मयो मे **कथमेतत्** अवस्थान्तरं संभवति इति गुरुराह—**धीमान्! निबोध**—

यो यत्र निवसन्नास्ते स तत्र कुरुते रतिं।
यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र स न गच्छति ॥४३॥

टीका—**यो** जनः **यत्र** नगरादौ स्वार्थे [**निवसन् सन्**] सिद्धयङ्गत्वेन बद्धनिर्बन्धवास्तव्यो भवन् **आस्ते** तिष्ठति **स तस्मिन् रतिं कुरुते** अन्यस्मान्निवृत्तचित्त्वात् निर्वृतिं लभते। तथा यश्च **यत्र रमते** निर्वाति स **तस्मादन्यत्र न**

गच्छति ततोऽन्यत्र न याति इति न प्रसिद्धं प्रतीतं। अतः प्रतीहि योगिनोऽध्यात्मं निवसतोऽननुभूताऽपूर्वानंदाऽनुभवादन्यत्र वृत्त्यभावः स्यादिति ॥४३॥

अन्यत्राऽप्रवर्त्तमानश्चेदृक् स्यात्—

अगच्छंस्तद्विशेषाणामनभिज्ञश्च जायते ।
अज्ञाततद्विशेषस्तु बद्धयेते न विमुच्यते ॥४४॥

टीका—स्वात्मतत्त्वनिष्ठोऽन्यत्र **अगच्छन्** अप्रवर्तमानः **तद्विषेणां** तस्य स्वात्मनोऽन्यस्य देहादेर्**विशेषाणां** सौंदर्यासौंदर्यादिधर्माणां **अनभिज्ञश्च** आभिमुख्येनाऽप्रतिपत्ता च **जायते**-भवति । तु पुनः **अज्ञाततद्विशेषः** तत्राऽज्ञा(ज्ञा)यमानरागद्वेषत्वात् कर्मभिः न **बध्यते** । किं तर्हि विमुच्यते विशेषेण व्रताद्यनुष्ठातृभ्योऽतिरेकेण तैर्मुच्यते ॥४४॥

किं च—

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखम् ।
अतएव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः ॥४५॥

टीका—परो देहादिरर्थः पर एव, कथंचिदपि तस्याऽऽत्मीकर्त्तुमशक्यत्वात् यतश्चैवं ततस्तस्मादात्मन्यारोप्यमाणाद् दुःखमेव स्यात् तद्वारत्वाद् **दुःख**-निमित्तानां प्रवृत्तेः । तथा **आत्मा आत्मैव** स्यात् तस्य कदाचिदपि देहादिरूपत्वाऽनुपादानात् । यतश्चैवं **ततः** तस्मात् सुखं स्यादुःखनिमित्तनां तस्याविषयत्वात् । यतश्चैवं, अतएव **महात्मानस्तीर्थकरादयः तन्निमित्तं** आत्मार्थं **कृतोद्यमाः** विहिततपानुष्ठानाभियोगाः सञ्जाताः ।

अथ परद्रव्यानुरागे दोषं दर्शयति :—

अविद्वान्पुद्गलद्रव्यं योऽभिनन्दति तस्य तत् ।
न जातु जन्तोः सामीप्यं चतुर्गतिषु मुञ्चति ॥४६॥

टीका—यः पुनरविद्वान् हेयोपादेयतत्त्वानभिज्ञः **पुद्गलद्रव्यं** देहादिकमभिनंदति श्रद्धत्ते आत्मात्मीयभावेन प्रतिपद्यते तस्य जन्तोः जीवस्य तत् पुद्गलद्रव्यं **चतुर्गतिषु** चतसृषु नारकादिगतिषु सामीप्यं प्रत्यासत्ति संयोगसंबंधं **जातु** कदाचिदपि न **मुञ्चति** त्यजति ॥४६॥

किं स्वरूप परस्य किं भवति ?

अथाह शिष्यः **स्वरूपपरस्य किं भवतीति**—सुगमम् गुरुराह—

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिः स्थितेः ।
जायते परमानन्दः कश्चिद् योगेन योगिनः ॥४७॥

टीका—**आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य** आत्मनोऽनुष्ठानं देहादेर्व्यावर्त्य स्वात्मन्येवावस्थापनं तत्र **निष्ठस्य** तत्परस्य **व्यवहारबहिःस्थितेः** व्यवहारात्प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणाद्बहिःस्थितेः बाह्यस्य **योगिनः** ध्यातुर्**योगेन** स्वात्मध्यानेन हेतुना **कश्चिद्** वाचामगोचरः **परमानन्दः** परमोऽनन्यसंभवी आनन्दः उत्पद्यते ॥४७॥

तत्कार्यमुच्यते—

आनन्दो निर्दहत्युद्धं कर्मेन्धन[१]मनारतम् ।
न चाऽसौ खिद्यते योगी बहिर्दुःखेष्वचेतनः ॥४८॥

टीका—स पुनरा**नन्दः** उद्धं प्रभूतं **कर्मेन्धनं अनारतं** सन्ततं (कर्मसंततिं) निर्दहति । वह्निरिंधनं यथा । किं च असौ आनन्दाविष्टो **योगी बहिर्दुःखेषु** परीषहोपसर्गक्लेशेषु **अचेतनः** असंवेदनः स्यात् तत एव न खिद्यते न संक्लेशं याति ।४८

यस्मादेवं तस्मात्—

अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत् ।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद्द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः ॥४९॥

टीका—तत् आनंदस्वभावं **ज्ञानमयं** स्वार्थविभाषात्मकं **परं** उत्कृष्ट **अविद्याभिदुरं** विभ्रमच्छेदकं महत् विपुलं इन्द्रादीनां पूज्यं वा **ज्योतिः प्रष्टव्यंमुमुक्षुभिः**र्गुर्वादिभ्योऽनुयोक्तव्यं । तथा तदेव **एष्टव्यं** अभिलषणीयं, तदेव च **द्रष्टव्यमनुभवनीयं** ॥४९॥

किं बहुनेति ?

---

१. कर्मेन्धनमनारतं सन्तटं इत्यस्य स्थाने कर्म सन्तति इत्येव पाठः मु० ।

एवं व्युत्पाद्यं विस्तरतो व्युत्पाद्य उक्तार्थतत्त्वं परमकरुणया संगृह्य तन्मनसि संस्थापयितुकामः सूरिरिदमाह—

हे सुमते ! किं कार्यं बहुनोक्तेन हेयोपादेयतत्त्वयोः संक्षेपेणापि प्राज्ञचेतसि निवेषयितुं शक्यत्वात् इति भावः ।

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसङ्ग्रहः ।
यदन्यदुच्यते किञ्चित्सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः ॥५०॥

टीका— **जीवो अन्यः** देहादेर्भिन्नः **पुद्गलश्च** देहादिश्च अन्यः जीवाद्भिन्नः इति इत्यानेव असौ विधीयते **तत्त्व संग्रहः** आत्मनस्तत्त्वस्य भूतार्थस्य संग्रहः सामस्त्येन ग्रहणं निर्णयः स्यात् । यतः पुनः इतस्तत्त्वसंग्रहात् अन्यत् अतिरिक्त किंचित् तद्भेदप्रभेदादिकं विस्तररुचिशिष्यापेक्षयाऽऽचार्यैः उच्यते । स **तस्यैव** विस्तरो व्यासः अस्तु तमपि वयमभिनंदामः इति भावः ॥५०॥

आचार्य. शास्त्राध्ययनस्य साक्षात्पारम्पर्येण च फलं प्रतिपादयति :—

इष्टोपदेशमिति सम्यगधीत्य धीमान्,
मानापमानसमतां स्वमताद् वितन्य ।
मुक्ताग्रहो विनिवसन्सजने वने वा।
मुक्तिश्रियं निरुपमामुपयाति भव्यः ॥५१॥

टीका—इत्यनेन प्रकारेण **इष्टोपदेशं**, इष्टं सुखं तत्कारणत्वान्मोक्षस्तदु-पायत्वाच्च स्वात्मध्यानं उपदिश्यते-यथावत्प्रतिपाद्यते अनेनास्मिन्निति वा 'इष्टोपदेशो' नाम ग्रन्थस्तं सम्यग् व्यवहारनिश्चयाभ्या अधीत्य पठित्वा चिंत-यित्वा च **धीमान्** हिताहितपरीक्षादक्षो भव्योऽनन्तज्ञानाद्याविर्भावयोग्यो जीव. **मुक्तिश्रियं** अनंतज्ञानादिसम्पदं **निरुपमां** अनौपम्यां [उपयाति] प्राप्नोति । किं कुर्वन् ? **मुक्ताग्रहः** वर्जितबहिरर्थाभिनिवेशः सन् **सजने** ग्रामादौ **वने** ऽरण्येवा **विनिवसन्** विधिपूर्वकं तिष्ठन् । किं कृत्वा ? **वितन्य** विशेषेण विस्तार्य । का ? **मानोऽपमानसमतां** माने महत्वाधाने अपमाने च महत्वखण्डने समतां रागद्वेषयोर-भावं । कस्मद्धेतोः ? स्वमतात् इष्टोपदेशाध्ययनचिंतनजनितात् आत्मज्ञानात् । उक्तं च [समाधितन्त्रे]—

"यदा मोहात्प्रजायेते राग-द्वेषौ तपस्विनः ।
तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं साम्यतः क्षणात् ।।" इति श्रेयः ।

[इति इष्टोपदेश टीका]

टीका कर्तुः प्रशस्तिः

विनेयेन्दुमुनेर्वाक्याद्भव्यानुग्रहहेतुना ।
इष्टोपदेशटीकेयं कृताशाधरधीमता ।।१।।

उपशम इव मूर्तः सागरेन्दोर्मुनीन्द्रा,
दजनि विनयचंद्रः सच्चकोरैकचन्द्रः ।
जगदमृतसगर्भाः शास्त्रसंदर्भगर्भाः,
शुचिचरित-वरिष्णोर्यस्य धिन्वन्ति वाचः ।।२।।

जयंति जगतीवन्द्या श्रीमन्नेमिजिनाङ्घ्रयः ।
रेणवोऽपि शिरोराज्ञामारोहंति यदाश्रिताः ।।३।।

इति श्रीपूज्यपादस्वामिविरचितः इष्टोपदेशः समाप्ताः ।।

समाधितन्त्रपद्यानुक्रमसूची

इष्टोपदेशपद्यानुक्रम-सूची

—:०:—

वीर-सेवा-मन्दिर के अन्य प्रकाशन

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थों में उद्धृत दूसरे प्राकृत पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संयोजक और सम्पादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की १७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द ... ... १५)

पुरातन जैनवाक्य-सूची-प्रस्तावना। मूल्य ५)

(२) आप्त परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर, सरस और सजीव विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद तथा प्रस्तावनादि से युक्त, सजिल्द। ८)

(३) न्यायदीपिका—न्याय विद्या का सुन्दर ग्रन्थ, न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जी के संस्कृत टिप्पण, हिन्दी अनुवाद, विस्तृत प्रस्तावना और अनेक उपयोगी परिशिष्टों से अलंकृत। (अप्राप्य) सजिल्द ५)

(४) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के विशिष्ट हिन्दी अनुवाद, छन्दपरिचय, समन्तभद्र-परिचय और भक्तियोग, ज्ञानयोग तथा कर्मयोग का विश्लेषण करती हुई महत्व की गवेषणापूर्ण १०६ पृष्ठ की प्रस्तावना से सुशोभित। २)

(५) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १॥)

(६) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पंचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित और मुख्तार जुगलकिशोर की खोज पूर्ण ७८ पृष्ठ की विस्तृत प्रस्तावना से भूषित १॥)

(७) युक्त्यनुशासन—तत्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्री जुगलकिशोर के विशिष्ट हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... ... १॥)

(८) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, न्या० पं० दरबारीलाल के हिन्दी अनुवादादि सहित। ॥)

(९) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय)—मुनि मदनकीर्ति की १३वीं शताब्दी की सुन्दर रचना, न्या० पं० दरबारीलाल के हिन्दी-अनुवाद सहित। ... ... ॥)

(१०) सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ—श्रीवीर वर्द्धमान और उनके बाद २१ महान् आचार्यों के १३७ पुण्य स्मरणों का महत्वपूर्ण संग्रह, संयोजक मुख्तार जुगलकिशोर के हिन्दी अनुवादादि सहित। ॥)

(११) विवाह-समुद्देश्य—मुख्तार श्री जुगल किशोर का लिखा हुआ विवाह का सप्रमाण मार्मिक और तात्त्विक विवेचन। ॥)

(१२) अनेकान्त-रस-लहरी—अनेकान्त जैसे गूढ़ गम्भीर विषय को अतीव समझने-समझाने की कुंजी, मुख्तार जुगलकिशोर लिखित। ।)

(१३) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दी की महत्व की रचना, मुख्तार श्री जुगलकिशोर के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ।)

(१४) तत्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तार श्री जुगलकिशोर के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... ... ।)

(१५) बनारसी नाममाला—कविवर बनारसीदास की सुन्दर रचना, शब्द-कोश सहित। अप्राप्य ... ... ।)

(१६) उमास्वामी-श्रावकाचार-परीक्षा—मुख्तार जुगलकिशोर के द्वारा लिखि ग्रंथ-परीक्षाओं के इतिहास सहित। अप्राप्य ... ।)

(१७) समाधितन्त्र और इष्टोपदेश—श्रीपूज्यपादाचार्य-विरचित उत्तम आध्यात्मिक ग्रंथ संस्कृत टीकाओं और पं० परमानन्दजी शास्त्री के हिन्दी अनुवाद तथा मुख्तार जुगलकिशोरकी खोजपूर्ण प्रस्तावना सहित (इसके पहले दो संस्करण समाप्त हो चुके हैं) अब यह पुनः संशोधित तृतीय संस्करण तय्यार हुआ है। मूल्य ... ... ४)

(१८) प्रशस्ति संग्रह—यह ग्रन्थ १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की ग्रन्थ प्रशस्तियों को लिए हुए है। ये प्रशस्तियाँ हस्तलिखित ग्रन्थों पर नोटकर संशोधित कर प्रकाशित की गई हैं। पं० परमानन्द शास्त्री की खोजपूर्ण प्रस्तावना से अलंकृत है, जिसमें १०४ विद्वानों, आचार्यों और भट्टारकों तथा उनकी अप्रकाशित रचनाओं का परिचय दिया गया है। जो रिसर्च स्कॉलरों और इतिहास संशोधकों के लिए बहुत उपयोगी है। मूल्य ५)

(१९) अध्यात्म रहस्य—पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। ... ... मू० १)

(२०) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह—भा० २ अपभ्रंश भाषा के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोंका महत्त्वपूर्ण संग्रह। ५५ अपभ्रंश भाषा के ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और उपयोगी परिशिष्टों सहित। सं० पं० परमानन्द शास्त्री। बड़े आकार सजिल्द प्रति का मू० १२)

वीर-शासन-संघ के प्रकाशन

(२१) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ संख्या ७४० मूल्य सजिल्द ... ...५)

(२२) कसायपाहुड सुत्त—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं० हीरालाल जी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़ी साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। ... ... २०)

(२३) Reality आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृष्ठ पक्की जिल्द मू० ... ६)